M.A.

भारतीय ज्ञान-मीमांसा

(INDIAN EPISTEMOLOGY)

M.A. Philosophy
Paper-II
PHIL-102

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा-846008

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

लेखक एवं समन्वयक

डॉ. राजीव कुमार, दर्शनशास्त्र विभाग, सी. एम. कॉलेज, दरभंगा
Dr. Shambhu Prasad-Co-ordinator, DDE, LNMU, Darbhanga

प्रिय-छात्रगण

दूर शिक्षा ब्यूरो-विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली से मान्यता प्राप्त एवं संस्तुत एम. ए. (दूरस्थ माध्यम) पाठ्यक्रम के लिए हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। इस स्व-अधिगम पाठ्य सामग्री को सुलभ कराते हुए हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है कि छात्रगण के लिए यह सामग्री प्रामाणिक और उपादेय होगी। ''भारतीय ज्ञान-मीमांसा" (Indian Epistemology) नामक यह अध्ययन सामग्री अब आपके समक्ष है।

(प्रो. सरदार अरविन्द सिंह)
निदेशक

प्रकाशन वर्ष 2019

दूरस्थ पाठ्यक्रम सम्बन्धी सभी प्रकार की जानकारी हेतु दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ल. ना. मिथिला यूनिवर्सिटी, कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)-846008 से संपर्क किया जा सकता है। इस संस्करण का प्रकाशन निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ललित नारायण मिथिला यूनिवर्सिटी, दरभंगा हेतु मेसर्स लक्ष्मी पब्लिकेशंस प्रा. लि. दिल्ली द्वारा किया गया।

DLN-2644-177.00-INDIAN EPIST PHIL-102H
C—
Typeset at : Atharva Writers, Delhi
Printed at :

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा-846004 (बिहार)
फोन एवं फैक्स : 06272 - 246506, वेबसाईट : www.ddelnmu.ac.in, ई-मेल : dde@lnmu.ac.in

माननीय कुलपति
ल. ना. मि. विश्वविद्यालय

प्रिय विद्यार्थी
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय द्वारा विकसित तथा विभिन्न निकायों से अनुशंसित स्व-अधिगम सामग्री को सुलभ कराते हुए अतीव प्रसन्नता हो रही है। विश्वास है कि दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के माध्यम से उपाधि प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को बिना किसी बाह्य सहायता के विषय-वस्तु को ग्राह्य करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होगी। हम आशा करते हैं कि पाठ्य-सामग्री के रूप में यह पुस्तक आपके लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रो. (डॉ.) एस. के. सिंह
कुलपति

विषय-सूची

इकाई (Units) **(CONTENTS)** **पृष्ठ संख्या (Page No.)**

इकाई–1

भारतीय दर्शन एवं ज्ञान

नोट

संरचना (Structure)

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे :

- संचार के बारे में चर्चा करने में;
- संचार आदर्शों को जानेंगे;
- संचार की प्रक्रिया को समझेंगे;
- जन-कथन की शक्ति को समझेंगे;
- अच्छे भाषण की प्रस्तुति पर चर्चा करने में।

1.2 परिचय

यह कहा जाता है कि जब विज्ञान अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाता है तथा कुछ प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ होता है तो वहीं से दर्शन का आरम्भ माना जाता है। विज्ञान इन्द्रियजन्य अनुभवों को

ही ज्ञान मानता है। दर्शन एवं शिक्षा के सम्बन्ध को समझने के लिये यह आवश्यक है कि दर्शन के विभिन्न तत्वों का और शिक्षा के घटकों का ज्ञान होना चाहिए, तभी इनके संबंधों को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। रास महोदय ने इस संदर्भ में कहा है कि दर्शन और शिक्षा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दर्शन उसका सैद्धांतिक पक्ष है जबकि शिक्षा उसका व्यावहारिक है। दर्शन का सम्बन्ध केवल शिक्षा से ही नहीं अपितु धर्म, विज्ञान तथा नीतिशास्त्र से भी है। विज्ञान जहां समाप्त होता हैं वहां से दर्शन आरंभ होता है। प्रत्येक दर्शन मूल चार समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करता है यह समस्याएँ हैं-

i. तत्वमीमांसा - सत्य या वास्तविकता की खोज करना।
ii. ज्ञानमीमांसा- सत्य सम्बधी ज्ञान का स्वरूप।
iii. मूल्यमीमांसा- जीवन मूल्यों के चयन का मानदंड।
iv. तर्क -चिंतन- ज्ञान अर्जित करने का साधन है।

यह इकाई दर्शन की द्वितीय महत्वपूर्ण समस्या ज्ञानमीमांसा की है जिसे ज्ञान का सिद्धांत भी कहते हैं। दर्शन की इस शाखा में ज्ञान संबंधी समस्याओं का समाधान किया जाता है। इस इकाई के माध्यम से हम ये जानेंगे कि ज्ञान क्या है? ज्ञान के कौन कौन से स्रोत है? ज्ञान कितने प्रकार का है? ज्ञान संबन्धी सिद्धांत कौन से हैं? तथा सम्बन्ध समस्याएं क्या हैं? ज्ञानमीमांसा आगमन और निगमन तथा विश्लेषण विधियों का उपयोग करता है। ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में विभिन्न समस्याओं के विषय में दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न निष्कर्ष दिये हैं। प्लेटो के अनुसार ज्ञान के भंडार, दार्शनिक और अंतर्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति ही शिक्षक बनने के अधिकारी होते हैं।

1.3 दर्शनशास्त्र का परिचय

1.3.1 दर्शनशास्त्र का अर्थ

दर्शनशास्त्र को अंग्रेजी में 'Philosophy' कहते हैं। 'दर्शन' शब्द की उपत्पत्ति 'दृश्य' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'देखना'। अपने इन्द्रियों के द्वारा व्यक्ति सभी दिखाई देने वाली वस्तुओं को देख लेता है किन्तु अमूर्त विषयों के बारे में वह अपने तर्क और अंतदर्शन अथवा चिन्तन से ही देख पाता है । दर्शनशास्त्र को हम मीमांसात्मक या चिन्तनशील आदेशात्मक तथा समीक्षात्मक रूप में भी परिभाषित कर सकते हैं। अंग्रेजी का शब्द 'Philosophy' ग्रीक भाषा के दो शब्दों से निकला है - 'Philos' अर्थात प्रेम और sophia अर्थात ज्ञान। अतः दर्शन का मूल शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान के प्रति प्रेम'। दर्शन गंभीर और निष्पक्ष चिंतन पर बल देता है इसलिये यह तार्किक है। यह सत्य की खोज है और जीवन की क्षुद्र और छिछली बातों से ऊपर उठकर प्रकृति और अलौकिक तथा अमूर्त विषय की गहराई या वास्तविकता को जानने का प्रयास नहीं करता और पशु की भांति अपने मूल प्रवृत्तियों के आदेशानुसार व्यवहार करने लगता है। दर्शनशास्त्र का ज्ञान मनुष्य में विवेक जागृत करता है और वह सोचने और समझने लगता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित क्या मूल्य और क्या अमूल्य है, क्या सत्य है और क्या असत्य तथा समझ में उसे किस प्रकार रहना चाहिए जिससे कि उसका जीवन सामंजस्यपूर्ण, सुखद और गौरवशाली बना रहे। दर्शन निरंतर व्यक्ति में विचारों के द्वंद्व उत्पन्न कर उसमें निर्णय शक्ति को प्रोत्साहित करता है।

1.3.2 दर्शनशास्त्र की परिभाषा

- जेरी व केथराइन के अनुसार, दर्शन व्यक्तित्व, ज्ञान, नैतिकता, तर्क तथा मानव प्रयोजन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन है।
- जॉन डीवी के अनुसार, जब भी दर्शन को गंभीरता से लिया गया है, तब सदैव यह धारणा रही है कि इसका अर्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना है जो जीवन के मार्ग को प्रभावित करता है।
- डॉ. राधकृष्णन के अनुसार, दर्शन वास्तविकता के स्वरूप की तर्कपूर्ण खोज है।
- किलपेट्रिक के अनुसार, दर्शन का अर्थ, सामान्य रूप से जीवन सम्बन्धी विचारों, सिद्धांतों एवं सांसारिक दृष्टिकोण से है।
- प्लेटो के अनुसार, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।
- अल्फ्रेड वेबेर के अनुसार, दर्शन प्रकृति की सर्वागीण दृष्टि में खोज है, यह वस्तुओं की प्रकृति का एक विश्वव्यापी स्पष्टीकरण करने का एक प्रयास है।
- वेबस्टर न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी के अनुसार, दर्शनशास्त्र, बुद्धिमता या ज्ञान के प्रति प्रेम, आचरण, चिंतन, ज्ञान और विश्व की प्रकृति के बारे मे तार्किक विश्लेषण है।

1.3.3 दर्शनशास्त्र की विशेषताएँ

दर्शनशास्त्र की प्रमुख तीन विशेषताएँ हैं-

- यह व्यक्तियों की परिस्थितियों और अनुभवों के आधार पर होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ये भिन्न- भिन्न होता है। अतः उनके जीवन दर्शन भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं।
- दर्शन का ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।
- दर्शन एक विषय वस्तु भी है और प्रक्रिया भी।
- दर्शन में निगमन विधि, विश्लेषण विधि तथा संश्लेषण विधि का प्रयोग किया जाता है। इन विधियों की मदद से दार्शनिक बिन्दुओं को समझा जाता है।

1.4 दर्शनशास्त्र के क्षेत्र

बटलर ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र को निम्न चार भागों में विभाजित किया है-

1.4.1 तत्वशास्त्र

तत्वशास्त्र ये बताता है कि सत्य क्या है? या वास्तविकता क्या है? इसके अंतर्गत यथार्थ की प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। इसमें जगत और व्यक्ति के अस्तित्व के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है इसके निम्न भाग हैं-

- **ईश्वर संबंधी ज्ञान-** इसके अंतर्गत ईश्वर के अस्तित्व, उसके स्वरूप, उसकी एकरूपता अथवा अनेरूपता आादि जैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता है, कि क्या ईश्वन का अस्तित्व है या नहीं? ईश्वनर एक है या अनेक? ईश्वर का स्वरूप कैसा है? यादि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसका प्रमााण क्या है आदि।
- **आत्मा सम्बन्धी ज्ञान** - इसके अंतर्गत आत्मा और जीव से संबंधित प्रश्नों पर विचार

नोट

किया जाता है, जैसे आत्मा क्या है? जीव क्या है? आत्मा और जीव का क्या सम्बन्ध है? आदि।

- **सत्ता सम्बन्धी तत्वज्ञान** - इसके अंतर्गत सत्ता के स्वरूप से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया जाता है, जैसे सृष्टि के नश्वर तत्व कौन-कौन से हैं? सृष्टि के अनश्वर तत्व कौन कौन से हैं? आदि।
- **सृष्टि सम्बन्धी तत्वज्ञान** - इसके अंतर्गत सुष्टि की रचना और विकास से सम्बंधित प्रश्नों पर विचार किया जाता है, जैसे सृष्टि की रचना किन आध्यात्मिक तत्वों से हुई है? आदि।

1.4.2 ज्ञानशास्त्र या ज्ञानमीमांसा

ज्ञानशास्त्र के अंतर्गत ज्ञान की उत्पति, उसकी संरचना, उसकी प्रकृति और उसकी सीमाओं के विषय में अध्ययन किया जाता है: जैसे क्या मानव बुद्धि वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर सकती है? व्यक्ति किस सीमा तक परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है? ज्ञान प्राप्त करने का क्या साधन है? सत्य क्या है? भ्रम क्या है? आदि।

1.4.3 मूल्यशास्त्र या मूल्य-मीमांसा

इसके अंतर्गत व्यक्ति के जीवन के मूल्यों, आदर्शों, नीतियों और लक्ष्यों पर विचार किया जाता है-

- **नीतिशास्त्र**- यह व्यक्ति के आचरण सम्बन्धी विषयों पर विचार कर, उससे सम्बंधित समस्याओं जैसे - कर्म-अकर्म, शुभ-अशुभ, भद्र-अभद्र आदि पर विचार कर विश्लेषण करता है। साथ ही यह सुझाव भी देता है उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं।
- **सौंदर्यशास्त्र**- इसके अंतर्गत सौन्दर्य संबंधी विभिन्न समस्याओं पर विचार किया जाता है- जैसे सौन्दर्य क्या है? सौन्दर्य के क्या लक्षण हैं? सौन्दर्य के क्या मानदण्ड हो सकते हैं? आदि।

1.4.4 तर्कशास्त्र

इसके अंतर्गत तर्कपूर्ण चिंतन, कल्पना तथा अनुमान, उसके लक्षण, तर्क की पद्धति आदि विषयों पर विचार किया जाता है।

1.5 ज्ञान मीमांसा का परिचय

1.5.1 ज्ञान मीमांसा का अर्थ

'Epistemology' दो शब्दों की संधि से बना है । जहां episteme का अर्थ है ज्ञान तथा लोगी का अर्थ है विज्ञान इस प्रकार Epistemology का अर्थ है ज्ञान का विज्ञान। ज्ञान से सम्बंधित प्रमुख छः समस्यायें हैं-

1. ज्ञान का स्वरूप क्या हैं?
2. ज्ञान के स्रोत क्या है?
3. क्या यथार्थ के ज्ञान संभव है?
4. कितने प्रकार के ज्ञान उपलब्ध है?
5. इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कौन-से उपकरण प्रयोग में आते हैं?

6. सत्यता की परीक्षा संबंधी सिद्धांत क्या है?

ये छ: समस्यायें हमारे शिक्षण एवं सीखने की समस्यायें हैं। जब हम शिक्षण देते हैं तो ज्ञान प्रदान करते हैं इस कारण हमें ज्ञान का स्वरूप जानना आवश्यक है। पाठ्यक्रम का चयन तथा शिक्षण विधि इस पर निर्भर करती है कि ज्ञान हमें किन स्रोतों से प्राप्त होता है और किस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्रदान किया जाता है। ज्ञान को प्राप्त करने के उपकरण विद्यार्थियों के सीखने की प्रक्रिया के संबंध में समझ प्रदान करते है। यह हर एक शिक्षक की समस्या होती है कि जो ज्ञान वह प्रदान कर रहा है वह किस सीमा तक यथार्थ है। इस कारण उसे दो बातों पर ध्यान देना चाहिये–

नोट

1. क्या पूर्ण यर्थाथता का ज्ञान संभव है?
2. हम ये कैसे जान सकते हैं कि जो ज्ञान प्रदान किया जाता है वह सत्यता की कसौटी पर खरा है? इस संबंध में दार्शनिकों नें कई सुझाव प्रतिपादित किये हैं। उन सिद्धांतो की जानकारी भी शिक्षकों के लिये आवश्यक है।

1.6 ज्ञान की अवधारणा

सभी दार्शनिक विद्वानों का एकमत है कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान प्रदान करना है। यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि सत्य को ज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता। अगर सत्य का ज्ञान नहीं होगा तो सत्य का अस्तित्व ही कहाँ रहा, इसलिये तत्वमीमांसा के साथ ज्ञानमीमांसा जुड़ी हुई है। भारतीय दर्शन में सत्य और ज्ञान में कोई अंतर नहीं माना गया है। इस दृष्टि से ज्ञान की उत्पत्ति अपने आप होती है। वह व्यक्ति के मन में ही होता है, क्योंकि सत्य और ज्ञान एक ही है। ऐसे ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान अर्थात सत्य प्रदत्त माना जाता है । बड़े-बड़े संतो और धर्मप्रवर्तकों का मानना है कि उस ज्ञान की उपयोगिता ही क्या यदि वह दूसरों तक नहीं पहुँचाया जाये। समाज के लिये ज्ञान की उपयोगिता शिक्षा ही सिद्ध करती है।

यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि क्या ज्ञान सूक्ष्म है या स्थूल? शिक्षा में कार्यरत शिक्षक और शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थी दोनों के मन में जानकारी के रूप में ज्ञान सूक्ष्म है। वहीं दूसरी और पुस्तकों में वर्णित भाषा में लिखा हुआ ज्ञान स्थूल है। यह ठीक वैसे ही है जैसे पानी में नमक घुल कर अदृश्य हो जाता है : परन्तु बड़े ढेले के स्थूल रूप में दिखाई देता है। इसलिये शिक्षा में पुस्तक का महत्व होता है।

ज्ञान के अन्य स्वरूप के विषय की दृष्टि से यह जानना महत्वपूर्ण है कि ज्ञान कहां तक 'सक्रिय' है और कहां तक 'असक्रिय' सक्रिय ज्ञान वह है जिसका हम उपयोग करते हैं। इसलिए जब शिक्षा पाठ योजना का निर्माण करता है तब उसके सामने एक लक्ष्य रहता है कि पढ़ाते समय वह कौन कौन सी स्थितियां पैदा करें जिनसे शिक्षार्थी प्राप्त ज्ञान का उपयोग कर सकें। कहा भी गया है ज्ञानं भारं क्रियां बिना अर्थात प्रयोग के अभाव में ज्ञान एक बोझ मात्र ही बना रहता है।

ज्ञान के दो पक्ष और हैं- प्रत्यक्ष ज्ञान और अप्रत्यक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जिसे व्यक्ति स्वयं अपने जीवन में अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्राप्त करता है। भारतीय चार्वाक मत इस प्रकार के ज्ञान को 'ज्ञान' मानता है क्योंकि इस मत के अनुसार जो जगत हमारे सामने है वही सत्य है। वर्तमान यथार्थवादी दार्शनिक और वैज्ञानिक भी प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। परोक्ष ज्ञान वह है जो हमें दूसरों से उनके कथनों या पुस्तकों द्वारा प्राप्त होता हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान ताजा और परोक्ष ज्ञान बासी होता

है। शिक्षा में दोनों प्रकार के ज्ञान का महत्व है। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान को 'प्रमा' तथा परोक्ष ज्ञान को 'अप्रमा' कहा गया है। इनके अलग अलग लक्षण बताये गये है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान ओर अज्ञान का भेद कैसे समझा जाये? मीमांसा दर्शन में भी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का विवेचन है जिनसे ये सिद्ध होता है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य है कि विद्यार्थियों को ज्ञान का स्वरूप समझाया जाये ताकि वे भिन्न प्रकार के भ्रमों से मुक्त हो जायें।

ज्ञान की आवधारणा को स्पष्ट करते हुए ये भी प्रश्न उठाया जाता है कि क्या ज्ञान का स्वरूप बदलता रहता है या ये अपरिवर्तनीय रहता है। ज्ञान में सम्मिलित तथ्य, विचार, प्रत्यय, नियम और निष्कर्ष आादि ज्ञान के तथ्य हैं अर्थात जब शिक्षक विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करता है तो इन सब तत्वों को बताता और समझाता है। किन्तु प्रश्न ये है कि ज्ञान के तत्व बदलते रहते हैं या नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं की ज्ञान के कुछ तत्व नहीं बदलते हैं या हम यूं कहें कि यह तत्व कितने अधिक काल में बदलते हैं कि उनका बदलाव अनुभव नहीं होता। अर्थात अनेक नियम, तथ्य व प्रत्यय लगभग नहीं बदलते हैं या हम यूं कहें कि यह तत्व कितने अधिक काल में बदलते हैं कि उनका बदलाव अनुभव नहीं होता। अर्थात अनेक नियम, तथ्य व प्रत्यय लगभग नहीं बदलते और ज्ञान के यह तत्व शिक्षा के लिये महत्वपूर्ण हैं। बहुत से जीवन मूल्य नहीं बलदते, शिक्षा उनके प्रति विद्यार्थियों में आस्था पैदा करती है, यह उसका दायित्व है। इसके विपरीत ज्ञान के कुछ तत्व परिवर्तन से प्रभावित होते हैं । वैज्ञानिक खोजों से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है और ज्ञान में परिवर्तन आता है। शिक्षा को ज्ञान के तत्वों में आने वाले परिवर्तनों पर दृष्टि रखनी होगी। प्रगतिशील शिक्षा के समर्थक डीवी ने ज्ञान के अनुभव को सतत् पुनर्रचना कहा है। अत: विद्यालय के पाठ्क्रम को थोड़ी-थोड़ी अवधि में बदला जाना चाहिए। सतय के अन्वेषण से जो नये नियम और सिद्धांत प्रकाश में आते हैं, वे ज्ञान के स्थूल रूप में परिवर्तन की अपेक्षा करते हैं।

ज्ञान की अवधारणा के अंतिम विवेचन में एक बात कहना जरूरी है कि क्या ज्ञान केवल अनुभूति मात्र है। जैसे मेरे पास गेंद रखी है, मुझे प्रथम अनुभूति हुई कि गेंद एक वस्तु है। फिर उससे मैनें गौर से देखा, उसका रंग, आकर दिखाई दिया। मैंने उसे छुआ, उसे लुढ़काया तो गेंद के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त की जिससे हम जानना कह सकते हैं। फिर मैनें गेंद की रचना, उत्तपत्ति और यहां तक कि उस ब्रह्माण्ड का लघु रूप होने के बारे में जान लिया। तब यह स्थिति संभवत: ज्ञान की होगी। ऐसा ज्ञान प्राप्त होने पर हम कहते हैं कि हमारे 'ज्ञान -चक्षु' खुल गये। शरीर की आँख सब कुछ नहीं देख सकती, किन्तु ज्ञान चक्षु से वास्तविकता की गहराई भी देखी जा सकती है। इस तरह ज्ञान के कई स्तर होते हैं, और शिक्षा का कार्य ज्ञान के स्तरों में ले जाना है। संसार की सतही जानकारी को शिक्षा कहना उपयुक्त नहीं होगा। शिक्षा यदि हमारे ज्ञान-चक्षु खोल देती है तो वह कल्याणकारी बन जाती है। इस कसौटी पर यदि वर्तमान भारत की शिक्षा को देखा और कसा जाये तो उसका खोखलापन प्रकट हो जाता है । इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा विद्यार्थियों को केवल कुछ सूचनात्मक तथ्य देती है, ठोस ज्ञान नहीं। यही कारण है कि इसके कुत्सित परिणाम हमारे सामने आ रहे हैं।

1.7 भारतीय दर्शन की मूलभूत विशेषताओं

भारतीय दर्शनों में कछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ तथा सामान्य तत्व हैं, जैसे-सभी भारतीय दर्शन आत्मा में विश्वास करते हैं। भारतीय दर्शन की उत्पत्ति जीवन से होती है और उसी में पलती है। भारतीय

दर्शन का लक्ष्य मोक्ष है। सभी भारतीय दर्शनों का इस बात पर विचार है कि दु:ख व बन्धनों का कारण मनुष्य का अज्ञान है। वह अज्ञान केवल बौद्धिक ही नहीं वरन् आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक भी है। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक ज्ञान से मुक्ति प्राप्त करने के लिए सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी तरह के अभ्यास या योग की आवश्यकता को महसूस करते हैं। बुद्ध से लेकर पतंजलि तथा शंकर और रामानुज आदि सभी दार्शनिकों ने दर्शन के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। प्रस्तुत अध्याय में भारतीय दर्शन की मूलभूत विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है।

नोट

भारतीय दर्शन की प्रकृति

भारतीय दर्शन की मूलभूत विशेषताओं का अध्ययन करने से पहले दर्शन शब्द के बारे में जानकारी हासिल करना अति आवश्यक होगा।

(1) दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ – गणितीय व्याकरण के अनुसार दशन शब्द हशिरप्रेक्षणे ध ातु ल्युट् प्रत्यय करने से निष्पन्न होती है। यह ल्युट प्रत्यय भाव (शब्द वाल्वर्थ) कारण तथा अधि करण कारकों के अर्थ में होता है। इस प्रकार दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ है. श्दुष्टि या देखना, जिसके द्वारा देखा जाये या जिसमें देखा। जाये।''

(2) विस्तृत अर्थ – दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ देखना अथवा सामान्य देखना मात्र नहीं है। अत: पाणिनि ने वाल्वर्थ में प्रेक्षण शब्द प्रयुक्त किया है। आँखों से देखना दर्शन नहीं है वरन् प्रकृष्ट ईक्षण जिसमें अन्तश्चक्षुओं द्वारा देखना या मनन करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचना टन शब्द कहलाता है। प्रकार के प्रकष्ट ईक्षण के साधन तथा फल दोनों दर्शन में निहित हैं। दर्शन के साधन तथा फल दोनों दर्शन में निहित हैं। दर्शन के साधन तथा फल दोनों को दर्शन शब्द से अभिहित किया जाता है।

(3) विविध दर्शनों में एकरूपता . दर्शन देशकाल तथा संस्कृति की पृष्ठभूमि में सत्यों का साक्षात्कार है। इसके अतिरिक्त स्थान विशेष के प्रचलित विचारों से दर्शन की उत्पत्ति होती सञ्चान्ता में एक मत न होने पर भी प्रत्येक देश के दार्शनिक विचारों में उस देश की संस्कृति को गहरी छाप होती है। भारतीय दर्शनों में मतभेद पाये जाने पर भी भारतीय संस्कृति की छाप रहने के कारण कुछ ऐसी अद्‌भुत एकरूपता पायी जाती है, जो सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

भारतीय दर्शन की विशेषताएँ ।

भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं–

(1) आध्यात्मिकता – भारतीय दर्शन में आध्यात्मिक प्रयोजन का स्थान सदैव ही ऊँचा रहा है। सभी भारतीय दार्शनिक विचारों में आत्मा के अस्तित्व का पता चलता है। उन्होंने आत्मा के वास्तविक रूप को ज्ञात करने का प्रयास किया है। उपनिषद, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा वेदान्त सभी ने आत्मा की खोज करने का प्रयास किया है। दर्शनशास्त्रियों ने देश के सामाजिक–आध्यात्मिक सुध ार के प्रयास किये हैं।

(2) आध्यात्मिक असन्तोष से उत्पन्न – इस प्रकार भारतीय दर्शन की उत्पत्ति सांसारिक अथवा मौलिक जीवन से आध्यात्मिक असन्तोष के परिणामस्वरूप हुई है। इसकी मान्यता है कि संसार में अनेक दु:ख हैं। इन दु:खों के कारण जीवन सर्वथा अन्धकारमय बना रहता है तथा मन में हमेशा अशान्ति बनी रहती है। मानसिक अशान्ति से विचारों की उत्पत्ति होती है। दु:खों का नाश कैसे

हो इसके लिए समस्त दर्शन संसार तथा मनुष्यों के अन्तर्निहित तत्वों का विचार करते हैं, जबकि आध्यात्मिक असन्तोष का अर्थ यह नहीं है कि भारतीय दर्शन निराशावादी अथवा पलायनवादी नहीं है। निराशावाद से आरम्भ होकर भी भारतीय दर्शन आशावाद तथा आनन्द की ओर अग्रसर होता है।

नोट

(3) जीवन के निकट - भारतीय दर्शन की उत्पत्ति तथा पालन-पोषण जीवन में है। भारतीय दर्शन को जन-जीवन का दर्शन भी कहा जा सकता है। इस प्रकार से कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन का लक्ष्य जीवन की चरम समस्याओं का समाधान करना है।

(4) धार्मिक उदारवाद - भारतीय दर्शन में धर्म सम्बन्धी कोई हठवादिता नहीं है। यहाँ धर्म की वह भूमिका है जो दर्शन की प्रगति के साथ-साथ अपने अन्दर नये-नये विचारों का संग्रह करता है। धर्म सम्बन्धी समस्याओं से दार्शनिक भावना को उत्तेजना मिलती है।

(5) बन्धन का कारण अज्ञान - समस्त भारतीय दर्शन इस बात पर सहमत है कि दु:ख और बन्धनों का कारण मनुष्य का अज्ञान है। यह अज्ञान केवल बौद्धिक ही नहीं है वरन् आध्यात्मिक व मनोवैज्ञानिक भी है। बुद्ध के चार आर्य सत्य तथा शंकर का अद्वैत वेदान्त इसी अज्ञान को दूर करने का प्रयास करते हैं।

(6) मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित - भारतीय दार्शनिक विचारों ने मानव-मनोवैज्ञानिक की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी व्याख्या की है। बुद्ध से लेकर पतंजलि तक शंकर और रामानुज आदि समस्त दार्शनिकों ने दर्शन के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर पर्याप्त बल दिया है। योग की क्रियाएँ मानसिक तथा शारीरिक रोगों को दूर करती हैं तथा मन को स्थिरता प्रदान करती हैं। वेदान्त में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्थाओं और चौतन्य के स्वरूप का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

(7) धर्म और दर्शन का समन्वय - भारतीय दार्शनिक मतों ने धर्म और दर्शन की समस्याओं में बहुत अधिक अन्तर नहीं किया है बल्कि धर्म शब्द को संकुचित अर्थों में अथवा सम्प्रदायवाद तक सीमित न कर व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। धर्म तथा दर्शन दोनों का ही उद्देश्य है जीवन का रूपान्तर तथा सांसारिक दु:खी से मोक्ष की प्राप्ति।

(8) भूतकाल के प्रति निष्ठा - भूतकाल के प्रति विश्वास अथवा श्रद्धा प्राय: सभा दार्शनिक विचारों की विशेषता है। जब-जब नवीन संस्कृतियों से सामना हुआ अथवा नवीन ज्ञान आगे आया, भारतीय दर्शना न सामयिक प्रलोभनों की अधीनता स्वीकार किये बिना अपने परम्परागत विश्वासों को दृढ़तापूर्वक स्थिर रखा।

(9) दु:ख का कारण अविद्या - अज्ञानता समस्त दु:खों का कारण है। प्राय: सभी दर्शन इस बात को स्वीकार करते हैं। अविधा अर्थात् अज्ञानता के कारण तत्व ज्ञान में कमी को दर्शाता है जिस फलस्वरूप शरीर बन्धन होता है तथा उससे दु:खों की उत्पत्ति होती है। इससे मुक्ति उसी अवस्था में प्राप्त हो सकती है, जब व्यक्ति को संसार तथा आत्मा का तत्व ज्ञान हो। सभी दर्शन इस बात को स्वीकार करते हैं कि दु:खों को नष्ट करने का एकम साधन अज्ञानता से छुटकारा है। न्याय ने अविधा अथवा अज्ञान को मिथ्या ज्ञान तथा वेदान्त ने अविधा अथवा माया शब्द से पुकारा है।

(10) दु:ख . चार्वाक् को छोड़कर सभी दार्शनिक मत एक ही उद्गम से प्रभावित हैं, यह उद्गम मनष्य की द:ख से अभिभूत मनोवृत्ति है। यदि दु:ख न होता तो दर्शन की सम्भावना नहीं थी। जब

नोट

महात्मा बुद्ध ने दुःख से परिपू को देखा तब से ही उनके मन-मस्तिष्क में दर्शन के बीज अंकुरित हुए थे। समस्त दार्शनिकों के कथनानुसार, कि संसार दुख है। बौद्ध दर्शन में 'सर्व दःखम्' का सिद्धान्त है। न्याय वैशेषिक दर्शन के मतानुसार कि कभी-कभी सुख की झलक देने वाला संसार जहरीले अन्न के समान है जिसे छोड़ना या उसका त्याग करना ही ठीक है। योग ने पाँच क्लेशों से मुक्ति के साधनों पर प्रकाश डाला है। मीमांसा ने दुःख से छुटकारा तथा सुख की प्राप्ति के सम्बन्ध नदुःख से छुटकारा तथा सुख की प्राप्ति के सम्बन्ध में कहा है। वेदान्त अनित्य तथा क्षणिक भौतिक सुखों को त्याग कर अनन्त एवं नित्य सुख या आनन्द की जिज्ञासा के लिए प्रवृत्त होता है।

(11) मोक्ष की प्राप्ति - भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। प्रो. मैक्स मूलर कथन है कि भारत में दर्शन ज्ञान के लिए ही नहीं वरन उस सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था, जिसके लिए व्यक्ति इस जीवन में प्रयास कर सकता है। चार्वाक् को छोड़कर समस्त आस्तिक तथा नास्तिक भारतीय दार्शनिक मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार करते हैं। इस मोक्ष के निश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्नता पायी जाती है। इस प्रकार समस्त दाशानका काम ९ष्ष्र से संसार के दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है तथा मनुष्य अज्ञान के बन्धनों से छूट जाता है।

(12) पुनजन्म - चावाक् को छोड़कर सभी दार्शनिक मत कर्म के आधार पर पुनर्जन्मक सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। यह पुनर्जन्म कर्म पर आधारित है। नित्य एक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना घटित हुआ सम्भव प्रतीत होता। अपूर्व कर्म के तीन रूप हैं-क्रियमाण, संचित तथा प्रारब्ध। इन्हीं के आधार पर दार्शनिक मतों ने पुनर्जन्म, सांसारिक जीवन में पारस्परिक विषमता तथा सख-दुःखादि की विवेचना की है। बौद्धों ने नित्य एक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न कर नित्य पंच स्कन्धों के आधार पर पुनर्जन्म का समर्थन किया है।

(13) जीवन में यम, नियम तथा संयम में आस्था . भारतीय दार्शनिक मत संसार में जीवन को दुःखों का कारण मानते हैं, जबकि वे मनुष्य को उससे दूर होने का उपदेश न देकर जीवन को संयत बनाकर उसे परिष्कृत तथा वासनाओं से मुक्त कर स्वच्छ बनाने का उपदेश देते हैं। समस्त विचारों में यम, नियम, समाधि आदि साधनों को समान रूप से स्वीकार किया गया है तथा संसार के विषयों में लिप्त न होने का विषय दिया गया है। उनका उद्देश्य है, जीवन परिमार्जन। किसी संकट अथवा संघर्ष से मुँह छिपाना अथवा किसी कोने में छिप जाना कायरों का कार्य है। एक योगी का शौर्य इसी में निहित है कि वह राग, द्वेष आदि जैसे प्रबल शत्रुओं को पराजित कर उनमें अनास्था तथा अनाशक्ति की भावना उत्पन्न करे।

(14) सहिष्णुता - आरम्भ से ही भारतीय दार्शनिक विचारों ने यह अनुभव कर लिया था कि सत्य के अनेक पक्ष हैं और विविध मत सत्य के अलग-अलग पक्षों को लेकर प्रकट हुए हैं क्योंकि विशुद्ध सत्य का प्रतिपादन कोई एक मत नहीं कर सकता। इसी कारण इन्हें मतों के प्रति सहनशील होकर उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा।

(15) जगत् की नैतिक व्यवस्था का समर्थन - संसार गतिशील है। यह एक व्यापक व्यवस्था के अधीन रहकर अपने विविध रूपों का आविष्कार करता चल रहा है। दिन-रात का चक्कर इसी नियम के बन्धन में बँधा हुआ है। सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्र इसी व्यवस्था के आदेश से ही अपने कार्यों में संलग्न हैं। समस्त दर्शनों ने इस नैतिक व्यवस्था को अलग-अलग रूपों में स्वीकार

किया है।

(16) मोक्ष – समस्त भारतीय दार्शनिक विचारों ने मोक्ष की कल्पना में आस्था प्रकट की है। जैन, बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, योग तथा वेदान्ती समस्त दार्शनिक विचार मोक्ष की सत्ता में एकमत हैं। इनके अनुसार राग, द्वेष आदि बन्धन हैं। ये अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। ज्ञान से इन बन्धनों को काटकर ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। बार-बार जन्म लेना तथा जीवन के दुःखों को सहन करना मनुष्य के लिए बन्धन है। पुनर्जन्म की सम्भावना का नाश मोक्ष से ही सम्भव है। सभी दार्शनिक मतानुसार निदिध्यासन मोक्ष का साधन है। निदिध्यासन का अर्थ है स्वीकृत सिद्धान्तों का अनवरत चिन्तन । इसके अतिरिक्त आत्म-संयम को भी आवश्यक बताया गया है।

नोट

(17) मोक्ष के लिए अभ्यास तथा मोक्ष की आवश्यकता – समस्त भारतीय दार्शनिक मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान से मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी-न-किसी प्रकार के अभ्यास अथवा योग की आवश्यकता पर बल देते हैं। समस्त भारतीय दार्शनिक मतों ने पतंजलि के अष्टांग योग को अपनाया है। अज्ञान का निराकरण करने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, अनवरत चिन्तन आवश्यक माना गया है।

(18) नैराश्यवाद – भारतीय दार्शनिक विचारों ने संसार को दुःखमय कहकर पुकारा है तथा मानव जीवन को दुःख से परिपूर्ण कहकर प्रतिपादित किया है। इससे कुछ विचारकों ने यह धारणा बना ली है कि भारतीय दर्शन नैराश्यवादी है। यह कथन सत्य नहीं है क्योंकि भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन में निराश न होकर संसार की दुःखमय परिस्थिति को दूर करने का प्रयास करता है। भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन से असन्तोष व्यक्त करके सुनहरे भविष्य की खोज करता है। सभी दार्शनिक मत जीवन को दुःखमय बताकर दुःख के कारण राग, द्वेषादि बन्धन तथा उनके लिए अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान और उनकी निवृत्ति भी बताते हैं। वे क्षणिक जीवन का निर्देश करके अनन्त जीवन की राह बताते हैं तथा वर्तमान दुःखों से छुटकारा करके अनन्त का रास्ता दिखलाते हैं। इस तरह से उन्हें निराशावादी नहीं कहा जा सकता।

(19) मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित – भारतीय दार्शनिक मतों ने मानव मनोवैज्ञानिक सक्षम तथा विस्तृत व्याख्या की है। बुद्ध से पतंजलि तक शंकर और रामग्नुज आदि समस्त दार्शनिकों ने दर्शन के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर पर्याप्त बल दिया है। योग से शारीरिक तथा मानसिक रोग दूर होते हैं तथा मन में स्थिरता आती है। वेदान्त में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्थाओं और चौतन्य के स्वरूप को सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

(20) कर्म तथा आवागमन में आस्था-कर्म के सिद्धान्त के अनुसार धर्म-अधर्म इत्यादि कर्मफल संस्कार के रूप में हमेशा सुरक्षित रहते हैं। ये हमारे जीवन की घटनाओं को संचालित करते हैं। यह संसार एक रंगमंच है। सभी प्राणियों को अपने कर्मानुसार निश्चित भूमिका अदा करनी पड़ती है। कर्म के बन्धन से मुक्ति का नाम मोक्ष है। अलग-अलग दार्शनिक मतों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न विधियों को बतलाया है। कर्म के बन्धनों के कारण आत्मा को बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। मोक्ष होने पर ही पुर्नजन्म से मुक्ति प्राप्त होती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त अधिकतर भारतीय दार्शनिकों ने किसी न किसी प्रकार (रूप) से स्वीकार किया है।

(21) बौद्धिक समन्वयवादी तथा प्रगतिशील .. इस प्रकार भारतीय दार्शनिक मतों में कर्म विद्यमान

है, जबकि स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज की गयी है। विश्वास के दर्शन के इतिहास में सभी मत-मतांतर किसी न किसी रूप में भारतीय दार्शनिक मतों में मिलते हैं। शास्त्रार्थ की प्रथा प्रचलित होने के कारण प्रत्येक भारतीय दार्शनिक को अपने सिद्धान्तों को तर्क द्वारा पुष्ट करके अन्य मतों का खण्डन करना पड़ता था। इसके परिणामस्वरूप भारतीय दार्शनिक विचारों में तर्कशास्त्र तथा प्रमाणशास्त्र का समुचित विकास हुआ है। भारतीय दार्शनिक विचार बौद्धिक होते हुए भी उनमें समन्वयवाद है। उन्होंने किसी भी एक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक जोर नहीं दिया है। व्यक्तिगत साधना पर बल दिये जाने पर भी लोक-कल्याण का परा ख्याल रखा जाता है। इस प्रकार शंकराचार्य, महात्मा बुद्ध तथा महावीर आदि महान दार्शनिक होने के कारण साथ-साथ महान् समाज सुधारक भी थे।

निष्कर्ष (ब्वदबसनेपवद) -उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि सभी विशेषताएँ किसी न किसी रूप में समस्त भारतीय दर्शनों में पायी जाती है। केवल चार्वाक दर्शन को छोड़कर।

1.8 भारतीय दर्शन का उद्देश्य

भारतीय दर्शन के उद्देश्य का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है

(1) भारतीय दर्शन की उत्पत्ति - भारतीय दर्शन का उद्भव प्रकृति की गोद में हुआ है। वेद के ऋषियों को प्रकृति की क्रियाओं को देखकर आश्चर्य व जिज्ञासा का अनुभव हुआ, जिसे शान्त करने के लिए उन्होंने ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया। जैसे-जब यह देखा कि 'काली कठोर गाय श्वेत और मृदु दूध देती है।' तब उन्हें अत्यधिक आश्चर्य हुआ। इसी प्रकार उन्होंने देखा कि समस्त नदियाँ समुद्र में जाकर गिरती हैं फिर भी समुद्र नहीं भरता। इस प्रकार जब ऋषियों ने प्रकृति के व्यापारों को आश्चर्यचकित होकर देखा तब उनमें प्रकृति के आदान-प्रदान' को जानने की इच्छा उत्पन्न हुई तथा इस प्रकार भारतीय दर्शन की उत्पत्ति हुई।

(2) प्रमुख उद्देश्य - भारतीय दर्शन का उद्देश्य केवल मानसिक आश्चर्यों की निवृत्ति मात्र नहीं है। उनमें प्रमुख इस प्रकार हैं

(प) जीवन मार्ग दिखाना भारतीय दर्शन का प्रमुख उद्देश्य एक जीवन मार्ग बताता है, यह बतलाना है कि किस प्रकार मनुष्य दूरदृष्टि, भविष्य दृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि के साथ जीवन-यापन कर सकता है। उदाहरणार्थ, वेदों का कौतूहल उपनिषदों में आकर 'आत्म-साक्षात्कार' के उद्देश्य में परिवर्तित हो गया। उपनिषद भी संसार के रहस्य को ज्ञात करना चाहते हैं। उनका लक्ष्य केवल जानना मात्र नहीं है बनना है। वे सत्य को जानकार उसका साक्षात्कार जीवन में उतार लेना चाहते हैं।

उदाहरण के लिए उपनिषदों के ऋषियों ने प्रार्थना की है, "असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्यु अर्थात् "असत् से सत् की ओर ले चल, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल, मृत्यु से अमरता की ओर ले चल।''

उपनिषद् भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हैं। अतएव भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा में आध्यात्मिक जीवन के मार्गो की खोज पर उतना ही महत्व दिया गया है, जितना कि सत्य के स्वरूप के ज्ञान पर, बुद्ध ने अष्टांग पथ पर आत्मा तथा पनर्जन्म के विवाद की अपेक्षा अधिक बल दिया है। उनका वास्तविक उदेश्य निर्वाण पाप्त करने का मार्ग खोजना था। जैन दर्शन का उद्देश्य समस्त प्रकार के कार्यो को नाश कर मोक्ष की प्राप्ति करना है। जैन दर्शन का मत है कि त्रिरत्न अर्थात् सम्यक्

दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारत्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। सम्यक् चरित्र में पाँच महावत अर्थात् सत्य, अहिंसा, असत्य ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह और दस धमों के आचरण के साथ-साथ अन्य विविध कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार समस्त भारतीय दर्शन पुरुार्थ साधन के लिए हैं। समस्त भारतीय दर्शन यह स्वीकारते हैं कि दर्शन जीवन के लिए अत्यधिाक उपयोग होता है। सभी दर्शनों ने के लिए समस्त भारतीय दर्शन प्रयास करते हैं। दु:खों का नाश करने के लिए समस्त दर्शन संसार तथा मनुष्य के अन्तर्निहित तत्वों का अनुसन्धान करते हैं।

नोट

(पप) परमेश्वर से एकाकार होना . यद्यपि बौद्ध और जैन दोनों नास्तिक दर्शन हैं फिर भी उनमें साधन पर अधिक बल दिया गया है। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत दृढ़ नास्तिक दर्शनों का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। सांख्य का साधन पक्ष योग है। योग ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अष्टांग पथ द्वारा अनोखा तथा अतुलनीय साधन मार्ग प्रस्तुत किया है। इस अष्टांग योग द्वारा तन, मन, प्राण, इन्द्रियाँ आदि एकत्र कर चमत्कृत शक्ति अर्जित की जाती थी। योग का उद्देश्य विभतियों को एकत्र अथवा अर्जन करना नहीं है वरन् परम तत्व परमेश्वर से युक्त अथवा एकाकार होना है।

पतंजलि से लेकर श्री अरविन्द ने योग के विषय में विविध प्रयोग किये हैं तथा तन, मन, प्राण को शुद्ध तथा सबल बनाने के आश्चर्यजनक साधन निकाले हैं। उन्होंने दैवी सत्ता के सर्वांग रूप का साक्षात्कार करने का निरन्तर प्रयास किया है। भारत में दर्शन जीवन के लिए अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि भारत में दर्शन का अभिप्राय केवल सत्य का प्रेम मात्र न होकर सत्य का दर्शन, उसका साक्षात्कार है। शाब्दिक अर्थो में दर्शन तथा योग में अधिक अन्तर नहीं है। व्यवहारिकता का पक्ष सबल है, भारतीय दार्शनिक योगी पहले। हैं और तार्किक विचारक बाद में। उनके तर्क तथा मत भी उनके दैवी सत्ता के साथ एकाकार पर आधारित है।

(पपप) मानव कल्याण - भारतीय दर्शन की रुचि मानव समुदाय में है, किसी काल्पनिक एकान्त में। नहीं। इसकी उत्पत्ति जीवन से होती है और विभिन्न शाखाओं तथा सम्प्रदायों में से होकर यह पुन: जीवन में ही प्रवेश करता है। गीता और उपनिषद् जनसाधारण की पहुँच के बाहर नहीं है। पुराणों में कथाओं तथा कल्पनाओं के रूप में सत्य से परिपूर्ण है ताकि अज्ञानी जनता के बड़े वर्ग का भी उपचार हो सके।

(3) साधन चतुष्टय - साधन चतुष्टय की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है--

(प) नित्य व अनित्य में अन्तर - साधक में नित्य तथा अनित्य वस्तुओं के मध्य अन्तर करने की योग्यता आवश्यक है।

(पप) लौकिक तथा पारलौकिक भोग विराग - साधक को लौकिक तथा पारलौकिक समस्त प्रकार के भोगों की इच्छा का परित्याग कर देना चाहिए।

(पपप) शाम दयादि साधन सम्पद - साधक को क्षमा, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छ: साधनों से युक्त होना चाहिए।

(पअ) मोक्ष - साधक में मोक्ष प्राप्ति की भावना प्रबल होनी चाहिए।

उपर्यक्त साधन चतुष्टय के पश्चात् भी निरन्तर श्रवण मनन तथा अनवरत चिन्तन करने से ही वेदान्त का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार शंकर का दर्शन अन्य भारतीय दर्शनों के समान साधन को

अत्यधिक महत्व प्रदान करता है। इसके विपरीत रामनुज भक्तराज थे। भक्ति उनके दर्शन का प्रभाव है। उनके दर्शन में मानसिक पक्ष की अपेक्षा ह्रदय पक्ष अधिक मजबूत है। भक्ति तथा प्राप्ति मोक्ष प्राप्ति का साधन है। अनन्य भक्ति से प्रापन्ति की अवस्था प्राप्त होती है। प्रापन्ति को शरणागति भी कहा जाता है।

नोट

(4) प्रापन्ति - प्रापन्ति के अग्रलिखित छः अंग हैं

(प) ईश्वर के अनुकूल विचार, संकल्प तथा कर्म करना।

(पप) ईश्वर के प्रतिकूल विचार, संकल्प तथा कर्म का परित्याग करना।

(पपप) यह विश्वास की ईश्वर रक्षा करेगा।

(पअ) ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना।

(अ) ईश्वर पर पूर्णतया निर्भर होने की अनुभूति ।

(अप) ईश्वर के प्रति पूर्णरूपेण आत्मसर्मपण।

निष्कर्ष -उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शनों का उद्देश्य केवल मानसिक कौतूहल से छुटकारा मात्र नहीं वरन् जीवन मार्ग बताना है।

1.9 ज्ञान के प्रकार
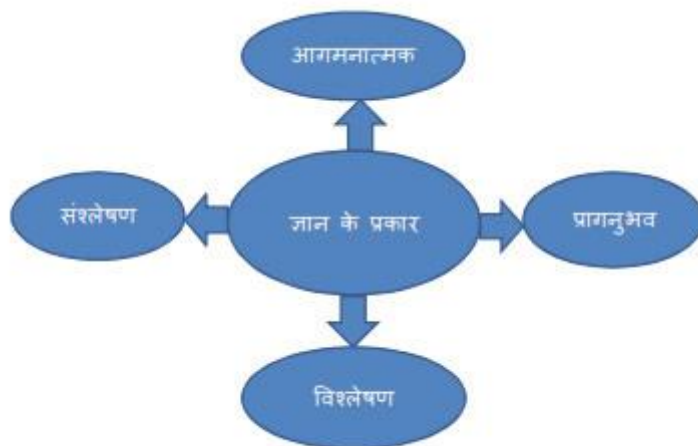
ज्ञान के निम्नलिखित प्रकार हैं-

चित्र

1.9.1 आगमनात्मक ज्ञान

इस प्रकार का ज्ञान हमारे अनुभव तथा निरीक्षण पर आधारित है। जॉन लॉक इस प्रकार के ज्ञान के प्रवर्तक थे। उनके अनुसार विद्यार्थी का मन जन्म के समय कोरी पट्टी के समान होता है। जैसे-जैसे उसे अनुभव मिलते जाते हैं, इस पट्टी पर लेखन होने लगता है। इससे यह तात्पर्य है कि ज्ञान अनुभवों के द्वारा वृद्धि करता रहता है। सीखने के लिए समग्र अनुभव प्रदान करने चाहिए, इस प्रकार के ज्ञान में अलौकिक का कोई स्थान नहीं है। जॉन लॉक के अनुसार 'हमारी बुद्धि एवं हमारी ज्ञानिन्द्रियों में कुछ भी निहित नहीं होता है। जन्म के प्रत्यय के विचार को लोक निरस्त करते हैं

और प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान मानते हैं।

आगमनात्मक की विशेषताएं-

नोट

1. दैनिक जीवन मे जो विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है वह अयथार्थ नहीं है बल्कि वो ज्ञान का वास्तविक उदाहरण है
2. ज्ञान का मूल और एकमात्र स्रोत अनुभव है। अनुभव का अर्थ इन्द्रिय अनुभव है।
3. मन में कोई प्रत्यय जन्मजात नहीं है और जो भी प्रत्यय मन मे होते हैं वो अनुभव के द्व ारा प्राप्त होते हैं।
4. ज्ञान में मन प्रारंभ से ही सक्रिय नहीं रहता बल्कि प्रारंभ में तो वह निष्क्रिय रूप में संवेदनाओं को ग्रहण करता हैं।
5. ज्ञान के मौलिक तत्व प्रत्यय है।
6. ज्ञान की पद्धति आध्यात्मिक है।
7. आदर्श ज्ञान भौतिक विज्ञान में निहित ज्ञान है। इन विज्ञानों में सामान्य या सार्वभौम ज्ञान मिलता है, परन्तु उसमें अनिवार्यता नहीं होती।

1.9.2 प्रागनुभव ज्ञान

प्रागनुभव ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष की भांति समझा जाता है। सिद्धांत जब समझ लिये जाते हैं, सत्य भी पहचान लिए जाते हैं, तब उन्हे निरीक्षण, अनुभव या प्रयोग द्वारा प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होते। इस विचारधारा के प्रवर्त्तक कांट थे। उनके अनुसार सामान्य सत्य अनुभव से स्वतंत्र होने चाहिए, उन्हें स्वयं में स्पष्ट तथा निश्चित होना चाहिए। गणित का ज्ञान प्रागनुभव समझा जाता है। इसके अंतर्गत कांट तर्क और अनुभव दोनों को पर्याप्त नहीं मानते अपितु दोनों के परस्पर सहयोग से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है । अनुभव और तर्क दोनों ही ज्ञान के स्रोत हैं। दोनों का समान महत्व है और दोनों में से किसी की आलोचना नहीं की जा सकती। कांट ने ज्ञान की तीन विशेषताएं बताई हैं- सार्वभौमिकता, आवश्यकता और नवीनता।

कांट ने गणित और भौतिक विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का संश्लेषण किया और वास्तविक ज्ञान की संम्भावना का उल्लेख किया। इन्होनें बारह पक्षों को सम्मिलित करने का प्रयास किया वह इस प्रकार है- अनेकता, एकता, समग्रता, भाव, अभाव, सीमितता, कारणता, गुणार्थकता, अन्योंता, सम्भावना, वास्तविकता और अनिवार्यता। कांट ज्ञान की पूरी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ज्ञान का आरंभ संवेदनाओं से होता है और वहीं से यह ज्ञान की ओर अग्रसर होता है एवं संतुष्टि के अंतर्गत जा कर समाप्त हो जाता है। वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्षीकरण से होता है परन्तु बाह्य संसार का बोध से वस्तुओं की प्रकृति की जानकारी होती है। कांट ने दो प्रकार के सत्य बताये हैं- 1. परमार्थ सत्य- इससे बोध होता है, और 2. संवृति सत्य - इससे संवेदना होती है। कांट ने इन दोनों प्रकार के विचारों का एकीकरण किया है, जिसमें अनुभव और तर्क को ही सम्मिलित किया है।

1.9.3 विश्लेषण

विश्लेषण शब्द का अर्थ है 'इकट्ठी हुई वस्तुओं अथवा भागों की अलग-अलग प्रक्रिया' समस्या में क्या दिया हुआ है ओर क्या ज्ञात करता है, कैसे ज्ञात करता है आदि घटकों को अलग-अलग करने की विधि को विश्लेषण विधि कहते हैं। यह समस्या का हल खोजने की सर्वोतम विधि है।

ज्ञात की सहायता से अज्ञात का पता लगाया जाता है।

नोट

इस विधि में प्रश्न में दिए हुए तथ्यों का विश्लेषण करके इस रूप और क्रम मे रखा जाता है जिससे हल प्राप्त हो सके। इस प्रकार हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ते हैं। हम यह देखते हैं क्या तथ्य दिये गये हैं और उनकी सहायता से क्या परिणाम प्राप्त किये जाने हैं। फिर इन दिये गये तथ्यों और जो परिणाम प्राप्त करना है उसका उपयुक्त विश्लेषण करके दोनों के मध्य समायोजन बिठाते हैं। विश्लेषण विधि के मुख्य तीन सोपान हैं- ज्ञान हल और उत्तपत्ति।

विश्लेषण विधि के गुण

1. यह तर्कसंगत चिंतन विकसित करता है।
2. इस विधि में विद्यार्थी को आरंभ से अंत तक की सारी प्रक्रिया से स्वयं को गुजारना पड़ता है, जो उसे विषयवस्तु को स्पष्ट रूप से समझने में सहायक होता है।
3. इसमें रटने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्येक पद तर्क पर आधारित होता है।
4. इस प्रकार प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है।
5. इस विधि में विद्यार्थी की भागीदारी होती है।
6. विद्यार्थियों में खोज की भावना विकसित करती है जिससे उनमें आत्मविश्वास पैदा होता है।

विश्लेषण विधि के दोष

1. यह लंबी विधि है, जिसमें समय अधिक लगता है।
2. यह छोटे बच्चों के लिए तथा सामान्य बुद्धि वाले बालकों के लिए उपयोगी नहीं है।
3. इस विधि से गति और परिशुद्धता प्राप्त करना कठिन है।
4. यह जटिल विषय वस्तु के लिए उपयोगी होती है, जहां विषय वस्तु को छोटे टुकड़ों में विभाजित कर विश्लेषण कर विश्लेषण किया जाता है और फिर पुनः सम्पूर्ण विषयवस्तु को संगठित कर ज्ञात को अज्ञात से संबंधित किया जा सकता है।

1.9.4 संश्लेषण

यह विधि विश्लेषण विधि के ठीक विपरीत है। संश्लेषण शब्द का कोशीय अर्थ है 'अलग-अलग वस्तुओं एवं घटकों को एकत्र करने की प्रक्रिया'। इस विधि में ज्ञात से अज्ञात की और बढ़ने में समस्या के अलग-अलग भागों को इकट्ठा करते हैं। यहां कुछ चीजें जो ज्ञात हैं उनकी सहायता से आरंभ कर उन्हें, अज्ञात कथनों से जोड़ा जाता है। यहां परिकल्पना से निष्कर्ष की और बढ़ते हैं।

संश्लेषण विधि के गुण-

1. यह सरल, संक्षिप्त और सुचारु विधि है।
2. इस विधि से समय की बचत होती है।
3. गणित, विज्ञान विषयों के लिए अधिक उपयोगी है।

संश्लेषण विधि के दोष-

1. यह विधि विद्यार्थियों को निष्क्रिय श्रोता बनाती है और रटने के लिए प्रोत्साहित करती है।
2. यह बालकों के मन मे कई शंकाएं उत्पन्न करती है जिसके संतोषजनक उत्तर प्राप्त न होने पर उनके आत्मविश्वास को कम करती है।

3. यह सम्पूर्णता प्रदान नहीं करती है इसलिए इस विधि में चिंतन और तर्क की बहुत कम गुंजाइश होती है।
4. इसमें सामान्य विद्यार्थियों में आत्मविश्वास विकसित नहीं हो पाता।
5. यह अमनोवैज्ञानिक विधि है।

विश्लेषण और संश्लेषण दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरी अधूरी है। सबसे अच्छा होगा की विश्लेषण के द्वारा यह समझा जाये कि रचना क्यों की गई या किस पद का प्रयोग क्यों किया गया, इसके बाद उसे संश्लेषण विधि द्वारा समस्या को क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित ढंग से हल किया जाये।

1.10 ज्ञान के स्रोत

ज्ञान के प्रमुख स्त्रोत निम्न प्रकार के हैं -

1.10.1 संवेदना

व्यक्ति ज्ञानिन्द्रियों के द्वारा संसार की वस्तुओं के संपर्क में आता है। और जब कोई वस्तु हमारे संपर्क में आती है तो वह संवेदना उत्पन्न करती है। यह संवेदना ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजना मिलने के कारण होती है। यह संवदेना वस्तु का ज्ञान प्रदान करती है। इन संवेदनाओं का अर्थ तब समझा जा सकता जब हमें इन वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण चेतन मन में अवधारणा उत्पन्न करता है और हमारा ज्ञान इन अवधारणाओं पर ही निर्भर करता है। इन्द्रिय अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने को अनुभववादी, तार्किक, प्रत्यक्षवादी, यथार्थवादी तथा विज्ञानवादी मुख्य स्रोत मानते है। इन्द्रिय अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान की विश्वसनीयता का आकलन किया जा सकता है परन्तु उस ज्ञान की वैद्यता ज्ञात करना कठिन है।

1.10.2 साक्ष्य

जब हम दूसरों के द्वारा प्राप्त अनुभव तथा निरीक्षण पर आधारित ज्ञान को मान्यता देते हैं, तो इसे साक्ष्य कहा जाता है। साक्ष्य में व्यक्ति स्वयं निरीक्षण नहीं करता, किन्तु दूसरों के द्वारा किये गये निरीक्षण पर ही तथ्य से संबंधित ज्ञान प्राप्त करता है। अत: साक्ष्य दूसरों के अनुभव पर आधारित ज्ञान है। हमारे जीवन में साक्ष्य का बहुत उपयोग है तथा इस ज्ञान का बहुत उपयोग किया जाता है। यद्यपि हमने स्वयं बहुत से स्थानों को नहीं देखा है तथापि जब दूसरे व्यक्ति उनका वर्णन करते हैं तो हम उन स्थानों के अस्तित्व मे विश्वास करने लगते हैं।

1.10.3 तर्कबद्धि

तर्क एक मानसिक प्रक्रिया है। हमारा बहुत कुछ ज्ञान तर्क पर आधारित होता है। हमें अनुभव के आधार पर संवेदनाएं प्राप्त होती हैं जिन्हे हम तर्क द्वारा संगठित करके ज्ञान का निर्माण करते हैं। इस प्रकार तर्क अनुभव पर कार्य करता है और उसे ज्ञान में परिवर्तित करता है।

1.10.4 अंत:प्रज्ञा

अंत: प्रज्ञा से तात्पर्य है किसी तथ्य को अपने मन में पा जाना। इसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं होती इस प्रकार के ज्ञान का एकमात्र प्रमाण यह है कि हमें उसकी निश्चितता तथा वैधता में

संदेह नहीं होता हमारा उस ज्ञान पर पूर्ण विश्वास होता है।

अंत:प्रज्ञा -अंतर्दृष्टि द्वारा ज्ञान -ज्ञान प्राप्त करने का एक ऐसा साधन जिसका उल्लेख कुछ दार्शनिकों ने किया है, वह है अंतर्दृष्टि। कुछ अत्यंत प्रतिभाशाली लोगों को अकस्मात् कुछ बोध हो जाता है या तो होता है, जैसे महात्मा बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे बैठे ज्ञान प्राप्त हुआ। यह ज्ञान एक प्रकाश या बिजली की चमक के समान मस्तिष्क में अकस्मात् उदय हो जाता है। मूसा को दस महत्वपूर्ण ईश्वरीय सूत्र एक पर्वत पर बैठे प्राप्त हुए। इस्लाम के साहित्य में इसे 'इस्लाम' कहते हैं। भारतीयस दर्शन में इसकी भी चर्चा है दूसरी और मनोविज्ञान की खोजो ने अतर्दृष्टि (सूझ) पर नये ढंग से प्रकाश डाला है।

जर्मनी के मनोवैज्ञानिकों जैसे कोहलर द्वारा पशुओं पर किये गये प्रयोगों से ये सिद्ध हुआ कि किसी समस्या से जूझते हुये पशु अकस्मात् समस्या का हल प्राप्त कर लेता है, ऐसा तब होता है जब वह समस्या की सम्पूर्णता की जानकारी पा जाता है। बच्चों पर भी किये गये प्रयोगों से यह निष्कर्ष प्राप्त हुए/निकला। अत: अंतर्दृष्टि के साधन की व्याख्या की जा सकती है और शिक्षा में इसके उपयोग करने से उत्तम लाभ मिल सकते हैं।

अंतर्दृष्टि कोई प्रकाश नहीं वरन गंभीर चिंतन का परिणाम है। महान वैज्ञानिकों और विद्वानों ने अपनी समस्याओं से संघर्ष किया और कई असफलताओं के पश्चात अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई। शिक्षा में भी विद्यार्थियों की सृजनात्मकता के विकास में यह सहायक होती है। पाठ्य योजनाओं के बनाने में 'इकाई ज्ञान' का इसलिए उपयोग किया जाता है ताकि विद्यार्थी विषय की सम्पूर्णता का बोध कर सकें। 'इन्द्रियातीत' अनुभव की यह वैज्ञानिक व्याख्या शिक्षा की दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण है।

1.10.5 सत्ता अधिकारिक ज्ञान

उच्च शिक्षितों द्वारा प्रदत्त ज्ञान मनोविज्ञान ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि मानव समाज मे व्यक्तिगत भिन्नताएं है। कुछ व्यक्ति अत्यन्त प्रतिभाशाली है, जिनकी संख्या बहुत कम होती है, वे ही ज्ञान के क्षेत्र मे नई बातें जोड़ते हैं। इनके द्वारा दिया गया ज्ञान प्रतिभा ज्ञान कहलाता है। सामान्यजनों को उनके बताये गये सिद्धांत या विचार को स्वीकार कर लेना चाहिए।

शिक्षा का समस्त पाठ्यक्रम इन महान व्यक्तियों द्वारा जीवन के अनुभवों को मथकर निकाले गये मक्खन से परिपूर्ण है। इस पर यदि, विश्वास न करें, तो शिक्षा क्रम ही समाप्त हो जायेगा। इन महान व्यक्तियों की सत्ता मानना ही चाहिए। इस साधन के उपयोग में यही कमी है कि हम उनके विचारों से इतना प्रभावित न हों कि हमारा स्वतंत्र चिंतन ही समाप्त हो जाये। हम इतने अन्धविश्वासी न हो जायें कि ज्ञान से विकास का मार्ग अवरूद्ध हो जाये।

ज्ञान प्राप्त करने की विधियां

ज्ञान के उपकरण - ज्ञान के निम्न पांच उपकरण बताये गये हैं:

1. संवेदनात्मक-प्रत्यक्षीकरण या इन्द्रिय अनुभव तथा अनुभववाद
2. अंत:प्रज्ञावाद
3. दैवी ज्ञान-वास्तव में जब हम ये मानते है कि ज्ञान सत्य ही होगा, क्योंकि यह ईश्वर या परमात्मा या अलौकिक शक्ति द्वारा मानवों में प्रसारित किया गया है, तो इसे हम दैवी ज्ञान कहते है।
4. सत्तावादिता
5. बुद्धिवाद

1.11 ज्ञान के सिद्धांत

नोट

हमारे सामने जो महत्वपूर्ण समस्या आती है वह यह है कि जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसकी सत्यता का निर्णय तथा परीक्षण कैसे करें? दूसरे शब्दों में यह कैसे कहा जाये कि प्राप्त ज्ञान सत्य है। दार्शनिक सत्यता की परीक्षा के संबंध में तीन सिद्धांतो का वर्णन करते हैं।–

1.11.1 संवाद सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार सत्य विचार तथा उस वस्तु में जिसका वह विचार है, उनके आपसी संवाद पर निर्भर करता है । तथ्यों को हम सत्य या असत्य नहीं कहते, क्योंकि तथ्य तो जैसे है वैसे ही है, सत्य या असत्य तो उन तथ्यों के संबंध में कथन हैं। यदि तथ्य और कथन में भेद नहीं है तो वह सत्य है, यदि कथन तथा तथ्य एक–दूसरे के प्रतिकूल हैं तो वह असत्य है। अत: तथ्य की अनुकूलता ही उसकी सत्यता का प्रमाण है।

1.11.2 संसक्तता सिद्धांत

इस सिद्धांत का आधार यह है कि यदि मनुष्य का ज्ञान उसके प्रत्ययों तक सीमित है और हम उनकी तथ्यों के साथ अनुरूपता की परीक्षा नहीं कर सकते तो सत्यता को परखने के लिए हमें ये देखना होगा कि तथ्यों के संबंध में जो एक कथन है वह दूसरे कथन जिसको हम सत्य मानते हैं, उससे संगति रखता है।

इस सिद्धांत में हम यह मानकर चलते हैं कि मानव के समक्ष सत्यता की प्रणाली है जिसमें वह सब विचार विद्यमान हैं जिन्हें हम पहले पा चुके हैं और जिनकी सत्यता सिद्ध हो चुकी है अब जब कोई एक नया निर्णय या कथन प्रस्तुत होता है तो हम उसका परीक्षण इस सत्य प्रणाली के अनुसार करते हैं।

इसकी व्याख्या इस सिद्धांत में यह है कि यदि नया सत्य पुरानी प्रणाली में एक नये ढंग के संगठन को बना सकता है और पिछली व्यवस्था से भी बड़ी ज्ञान - व्यवस्था कायम कर सकता है तो इसे सत्य मानना चाहिए। यह सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि ज्ञान की सत्यता उसकी आत्म–संगति, संगठन तथा एकरूपता मे होती है।

जैसे - विज्ञान में पहले अणु को पदार्थ का सबसे छोटा भ्राग माना जाता था किन्तु अब ऐसा नहीं है तो क्या नवीन मान्यता असत्य है। यदि ऐसा कहते हैं तो हम किसी नई धारणा को मानने से इंकार करते हैं। वास्तव में यह गलत होगा, हमें नयी बात को सत्य मानना होगा।

1.11.3 व्यावहारवादी

व्यावहारवादी ऊपर के दोनों सिद्धांतों को नहीं मानते। वह सत्यता को परिवर्तनशील मानते हैं क्योंकि सत्य समय और स्थान के सान बदलता रहता है। वह कहते हैं कि सत्य हमारे व्यावहारिक जीवन से संबंधित है और इसके लिए ही उपयोगी है।

विलियम जेम्स के अनुसार कथन दो प्रकार के हो सकते हैं- सार्थक कथन और असार्थक कथन। सार्थक कथन का गुण सत्यता होता है। जेम्स के अनुसार एक कथन जिसका परिणाम जीवन में उपयोगी, लाभकारी तथा सुखद आदि है वह सत्य हैं। जिस कथन के परिणाम जीवन को दुखद बना

देते हैं, उसके लिए हानिकारक है, वह असत्य है। इस प्रकार सत्यता का परीक्षण हम उपयोगिता, कार्य-क्षमता, संतोष, सुख इत्यादि के आधार पर करते हैं।

नोट

जेम्स कहते है सत्य वो है जो सफल है। एक सत्यापन के तीनों सिद्धांतों के विवेचन में एक बात स्पष्ट है कि ये सिद्धांत परस्पर विरोधी नहीं हैं और अपने आप में पूर्ण भी नहीं हैं । ये सिद्धांत एक दूसरे के पूरक समझे जा सकते है। हमें इन तीनों को जोड़कर ही सत्यता की परीक्षा करनी चाहिए। हमें किसी कथन या अवधारणा का सत्यापन करना है तो यह परीक्षण करना चाहिए कि यह तथ्य के अनुकूल हो, दूसरे तथ्य प्रत्ययों के संगत भी हों तथा वह जीवन में उपयोगी भी है।

1.12 अनुभववाद का अर्थ

अनुभववाद दर्शन की वह शाखा है, जो किसी प्रागनुभूत अथवा पूर्व सिद्ध सत्य को स्वीकार नहीं करता। अनुभववाद ने एक और आदर्शवाद द्वारा प्रतिपादित पूर्व सिद्ध सत्य के विरोध में आवाज उठाई, तो दूसरी ओर प्रकृतिवाद के अमानवीय वैज्ञानिक सत्य का विरोध किया। आदर्शवाद के अनुसार जगत पूर्वनिर्धारित तथा पूर्ण है और सत्य सर्वकालिक एवं सार्वदेशिक है । इसी प्रकार प्रकृतिवाद मनुष्य को खिलौना मानकर, उसके अस्तित्व को समाप्त कर देता है। अनुभववाद इन दोनों मान्यताओं को चुनौती देते हुए अनेक स्थापनाएं प्रस्तुत करता है, जिसमें सर्वत्र नकारात्मकता झलकती है तथा पूर्व -निर्धारित सभी सिद्धांतों को इंकार करने की प्रवृति दिखाई देती है। अनुभववाद: अनुभव के समस्त ज्ञान का स्रोत माना जाता है ।

इसके अनुसार मनुष्य को ज्ञान उसकी विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त संवेदनाओं के द्वारा होता है अनुभववाद के जनक ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक के मतानुसार जन्म के समय बालक का मन एक कोरी पट्टी के समान होता है। जैसे-जैसे वह बाह्य जगत के संपर्क में आता, संवदेनाओं के रूप में वस्तुओ के चिन्ह मस्तिष्क के इस खाली पट्टी पर अंकित होते जाते हैं। अनुभववाद का विस्तार से विवेचन व स्पष्टीकरण मुख्य रूप से दो शिक्षाशास्त्री ने किया वह है- विलियम जेन्स और जॉन लॉक।

1.12.1 विलियम जेम्स के अनुसार अनुभववाद

अनुभववाद अमूर्त विचारों, अप्रर्याप्ताओं, मौखिक समाधानों, प्रागनुभूत कारणों, निश्चित सिद्धांतों बंद व्यवस्थाओं तथा भ्रांत पूर्णताओं एवं उत्पत्तियों से विरत होता है। जेम्स के अनुसार विचार का प्रयोजन मानवीय रुचियों की संतुष्टि करना है। विचार अनुभव में अंर्तनिहित होता है और अनुभव की ही उत्पत्ति विचार के रूप में उभर कर आती है। अनुभव ही सब कुछ है और जीवन के सभी मूल्य अनुभव से ही उदभूत होते हैं। अनुभव से परे कोई विचार नहीं होता। सत्य वह है जो क्रिया में प्रस्फुटित होता है, सत्य निरपेक्ष नहीं है अपितु अनुभव आश्रित है। सत्य का मूल्य व्यावहारिक है, क्योंकि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं मानवीय समस्याओं को हल करने में सत्य की अवधारणा सहायक होती है। कोई विचार सत्य है या नहीं इसका पता उसके कार्यात्मक परिणाम से ही लगाया जा सकता है। जेम्स ने अनुभववादी विधि का विस्तार नैतिक तथा धार्मिक प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए भी किया। उनके अनुसार किसी भी नैतिक विश्वास के व्यावहारिक परिणामो द्वारा यह निर्धारण करना पड़ेगा कि अमुक विश्वास सत्य है या अस्तय अथवा सही या गलत। इस प्रकार वह आदर्शवादी की पूर्व निर्धारित नैतिक सिद्धांतो को अस्वीकार करता है। धार्मिक विश्वास के बारे में जेम्स की मान्यता है कि यदि इन विश्वासों के फलस्वरूप जीवन-संघर्ष में सहायता मिलती हो तथा उससे आन्तरिक शांति प्राप्त होती है, तो अनुभव के आधार पर उनका सत्यापन होता है और

इस दृष्टि से वे सत्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

अपरिवर्तित सत्य को जेम्स स्वीकार नहीं करते। सत्य की प्रकृति के संबंध में उनकी मान्यता है कि सत्य अनेक हैं, निर्मित होते हैं, तथा निरंतर परिवर्तनशील हैं। सत्य हमारे विचार, ज्ञान, भावना तथा कर्म के क्षेत्रों के बीच का कार्यात्मक संबंध है। सत्य विचार वह है जो व्यवहार में प्रभावकारी बन सकें। सत्य वस्तुनिष्ठ नहीं होता, सत्य की स्थिति व्याववहारिक एवं मनौवैज्ञानिक है जेम्स कांट के अनुसार 'चिंतन वर्गीकरण' का परित्याग करते हुए कहता है, कि इन वर्गीकरणों का प्रयोजन विचार को समझना नहीं है अपितु अनुभवों को नियंत्रित करने में सहायता करना है। सत्य पूर्व निर्धारित नहीं होता, अपितु उसकी खोज की जाती है, उसका निर्माण किया जाता है। जेम्स के अनुसार कोई कथन सत्य या मिथ्या नहीं होता अपितु सत्यापन के पश्चात ही उसे सही या गलत कहा जा सकता है। जेम्स के अनुसार यह जगत पूर्ण नहीं है। सत्ता अनेक शक्तियों तथा संघातों का मिश्रण है, अतः उसमें एकता न होकर अनेकता विद्यमान है। जगत में वह शुभ एवं अशुभ अनेक रूपों में विद्यमान है। अन्त में मनुष्य के स्वयं के रुचिकर विचारों से जगत को बेहतर बनाया जा सकता है। ईश्वर अपूर्ण है और मनुष्य भी अपने प्रयासों द्वारा उसे पूर्ण बनाने की प्रक्रिया में सहायता ही करता है।

1.12.2 जॉन लॉक के अनुसार अनुभववाद

जॉन लॉक प्रख्यात ब्रिटिश शिक्षाशास्त्री हैं जिन्हें अनुभववाद शिक्षा प्रणाली का सर्जनहार माना जाता है। शिक्षा के संबंध मे इनका विचार था कि स्व-अनुभव के आधार पर ही वास्तविक शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। महात्मा गाँधी ने भी अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के उपरांत जॉन लॉक के अनुभव पर आधारित मतों की पुष्टि की। इनका मत है कि परिवार के द्वारा दिए जाने वाली शिक्षा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। किंडर गार्डन, मान्टेसरी, अनुभववादी सहित सभी तरह की शिक्षा प्रणालियों मे वे पारिवारिक शिक्षा को सर्वोत्कृष्ट मानते थे। परिवार में बच्चों को ममता व वात्सल्यूर्ण वातावरण में पढ़ाया जाता है जो विद्यालयों में संभव नहीं। परिवार में इतने गुण होते हैं कि उनके एक आध दोष को छुपाया जा सकता है। सही मायनों में परिवार की शिक्षा बालक को सामाजिक तथा नागरिक व्यवहार व आचरण का प्रशिक्षण स्वतः ही सिखा देता है जो किसी भी प्रकार की संस्था के द्वारा विकसित करा पाना असंभव है। वास्तव में यह पारिवारिक शिक्षा को व्यक्तिगत संस्थाओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ मानते थे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार कर यह स्पष्ट में जो सभी सीखता है, ग्रहण करता है तथा जो भी उसका स्थाई ज्ञान संचय है वह वही ज्ञान है जो उसने कहीं न कहीं किसी अनुभव के आधार पर प्राप्त किया है।

1.13 आदर्शवाद का अर्थ व परिभाषा

आदर्शवाद सबसे प्राचीन दार्शनिक विचारधारा है । आदर्शवाद का अंग्रेजी शब्द 'Idealism' है। यह दो शब्दों Idea व ism से मिलकर बना है। Idea का अर्थ विचार तथा sim का अर्थ वाद है अर्थात आदर्शवाद का अर्थ है विचारवाद। इस दर्शन का केन्द्र आदर्श न होकर विचार ही है। हिंदी में हम प्रत्ययवाद, विचारवाद, आदर्शवाद सभी का एक ही अर्थ में प्रयोग करते है। यह सभी प्रत्यय आत्मा और चेतना को, मन और आध्यात्म को, मूल्य एवं आदर्श को भौतिक आधार पर मान्यता देते हैं। इस प्रकार के विचार पाश्चात्य जगत में दार्शनिक प्लेटों ने व्यक्त किये । इनके अनुसार भौतिक जगत के पीछे विचारों का वास्तविक संसार है और यह भौतिक संसार उन विचारों के संसार का ही प्रकटीकरण है। प्लेटो ने स्पष्ट किया कि पदार्थ असत्य है और विचार अथवा प्रत्यय सत्य है। इन्होनें तर्क दिया की संसार नश्वर है, अतः सत्य नहीं हो सकता । प्लेटो ईश्वर को स्रष्टा और आत्मा को अजर-अमर तथा पूर्ण मानते थे। उनकी विचारधारा पश्चिमी जगज में विचारवाद के नाम

से प्रसिद्ध है। भारतीय दार्शनिकों की तरह प्लेटो भी शाश्वत मूल्यों एवं आदर्शो में विश्वास करते थे। उनके अनुसार सत्य, शिव, और सुन्दरम् शाश्वत मूल्य है, ज्ञान, शौर्य, आत्मसंयम और न्याय परायणता इन चारों को वे मौलिक सद्‌गुण मानते थे। प्लेटो के अनुसार वास्तव में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तितव को ऊँचा उठाना या गुण सम्पन्न करना है। इस व्यक्तित्व का मुख्य लक्षण है- सार्वभौमिक मूल्यों से युक्त होना।

अत: शिक्षा द्वारा मानव के विकास को पूर्णता प्रदान करना है, तो आदर्शवाद की विचारधारा उसकी आधार होगी और अंतिम उद्देश्य भी। शिक्षा के अलग-अलग अंगों के संदर्भ में आदर्शवादी विचारधारा का ज्ञान एवं उसके योगदान की जानकारी होना आवश्यक है।

1.13.1 आदर्शवाद की परिभाषा

आदर्शवाद के बारे में समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने तरह से परिभाषा दी है-

हॉर्न के अनुसार- आदर्शवाद का सार यह है कि ब्रह्माण्ड बुद्धि एवं अच्छा एवं इच्छा की अभिव्यक्ति है, विश्व के स्थायी तत्व की प्रकृति- मानसिक है और भौतिकता की बुद्धि द्वारा व्याख्या की जाती है।

आदर्शवादियों का विश्वास है कि मनुष्य इन मूल्यों को अपने सीमित मन से प्राप्त करता है। वे मानते हैं कि व्यक्ति और संसार-दोनों बुद्धि की अभिव्यक्तियाँ हैं। वे कहते हैं कि भौतिक संसार की व्याख्या मन से ही जा सकती है।

हेण्डरसन के अनुसार - आदर्शवाद, मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष पर बल देता है। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक मूल्य, मनुष्य के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण पहलू है।

पैट्रिक के अनुसार - भौतिकवाद, पदार्थ को मन से पहले मानता है जबकि आदर्शवाद मन को पदार्थ से पहले मानता है।

राजन के अनुसार - आदर्शवादियों का विश्वास है कि ब्रह्माण्ड की अपनी बुद्धि एवं इच्छा है और सब भौतिक वस्तुओं को उनके पीछे विद्यमान, मन द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

उपरोक्त परिभाषाओं का निष्कर्ष यह है कि वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता इसलिए आदर्शवादी विचारक वस्तु जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत को श्रेष्ठ मानते हैं एवं ईश्वर को अंतिम सत्य मानते हैं। प्लेटो विचारों की दैवीय व्यवस्था एवं आत्मा के स्वरूप को जानने को ही ज्ञान मानते हैं। प्लेटो ज्ञान के तीन स्वरूपों का वर्णन करते हैं-

1. इन्द्रियजन्य ज्ञान
2. सम्मतिजन्य ज्ञान
3. चिन्तनजन्य ज्ञान

इन्द्रियजन्य ज्ञान को वे असत्य मानते हैं क्योकि इन्द्रियों द्वारा हम जिन वस्तुओं एवं क्रियाओं का प्राप्त करते हैं, वे सब परिवर्तनशील ओर एतदर्श असत्य हैं। सम्मतिजन्य ज्ञान को वे आंशिक रूप से सत्य मानते हैं, क्योंकि वह भी अनुमानजन्य होता है ओर अनुमान सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। उनके अनुसार चिन्तनजन्य ज्ञान ही सत्य होता है क्योंकि वह हमें विचारों के रूप से प्राप्त होता है और विचार अपने में अपरिवर्तनशील और एतदर्श सत्य होते हैं। इस सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्लेटों ने नैतिक जीवन पर बल दिया है और नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए विवेक पर। इस प्रकार उनकी दृष्टि से ज्ञान का आधार विवेक होता है।

1.13.2 आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धांत

आदर्शवाद के निम्नलिखित सिद्धांत हैं-

- भौतिक, संसार नश्वर है, परिवर्तनशील है जबकि विचारक एवं प्रत्यय में स्थायित्व होता है।
- आत्मा अजर अमर है, अतः सत्य है, यह मानव शरीर नश्वर है, अतः असत्य है।
- मानव जीवन का लक्ष्य आत्मा की प्राप्ति है, जो कि अमर है।

नोट

- आदर्शवादी दार्शनिक विकास में विश्वास करते हैं।
- आत्मनुभूति अथवा ईश्वर की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक मूल्य सत्यम्, शिवम व सुन्दरम् की प्राप्ति आवश्यक है।
- आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए नैतिक आचरण आवश्यक है।
- मानव जीवन में जिनका सबसे अधिक महत्व है, वे पहलू हैं- विचार, धर्म, कला, नैतिकता व ज्ञान।
- प्राकृतिक एवं भौतिक जगत अपूर्ण है।
- मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना है।
- आध्यात्मिक जगत ही श्रेष्ठ है
- आदर्शवादी विचारकों के अनुसार पदार्थ अंतिम सत्य नहीं है।

1.14 तर्कसंगतवाद

ज्ञान मीमांसा के विचार में तर्कसंगतवाद 'ज्ञान के परीक्षण व ज्ञान का मुख्य स्रोत कारण' है या यूं कहें कि ज्ञान का स्त्रोत व औचित्य कारण है जो किसी विचार को अपील (पुनः विचार) करता है। तर्कसगत को एक विधि या सिद्धांत के रूप में स्पष्ट किया गया है जिसमें सत्य की कसौटी केवल इन्द्रिय नहीं है अपितु बौद्धिक एवं निगमन विधि है।

तर्कसंगतवाद के सिद्धांत

निम्न सिद्धांतों के आधार पर तर्कसंगतवाद को स्पष्ट किया जा सकता है-

1. संसार ईश्वर द्वारा निर्मित है- तर्कसंगत के अनुसार मनुष्य का शरीर अणुओं अर्थात पदार्थों के योग से बनता है और आत्मा के प्रवेश से वह क्रियाशील होता है बिना आत्मा के शरीर क्रियाशील नहीं हो सकता, सुख:दु:ख: नहीं भोग सकता।
2. ईश्वर और जगत दोनों सत्य है- तर्कसंगत ईश्वर और पदार्थ दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि से ईश्वर और पदार्थ जन्य, दोनों ही संसार के सत्य हैं।
3. जीव पदार्थ और आत्मा का सम्मिश्रित रूप है- तर्कसंगत के अनुसार मनुष्य का शरीर अणुओं अर्थात पदार्थों के योग से बनता है और उसमें आत्मा के प्रवेश से वह क्रियाशील होता है । बिना आत्मा के शरीर क्रियाशील नहीं हो सकता। बिना शरीर के आत्मा अनुभव नहीं कर सकता, सुखः दु:खः नहीं भोग सकता।
4. ईश्वर जीवात्मा को कर्मों के अनुसार फल देता है- तर्कसंगत के अनुसार ईश्वर कर्मफल दाता है और आत्मा कर्मफल भोक्ता है। आत्मा अपने कर्मों के अनुसार पुरानी विशेष के शरीर में प्रवेश करता है और इस शरीर के माध्यम से सुख-दु:ख भोगता है और जब उसके कर्मफल शून्य हो जाते हैं तो दु:ख भोग से मुक्त हो जाता है, जन्म - मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।
5. मानव जीवन का विकास कर्मानुसार होता है- तर्कसंगत का विश्वास है कि कोई प्राणी

एक जन्म कर्म करता है उसके अनुसार दूसरा जन्म मिलता है और इस दूसरे जन्म में वह वही बन पाता है जो उसे कर्मफल के रूप में बनाना चाहिए।

6. मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है- मुक्ति से तात्पर्य आत्मा को सुख:दु:ख के भोग से मुक्त करना है । इनकी दृष्टि मे यह तभी संभव है जब आत्मा जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाती है। इस अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्म तत्व का ज्ञान के लिए योग साधना के विषय में ज्ञान एवं योग साधना के लिए नैतिक आचरण जैसे सत्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन तथा नियम को मनुष्य को अपने व्यवहार में लाना आवश्यक है।

1.15 सारांश

सरल शब्दों में ज्ञान दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख अंग है। दर्शनशास्त्र में ज्ञान की मीमांसा को Epistemology कहा जाता हैं। दार्शनिकों के अनुसार सत्य और ज्ञान में कोई अंतर नहीं है। भारतीय दर्शन में ब्रह्म (सत्य) को ही ज्ञान कहा जाता है। इसके तीन प्रकार होते हैं- 1. सक्रिय ज्ञान- जो हमारे द्वारा उपयोग में लाया जाता है और निष्क्रिय तत्व जो दैनिक जीवन में प्रयोग नहीं लाया जाता 2. प्रत्यक्ष ज्ञान - हम स्वयं अपने जीवन में ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त करते है तथा परोक्षा ज्ञान जो हमें दूसरों के ज्ञान और पुस्तकों से प्राप्त होता है। 3. कुछ इस प्रकार के ज्ञान के तत्व कभी नहीं बदलते उनका बदलाव प्रतीत नहीं होता जबकि कई प्रकार के ज्ञान के तत्व बदलते रहते है। यह माना जाता रहा है कि जो ज्ञान विद्यार्थी स्वयं अपने प्रयास से अर्जित करता है वही सच्चा और उपयोगी होता है। विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्ति के लिए तैयार तथा अभिप्रेरित करना आवश्यक है। उसमें ज्ञानार्जन का संकल्प विकसित होना आवश्यक है । ज्ञान कई साधनों से प्रापत होता है- यथा- स्वयं का निभाव, श्रद्धा, तर्क या चिंतन, अनुमान उपमान और वाक्य, मानसिक क्रियाओं को संचालित करना, समालोचना इत्यादि। ज्ञान इन्द्रियों का प्रशिक्षण करने से अनुभव प्राप्त होता है । तर्क और चिंतन से ज्ञान पैदा ओर पुष्ट होता है। शिक्षा में कई शिक्षण विधियों का विकास हो गया है जिससे मन की एकाग्रता, स्मृति का विकास एवं अनुभव तथा आत्मविश्वास की वृद्धि होती है।

1.16 अभ्यास प्रश्न

1. ज्ञानमीमांसा से क्या तात्पर्य है?
2. ज्ञान के पक्ष को स्पष्ट कीजिए?
3. अंत: प्रज्ञा ज्ञान क्या है?
4. संवाद सिद्धांत की व्याख्या कीजिए?
5. इन्द्रियनुभव ज्ञान प्राप्ति के मुख्य स्रोत क्या हैं?

1.17 संदर्भ ग्रंथ

- ज्ञान का सिद्धांत, सतीशचंद्र चटर्जी, कलकत्ता, 1965
- ज्ञान के छह तरीके, डी. एम. दत्ता, कलकत्ता, 1960
- भारतीय ज्ञानमीमांसा, नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
- ज्ञान की अवधारणा, देवव्रत सेन, कलकत्ता

नोट

इकाई–2

बोध अथवा ज्ञान

संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे :

- बोध अथवा ज्ञान के बारे में चर्चा करने में;
- ज्ञान के विभिन्न मत को जानेंगे;

2.2 परिचय

'बोध' एक सरल प्रत्यय है। साधारणत: ज्ञाता की चेतना में विषय जिस रूप में उपस्थित होता है उसे 'बोध' की संज्ञा दी जाती है। इस अर्थ में 'बोध' की दो व्याख्याएँ हो सकती है-(क) वह 'वस्तु' जो विषय रूप ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होती है, तथा (ख) वह 'क्रिया' जिसके अन्तर्गत कोई वस्तु ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होती है। 'बोध' शब्द का व्यवहार व्याख्या (क) और व्याख्या (ख) के सम्मिलित रूप में अर्थ में होता है। साथ ही 'बोध' की व्याख्या में एक तीसरा तत्त्व भी आ जुड़ता है-ज्ञाता। इस प्रकार बोध में तीन तत्त्व समाहित होते हैं-(अ) बोध की विषय वस्तु, (ब) बोध की क्रिया, तथा (स) ज्ञाता।

2.3 त्रिपुटि ज्ञान

नोट

भारतीय परम्परा में बहुधा 'बोध' और 'ज्ञान' का प्रयोग पयार्यवाची पदों के रूप में किया जाता है। 'ज्ञान' के संप्रत्यय को समझने के लिए 'त्रिपुटि ज्ञान' के संप्रत्यय को समझना होगा। 'त्रिपुटिज्ञान' का अर्थ है- 'ज्ञान के तीन संघटक तत्त्व' ज्ञान के ये तीन संघटक तत्त्व है-ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का साधन। ये तीनों तत्त्व किसी भी ज्ञान के लिए अपरिहार्य हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है- 'कलम के ज्ञान' में तीन बातें हैं (क) वह वस्तु अर्थात् 'कलम' जितका ज्ञान हो रहा है। इसे 'ज्ञेय' कहते हैं। (ख) वह व्यक्ति, अर्थात् विषय (कलम) को जानने वाला, तथा (ग) ज्ञान का साधन, यथा इन्द्रियानुभव आदि, जिससे कलम को जाना जा रहा है। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के साधन (प्रमाण) के सम्मिलित रूप को 'ज्ञान' कहा जाता है।

"त्रिपुटिज्ञान'' की यह व्याख्या 'ज्ञान के विषय में थोड़ा संकेत अवश्य देती है किन्तु त्रिपूटिज्ञान की यह व्याख्या 'ज्ञान' की कोई सार्वभौमिक परिभाषा प्रस्तुत नहीं कर पाती। वस्तुतः ज्ञान एक सरल प्रत्यय है जिसकी परिभाषा संभव ही नहीं। किन्तु कुछ विवरणों से इसका स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। 'ज्ञान' अथवा 'बोध' हमारे दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाला एक ऐसा शब्द है जिसकी परिभाषा दैनिक जीवन के अनेक शब्दों यथा, 'पुस्तक जीवन' 'खेल' जैसे शब्दों की भाँति संभव नहीं।

पाश्चात्य तर्कनिष्ठ अनुभववादियों ने ज्ञान के इसी अपरिभाषेय स्वरूप के कारण ज्ञान के स्वरूप निरूपण के क्रम में ज्ञान की परिभाषा बतलाने की अपेक्षा उन स्थितियों को खोज प्रारंभ की जिसनमें साधारणतः 'जानना' शब्द का प्रयोग हम अपने दैनिक बोलचाल की भाषा में करते हैं। इस क्रम में किसी प्रतिज्ञप्ति 'प' को जानने के लिए तीन अनिवार्य और पर्याप्त उपाधियों की चर्चा वहाँ की गई। (क) 'प' को सत्य होना चाहिए, (ख) 'प' की सत्यता में ज्ञाता को विश्वास होना चाहिए तथा (ग) ज्ञात के पास 'प' की सत्यता के लिए प्रमाण होना चाहिए।

भारतीय दार्शनिकों ने इस रूप में ज्ञान की परिभाषा देने का कोई प्रयास नहीं किया है। वस्तुतः भारतीय ज्ञानमीमांसा 'तत्त्वमीमांसा का साधन है अतएव प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय ने अपनी तत्त्वमीमांसीय गवेषणाओं के अनुरूप ही अपनी ज्ञानमीमांसीय विवेचनाएँ भी प्रस्तुत की। तत्त्वमीमांसा से अवियोज्य होने के कारण भारतीय दार्शनिक ज्ञान का विश्लेषण तत्त्वमीमांसा से परे मात्र एक भाषायी तथ्य के रूप में करते। अतएव यहाँ सामान्यतः 'ज्ञान' को 'विषय के प्रकाशक' के रूप में ही स्वीकार किया गया है। शब्दान्तर से ज्ञान के विषय में भारतीय दार्शनिकों की एक सामान्य धारणा यह है कि 'ज्ञान वह है जो विषय को प्रकाशित करता है।' विषय की यह प्रकाशना ज्ञाता की चेतना ने में होती है। इसी अर्थ में ऊपर कहा गया कि विषय जिस रूप में ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होता है, विषय का वह रूप, विषय की उपस्थिति की वह क्रिया और स्वयं ज्ञाता ही मिलकर 'ज्ञान' अथवा 'बोध' की सर्जना करते हैं। इसी रूप में यहाँ 'त्रिपुटिज्ञान' अर्थात 'ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का साधन अथवा प्रमाण' अथवा स्वयं 'ज्ञान के सम्मिलित रूप 'ज्ञान' की धारणा का जन्म होता है।

इस त्रिपुटिज्ञान के विषय में भी यथार्थवादियों तथा प्रत्ययवादियों में मतभेद है। यथार्थवादी ज्ञान के इन तीन संघटक तत्त्वों-ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अथवा प्रमाण को परस्पर एवं दूसरे से स्वतंत्र मानते हैं जबकि प्रत्ययवादी ज्ञान के इन तीन संघटक तत्त्वों के बीच के भेद को पारमार्थिक अथवा चरम स्वीकार नहीं करते। प्रत्ययवादी मत के अनुसार यदि ज्ञाता, ज्ञेय और प्रमाण को परस्पर स्वतंत्र माने तो

इससे बाह्य संबंधवाद की समस्या उत्पन्न होगी जिससे अनन्तता दोष उत्पन्न होगा। अतएव प्रत्ययवादी, त्रिपुटिज्ञान को व्यवहारिक दृष्टि से स्वीकार करते हुए भी पारमार्थिक रूप से इसे अस्वीकार करते हैं।

2.4 प्रमा और अप्रमा

ज्ञान के विषय का प्रकाशन यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी। उदाहरणार्थ जब वस्तु, 'रज्जु' का ज्ञान ज्ञाता को 'रज्जु-रूप में ही होता है तो विषयक का यह प्रकाशन यथार्थ है, किन्तु जब वस्तु 'रज्जु' का ज्ञान ज्ञाता को सर्प' के रूप में होता है तो विषय का यह प्रकाशन अयथार्थ है। इस रूप में ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों ही हो सकता है। भारतीय परम्परा में यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के इस भेद को स्वीकार करते हुए यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' और अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' की संज्ञा दी गई है। विविध भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमा अप्रमा के भेद को निरूपित करने के लिए विस्तृत विवेचनाएँ उपलब्ध है। आगे के पृष्ठों में उनका वर्णन किया जाएगा।

2.5 'ज्ञान' और 'नॉलेज'

नॉलेज' पद की जिस प्रकार की विवेचना पाश्चात्य मत में मिलती है तथा भारतीय मत में 'ज्ञान' पद की जो विवेचना मिलती है उसमें आधारभूत भेद है। 'नॉलेज' और 'ज्ञान' के दार्शनिक विवेचन में सर्वाधिक प्रमुख भेद यही है कि 'नॉलेज' सिर्फ सत्य होता है जबकि 'ज्ञान' का सत्य और असत्य दोनों ही रूपों में पाया जाना संभव है। पाश्चात्य तर्कनिष्ठ अनुभववादी परम्परा में 'असत्य ज्ञान' एक स्वतोव्याघाती पद और 'सत्य ज्ञान' एक पुनरुक्ति है जबकि भारतीय परम्परा में न तो 'असत्य ज्ञान स्वतोव्याघातक है न 'सत्य ज्ञान' पुनरुक्ति।

साधारणत: शब्दकोष में 'ज्ञान' पद का अनुवाद 'नॉलेज' पद से किया जाता है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह अनुवाद समीचीन नहीं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय और पाश्चात्य ज्ञानमीमांसीय की आधारभूमि में भेद है अतएव दोनों दर्शनों में प्रयुक्त मूल पदों के एक-दूसरे की भाषा में रूपांतरित अथवा अनूदित करने से अनेक भ्रान्तियों के त्पन्न होने की संभावनाएँ प्रबल होती हैं। इन भ्रांतियों से बचने के लिए भारतीय अथवा पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन अथवा अनुवाद के क्रम में मूल पदों अथवा पारिभाषिक पदों को यथा-रूप छोड़ देना ही उचित होता है तथापि यदि अनुवाद की स्थितियाँ अपरिहार्य हो तो इस अनुवाद में अपेक्षित सावधानी आवश्यक है।

विविध भारतीय परम्पराओं में ज्ञान के स्वरूप, वर्गीकरण आदि की नानरूपेण चर्चाएँ हुई है। इन चर्चाओं का पृथक-पृथक संक्षिप्त विवेचन आगे के पृष्ठों पर उपलब्ध है।

2.6 सांख्य मत

सांख्य एक द्वैतवादी दर्शन है। सांख्य-मतानुसार तत्त्व दो हैं--पुरुष और प्रकृति। इनमें पुरुष चौतन्य स्वरूप और प्रकृति जड़ है। सांख्य मतानुसार ज्ञान, बुद्धि या चित्त का धर्म है। पुन: बुद्धि जड़ प्रकृति का परिणाम है। इस प्रकार सांख्य मतानुसार ज्ञान अथवा बोध प्रकृति का धर्म है।

ज्ञान विषयक सांख्य मत की यह विवेचना सांख्य के तत्त्वमीमांसा से असंगत प्रतीत होती है क्योंकि सांख्य मत में पुरुष चौतन्य स्वरूप है और साधारणत: ज्ञान का संबंध चेतना से ही जोड़ा जाता

है न कि भौतिक पदार्थ से। इस रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष का स्वरूप लक्षण होने के कारण, सांख्य मत में, ज्ञान अथवा चेतना को 'गुण' के रूप में न स्वीकार करके 'द्रव्य' के रूप में स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सांख्य मत में (क) क्या ज्ञान 'धर्म' अथवा 'गुण' है? अथवा (ख) क्या पुरुष का स्वरूप लक्षण होने के कारण ज्ञान 'द्रव्य' है?

ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य मत में 'ज्ञान' अथवा 'बोध' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है-(क) पारमार्थिक अर्थ में, (ख) व्यावहारिक अर्थ में।

पारमार्थिक अर्थ में 'ज्ञान' का अर्थ 'शुद्ध चौतन्य' है जो पुरुष का स्वरूप लक्षण है। इस रूप में ज्ञान 'द्रव्य' है। व्यावहारिक अर्थ में ज्ञान उस बुद्धि अथवा चित्त का 'धर्म' अथवा गुण है जो बुद्धि, चित्त अथवा प्रकृति का परिणाम है। इस रूप में ज्ञान 'गुण' अथवा 'धर्म' है। पुरुष के स्वरूप लक्षण के रूप में अथवा द्रव्य-रूप में ज्ञान एक स्थायी सत्ता है। इस रूप में यह न कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में कहें तो यह 'साक्षी चौतन्य' है जो निर्विकार भाव से मात्र देखत है, उससे प्रभावित नहीं होता। दूसरी ओर व्यवहारिक दृष्टि से ज्ञान एक प्रकार की 'चित्तवृत्ति' है। यह चित्तवृत्ति । अथवा ज्ञान शाश्वत न होकर उत्पन्न होती है अथवा नष्ट' भी होती है। सांख्य दार्शनिक ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पहले इन्द्रिय के माध्यम से विषय का। संबंध मन से होता है। तत्पश्चात् मन इस विषय को बुद्धि तक पहुँचाता है। विषय के सम्पर्क में आकर बुद्धि विषय का आकार ग्रहण करती है। बुद्धि का विषयाकार हो जाना 'वृत्ति' कहलाता है। किन्तु यह 'वृत्ति' ज्ञान नहीं है। यह 'वृत्ति' जब तक प्रकाशित नहीं होती तब तक विषय का 'बोध' ज्ञाता को नहीं होता। श्वृत्ति के इस प्रकाशन की व्याख्या करते हुए सांख्य कहते है कि प्रकृति का परिणाम होने के कारण बुद्धि त्रिगुणात्मिक है। जिसमें सत्व, रजस और तमस तीनों ही गुण उपस्थित हैं। बुद्धि में सतोगुण की प्रधानता होती है। सतोगण की इस प्रधानता के कारण मात्र बुद्धि में ही यह क्षमता है कि बुद्धि पुरूष को प्रतिबिम्बित करती है। पुरुष का यह प्रतिबिम्ब ही साक्षी चौतन्य है, जो द्रष्टा भाव से (अकर्ता अभोक्ता भाव से) विषय को देखता है। इस प्रकार सांख्य मतानुसार व्यवहारिक ज्ञान में भी पुरुष की भागीदारी होती है।

किन्तु प्रत्येक ज्ञान को 'यथार्थ' नहीं कहा जा सकता। ज्ञान प्रमा और अप्रमा रूप होता है। वाचस्पति मिश्र ने प्रमा की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह चित्तवृत्ति, जिसका विषय असंदिग्ध, अविपरीत और नवीन है, प्रमा कहलाती है। वाचस्पति मिश्र ने 'प्रमा' के दो अर्थ बतलाएँ हैं (क) गुख्य अर्थ में 'बुद्धि-वृत्ति' प्रमा हैं, तथा (ख) गौण अर्थ में 'पुरूष का बोध' प्रमा है।

बोध विषयक इस सांख्य मत को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

प्रथमतः साख्यं मत से यह स्पष्ट नहीं होता कि ज्ञान बुद्धि के विकार के रूप में प्रकृति का 'धर्म' है अथवा पुरुष के स्वरूप' के रूप में 'द्रव्य' है। जैसा कि हमने देखा, इस समस्या का समाधान ज्ञान के पारमार्थिक और व्यवहारिक भेद के आधार पर भी ढूँढा जा सकता है। किन्तु इस समाध ान में भी कठिनाई है। प्रथमतः ज्ञान में परमार्थ और व्यवहार का भेद मान लेने से सांख्य और अद्व ैतवेदान्त का भेद नष्ट होता है। द्वितीयतः सांख्य मत एक यथार्थवादी मत है। यह यथार्थवाद जैसे ही पारमार्थिक और व्यवहारिक ज्ञान का भेद मानता है उसका यथार्थवाद खंडित हो जाता है।

पुनः सांख्य जिस प्रकार ज्ञान के उत्पत्ति की व्याख्या 'चित्तवृत्ति की प्रकाशना' के रूप में करते हैं वह व्याख्या ज्ञानमीमांसीय न होकर तत्त्वमीमांसीय अधिक प्रतीत होती है। सांख्य तत्त्वमीमांसा की अपनी कठिनाइयाँ है, जो कठिनाइयाँ सांख्य की इस ज्ञानमीमांसा पर भी लागू हो जाती हैं।

नोट

ज्ञान की उत्पत्ति की यह सांख्यीय व्याख्या भी तत्त्वमीमांसीय की भी अपेक्षा काल्पनिक अधिक प्रतीत होती है, जिस कल्पना में भी तार्किक असंगतियाँ हैं। उदाहरणार्थ 'पुरुष के बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने' से वस्तु के ज्ञान की कोई संगति नहीं दिखती। वस्तुतः 'पुरुष के बुद्धि में प्रतिबिम्बित' होने की कल्पना पुरुष के द्रष्टा-भाव' के निरूपण के लिए की गई है। किन्तु पुरुष के द्रष्टा-भाव का निरूपण तो पुरुष की बुद्धि में विषय के प्रतिबिम्बित हुए बिना भी हो सकता है। यदि पुरुष स्वरूपतः 'ज्ञाता है तो वह वस्तुओं का ज्ञान वस्तुओं के बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए बिना भी प्राप्त कर सकता है।

ज्ञान के भेद सांख्य मत में ज्ञान अथवा वृत्ति के पाँच भेद बतलाए गये हैं।ख्र (क) प्रमा, (ख) विपयर्य (भ्रम), (ग) संशय अथवा विकल्प, (घ) स्वप्न, (ङ) स्मृति पुनः प्रमा अथवा प्रमाण के तीन भेद होते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। जिस ज्ञान में बद्धि वस्तु का रूप धारण करती है (अर्थात इन्द्रिय-ज्ञान) वह ज्ञान 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' कहलाता है। व्याप्य को देखकर व्यापक का ज्ञान (ध ूम्र को देखकर अग्नि का ज्ञान अथवा लिंग से लिगि का ज्ञान' अनुमान है। आप्तोपदेश शब्द है। पुनः विपयर्य के पाँच भेद है। इनमें प्रमा यथार्थ ज्ञान है तथा शेष चार विपयर्य, संशय, स्वप्न और स्मृति अप्रमा रूप हैं।

वाचस्पति मिश्र विद्या और अविद्या के भेद से विद्या के तीन प्रकार बतलाते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। पुनः, यहाँ अविद्या के भी तीन भेद बतलाए गए हैं-संशय, विपयर्य और स्मृति। वाचस्पति मिश्र ने बलपूर्वक कहा है कि अविद्या के तीन ही भेद हैं। इसकी संख्या न तो तीन से अधिक है तौर ने तीन से कम।

सांख्योक्त ज्ञान के इस वर्गीकरण को निम्नलिखित रेखाचित्र के माध्यम से दर्शाया जा सकता है।
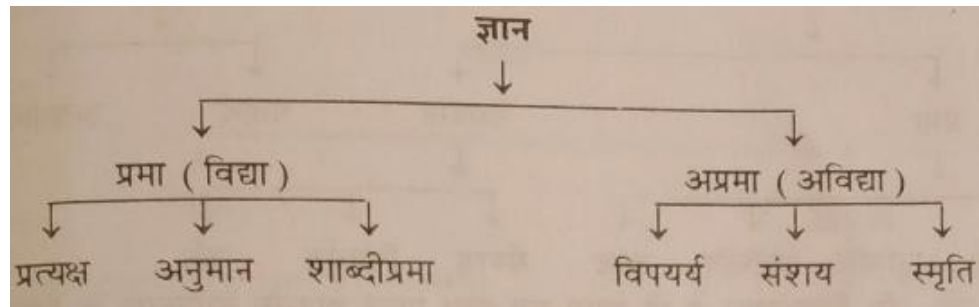
2.7 न्याय-वैशेषिक मत

न्याय मत में 'ज्ञान' को 'बुद्धि' और 'उपलब्धि' का पयार्यवाची कहा गया है। वैशेषिक मत भी इन पदों का पर्यायवाची ही कहता है। प्रशस्तपाद 'ज्ञान' 'बुद्धि, 'उपलब्धि' के अतिरिक्त 'प्रत्यय' को भी पयार्यवाची कहते हैं। वैशेषिक मत में बुद्धि को 'गुण' कहा गया है। न्याय मत भी ज्ञान को 'गुण' के रूप में स्वीकार करता है। न्याय मतानुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। न्याय दर्शन में आत्मा एक प्रमेय पदार्थ है जिसके विषय में कहा गया है कि आत्मा ज्ञान, इच्छा आदि गुणों के ज्ञान का आध

ार है। अन्नम भट्ट ने तर्कसंग्रह में आत्मा (द्रव्य) को ज्ञान का अधिकरण कहा है। इसी ग्रंथ में अन्यत्र ज्ञान को 'गुण' कहा गया है। तर्कभाषा में केशव मिश्र ने भी ज्ञान को 'गुण' ही कहा है। न्याय मत के अनुसार ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है। इसी अर्थ में ज्ञान का उदय होता है अथवा 'ज्ञान का अभाव' भी होता है। न्याय मत में ज्ञान न तो स्वत:प्रामाण्य है। और नहीं स्वत:प्रकाश्य। न्याय मत में ज्ञान बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है और ज्ञान की। सत्यता-असत्यता भी बाह्य कसौटियों के द्वारा ही निर्धारित की जाती है।

ज्ञान का वर्गीकरण - न्याय मत के अनुयायियों में ज्ञान के वर्गीकरण के विषय में मतैक्य नहीं है। इसका कारण यह है कि महर्षि गौतम कृत न्यायसूत्र में अथवा वात्स्यायन भाष्य में भी ज्ञान का कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं मिलता। न्याय मत के आधुनिक अध्येयताओं ने न्याय तथा वैशेषिक मत के विविध ग्रंथों के आधार पर मुख्यत: दो प्रकार से न्याय मत द्वारा ज्ञान के वर्गीकरण का निरूपण किया है। इनमें एक मत श्री सतीशचन्द्र चटर्जी तथा उनके समर्थकों का है तथा दूसरा मत डॉ. श्रीनारायण मिश्र तथा उनके समर्थकों का है। श्री चटर्जी का मत-श्री सतीशचन्द्र चटर्जी के अनुसार न्याय मत में ज्ञान दो प्रकार के हैं-अनुभूति और स्मृति रूप। इनमें अनुभूति के दो प्रकार की हैं-प्रमा और अप्रमा रूप। स्मृति प्रमा और अप्रमा की कोटि के बाहर हैं। पुन: स्मृति दो प्रकार की हो सकती है-यथार्थ एवं अयथार्थ। इसी भाँति प्रमा के चार प्रकार हैं--प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। अप्रमा के तीन रूप हैं-संशय, विपयर्य और तर्क।

श्री चटर्जी प्रदत्त न्याय मत के ज्ञान विषयक इस वर्गीकरण को प्रस्तुत रेखाचित्र से दर्शाया जा सकता है
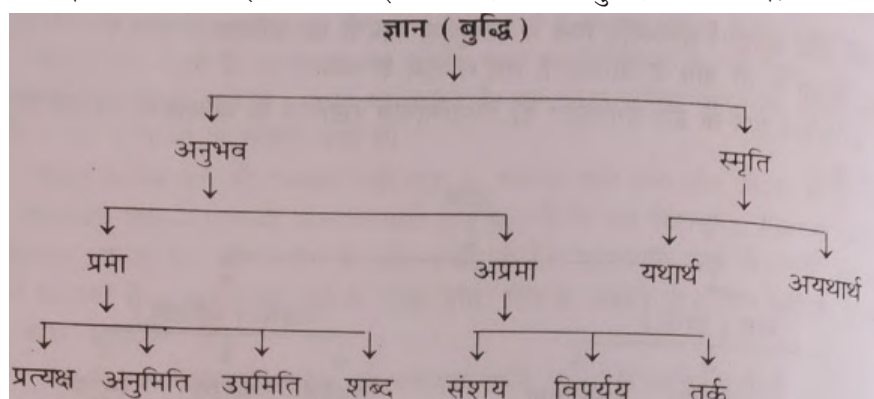
श्री सी, डी, विजलवान ने भी न्याय मत द्वारा प्रदत्त ज्ञान के वर्गीकरण के विषय श्री चटर्जी के मत का ही समर्थन किया है।

श्री नारायण मिश्र का मत -डॉ0 श्री नारायण मिश्र के मतानुसार श्री चटर्जी प्रदत्त न्याय मत के इस वर्गीकरण में दोष है क्योंकि न्याय मतानुसार स्मृति को अप्रमा की कोटि से बाहर नहीं रखा जा सकता। श्री मिश्र के अनुसार न्याय मत में स्मृति अप्रमा है।

श्री मिश्र के अनुसार न्याय मतोक्त ज्ञान के वर्गीकरण को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है

वैशेषिक मत में ज्ञान का वर्गीकरण अन्य प्रकार से किया गया है। यहाँ स्मृति को यथार्थ ज्ञान के वर्ग में रखा गया है।

नोट
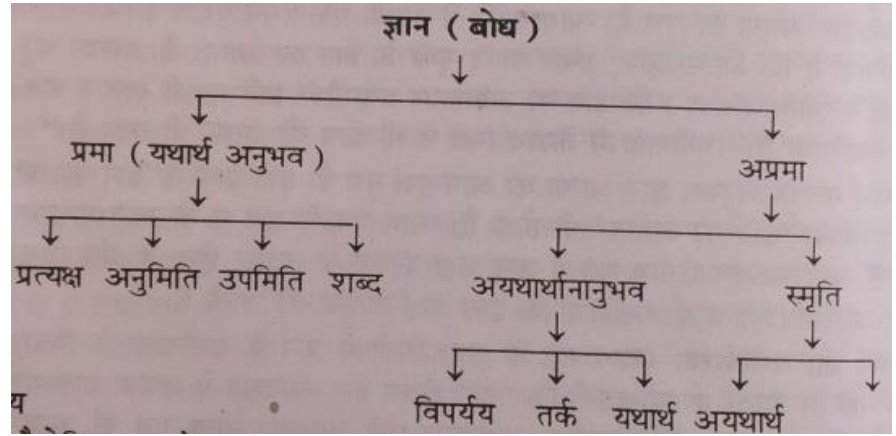
प्रशस्तपाद का मत : प्रशस्तपाद ने ज्ञान का भिन्न प्रकार का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। प्रशस्तपाद के अनुसार अनेक प्रकार के विषय होने से ज्ञान भी अनेक प्रकार के है किन्तु संक्षेप में उन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है (क) विद्या और (ख) अविद्या इनमें अविद्या चार प्रकार की है संशय, विपर्यर्य, अनध्यवसाय तथा स्वप्न। इनमें दो धर्मो को विषय करने वाला ज्ञान (यथा, 'यह रज्जु है अथवा यह सर्प है') संशय है। पुन: संशय भी दो प्रकार के हैं आन्तरिक और बाह्य। पुन बाह्य संशय भी दो प्रकार के हैं-प्रत्यक्ष विषयक और अप्रत्यक्ष विषयक अथवा अनुमान विषयक। विपयर्य भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष (अनुमान विषयक) के भेद से दो प्रकार के हैं। अनध्यवसाय भी दो प्रकार के हैं प्रत्यक्ष और अनुमान विषयक। पुन: स्वप्न ज्ञान भी तीन प्रकार के हैं संस्कारजन्य, धातुदोषजन्य तथा अदृष्टजन्य। पुन: प्रशस्तपाद के अनुसार विद्या भी चार प्रकार की हैं-प्रत्यक्ष, अनुमिति, स्मृति तथा आर्षज्ञान। प्रशस्तपादोक्त ज्ञान के इस वर्गीकरण को निम्नलिखित रेखाचित्र के द्वारा दर्शाया जा सकता है।

2.8 मीमांसा मत

नोट
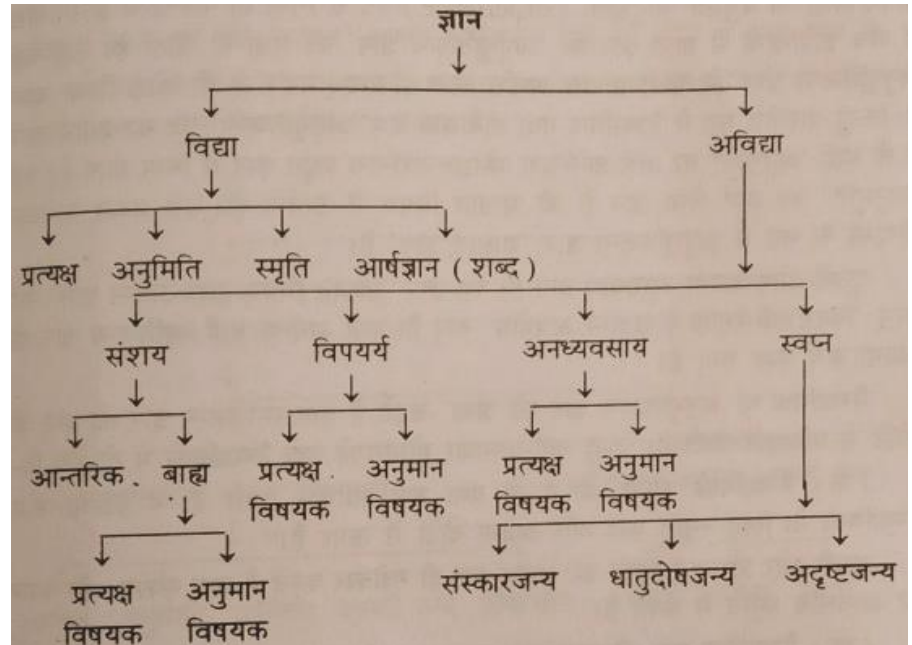
जैसा कि हम जानते हैं कि मीमांसा मत के दो प्रस्थान ख्यात हैं प्राभाकर मीमांसा तथा भाट्ट मीमांसा। प्रभाकर मत के प्रतिपादक प्रभाकर मिश्र तथा भाट्ट मत के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट हैं। मीमांसा मत के ये दोनों ही प्रस्थान अपनी गवेषणाओं को जैमिनीकृत मीमांसासूत्र के शाबरभाष्य पर आधारित करते हैं। अतएव प्राभाकर और भाट्ट एक ही मत के समर्थक कहे जाते हैं। तथापि शाबरभाष्य की पृथक-पृथक विवेचनाओं के कारण इन दोनों मतों में मौलिक भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। दृष्टिकोण का यह भेद इन दोनों प्रस्थानों की ज्ञानमीमांसा में भी उपस्थित होता है। अतएव मीमांसा मत के अन्तर्गत प्रभाकर और भाट्ट मतों की पृथक-पृथक विवेचना अपेक्षित होती है।

2.9 प्रभाकर मत

नैय्यायिकों की भाँति प्राभाकर भी ज्ञान अथवा बोध को 'अनुभूति' के पद में ही परिभाषित करते हैं। नैय्यायिकों की ही भाँति मीमांसा मत भी यथर्थावादी है अतएव ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद की अनिवार्यता के तहत प्रभाकर मीमांसा मत भी यह मानता है। कि ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता से स्वतंत्र है तथा ज्ञेय (विषय) ज्ञाता की चेतना में उसी रूप में उपस्थित होता है जैसा कि वह है। अपने इसी ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद के कारण प्रभाकर मीमांसक प्रत्येक ज्ञान अथवा बाध को अनिवार्यत: सत्य मानते हैं। यही कारण है कि ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में प्रभाकर स्वत:प्रामाण्यवाद का समर्थन करते हैं तथा यह कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान स्वरूपत: सत्य होता है तथा इस ज्ञान की सत्यता भी स्वत:प्रकाश्य ही होती है।

प्रभाकर मीमांसक भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति प्रमा और अप्रमा में भेद करते हैं। प्राभाकर मत में प्रमा अनुभूतिजन्य ज्ञान है। यहाँ 'अनुभूति' का अर्थ पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में प्रयुक्त 'अनुभूति' पद से भिन्न है। पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को 'अनुभूतिजन्य ज्ञान' की संज्ञा दी जाती है। कहीं कहीं अनुभूतिजन्य ज्ञान को छठी इन्द्रिय अर्थात् अन्त:इन्द्रिय (मन) से भी जोड़ लिया है। किन्तु भारतीय मत में नैय्यायिक तथा मीमांसक जब 'अनुभूतिजन्य' पद का प्रयोग करते हैं तो यहाँ 'अनुभूति' का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरेन्द्रिय प्रसूत ज्ञान से भिन्न होता है। यहाँ 'अनुभूति' का अर्श वैसा ज्ञान है जो साक्षात विषय से उत्पन्न हो। इस प्रकार प्रभाकर मीमांसा के मत में अनुभूतिजन्य ज्ञान 'साक्षात ज्ञान' है।

दूसरी ओर अप्रमा असाक्षात ज्ञान है। यह ज्ञान साक्षात विषय द्वारा उत्पन्न ज्ञान नहीं वरन् 'विषय की स्मृति से उत्पन्न अवबोध' रूप है। इसी अर्थ में यहाँ स्मृतिजन्य ज्ञान को अप्रमा रूप कहा गया है। नैय्यायिक भी अनुभूतिजन्य ज्ञान को प्रमा' कहते हैं तथा स्मृतिजन्य ज्ञान को प्रमा की कोटि से बहिष्कृत करते हैं। किन्तु यहाँ प्रभाकर मीमांसकों तथा नैय्यायिकों में दो भेद हैं

(1) नैय्यायिकों स्मृति को न तो प्रमा रूप स्वीकार करते हैं, न अप्रमा रूप। नैय्यायिकों के लिए स्मृति प्रमा और अप्रमा दोनों से ऊपर है। दूसरी ओर प्रभाकर स्मृति को अप्रमा रूप ही स्वीकार करते हैं तथा संशय और स्वप्न का अन्तर्भाव स्मृति में करते हैं।

(2) नैय्यायिक भ्रम की भावात्मक व्याख्या करते हुए भ्रम को एक प्रकार का बोध अथवा ज्ञान कहते हैं। न्याय मतानुसार भ्रम अयथार्थ ज्ञान अथवा अप्रमा-रूप बुद्धि हैं।

दूसरी ओर प्रभाकर भ्रम की अभावात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इसे 'अख्याति' (अ . ख्याति = बोध का अभाव अथवा 'अज्ञान') के रूप में स्वीकृत करते हैं।

नोट

वस्तुत: प्राभाकर मीमांसक ज्ञान के दो भेद करते हैं-भाव रूप ज्ञान और अभाव रूप ज्ञान। भावरूप ज्ञान के पुन: दो भेद हैं-साक्षात ज्ञान अथवा अनुभूत ज्ञान और असाक्षात ज्ञान अथवा अननुभूत ज्ञान अथवा स्मृति। पुन: साक्षात ज्ञान के पाँच भेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी प्रमा तथा अर्थापत्ति तथा असाक्षात ज्ञान के अन्तर्गत स्मृति, संशय और स्वप्न रखे जाते हैं। साक्षात ज्ञान को प्रमा रूप माना गया है तथा असाक्षात ज्ञान को अप्रमा रूप कहा गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्राभाकर मत में प्रमा और अप्रमा का भेद 'बोध के यथार्थत्व' पर आधारित नहीं है क्योंकि प्रभाकर मत में बोध अथवा ज्ञान कभी भी असत्य अथवा अयथार्थ नहीं हो सकता, यह सदैव सत्य है। यहाँ प्रमा और अप्रमा का भेद बोध की विषय-वस्तु के साक्षात्कारित्व और असाक्षात्कारित्व पर आधारित है। प्रमा में जिस वस्तु का बोध होता है वह वस्तु यथार्थत: ज्ञाता के सम्मुख उपस्थित होती है जबकि अप्रमा मंध ज्ञाता को जिस वस्तु का बोध होता है वह वस्तु ज्ञाता के सामने साक्षात रूप से उपस्थित नहीं होती। अप्रमा में बोध की वस्तु अनिवार्यत: स्मृति रूप ही उपस्थित होती है। स्मृति की विशेषता है कि स्मृतिजन्य ज्ञान 'गृहीतग्राही' (पहले से जाने हुए वस्तु का पुन: बोध) होता है। इसी कारण से संशय और स्वप्न का अन्तर्भाव प्रभाकर स्मृति में करते हुए इन्हें अप्रमा की कोटि में रखते है क्योंकि संशय और स्वप्न में बोध यथार्थ वस्तु से उत्पन्न न होकर वस्तु की स्मृति से उत्पन्न होता है। पुन: प्राभाकर मत में भ्रम की स्थिति स्मृति से भी भिन्न है क्योंकि भ्रम में ज्ञान न तो साक्षात विषय से उत्पन्न होता है, न असाक्षात विषय से उत्पन्न होता है, वरन् प्रभाकर मीमांसा के अनुसार 'भ्रम' बोध अथवा ज्ञान है ही नहीं। भ्रम तो 'अज्ञान' अथवा बोध (ज्ञान) का अभाव है। इसीलिए यहाँ भ्रम को प्रमा और अप्रमा दोनों ही कोटियों से बहिष्कत करते हुए इसे 'अज्ञान' अथवा अभावरूप ज्ञान की कोटि में रखा गया है। प्राभाकारों के दिए गए विवरण के आधार प्रभाकर मतानुसार ज्ञान के वर्गीकरण को निम्नलिखित सारणी से दर्शाया जा सकता है
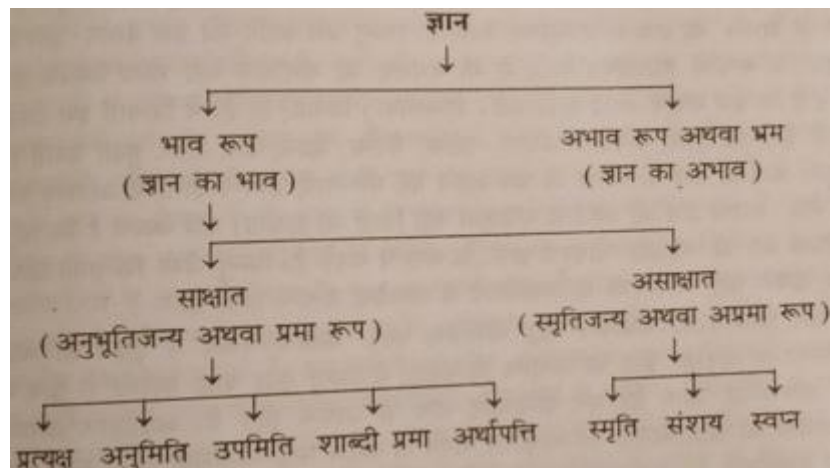
2.10 भाट्ट मत

प्राभाकारों की भाँति भाट्ट मीमांसक भी ज्ञान को साक्षात और असाक्षात के पदों में परिभाषित करते हैं। साक्षात ज्ञान अनुभूतिजन्य ज्ञान है और असाक्षात ज्ञान स्मृतिजन्य ज्ञान है। स्मृतिजन्य ज्ञान ज्ञान

नोट

का अवैध रूप है। इस अर्थ में स्मृतिजन्य ज्ञान अपमा रूप है। पुनः समस्त साक्षात ज्ञान भी प्रमा अथवा वैध नहीं है। प्रमा रूप ज्ञान के चार लक्षण भाट्ट मीमांसक बतलाते हैं (क) प्रमा रूप ज्ञान अर्थ (विषय) के द्वारा उत्पन्न होता है (स्मृति तथा स्वप्न इसी रूप में प्रमा नहीं है क्योंकि ये विषय द्वारा उत्पन्न नहीं हैं), (ख) प्रमा रूप ज्ञान निश्चित (दृढ़) होता है (संशय इसी अर्थ में प्रमा नहीं है क्योंकि संशय में निश्चयात्मकता का अभाव होता है), (ग) प्रमा रूप ज्ञान अबाधित अथवा अविसंवादी होती है (भ्रम इसी रूप में प्रमा नहीं है क्योंकि वह परवर्ती बोध के द्वारा बाधित हो जाता है), तथा (घ) प्रमा रूप ज्ञान 'अगृहितग्राही' अथवा अनधिगत होता है (अनुवाद अथवा संवाद इसी अर्थ में प्रमा नहीं है क्योंकि इसमें नवीनता का अभाव होता है। स्मृति भी इसी कारण से अप्रमा कही जाती है।) इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों के अनुसार ज्ञान प्रमा और अप्रमा रूप है। प्रमा रूप ज्ञान के छः भेद हैंख्रप्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी प्रमा, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। अप्रमा रूप ज्ञान पाँच प्रकार के हैं-स्मृति, स्वप्न, संशय, विपयर्य (श्रम) तथा संवाद (अनुवाद)।

प्राभाकर और भाट्ट मीमांसकों की बोध विषयक अवधारणा में मुख्य भेद यह है कि प्रभाकर मीमांसक अप्रमा को अज्ञान (ज्ञान का अभाव) कहकर इसे ज्ञान अथवा बोध की कोटि से बहिष्कृत करते हैं जबकि भाट्ट मीमांसक अप्रमा को 'बोध अथवा ज्ञान के आभाव के पद में परिभाषित न करके इसे 'अयथार्थ ज्ञान' के पद में परिभाषित करते है। इससे भाट्ट मीमांसकों के सम्मुख एक कठिनाई उत्पन्न होती है। भाट्ट मीमांसा एक यथार्थवादी मत है जिसके अनुसार ज्ञान की विषय-वस्तु ज्ञाता से स्वतंत्र है तथा ज्ञाता की चेतना में सदैव उसी रूप में उपस्थित होती है जैसी वह है। इसके साथ ही भाट्ट मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी भी है। अर्थात् इस मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अनिवार्यतः सत्य ही है। ऐसी स्थिति में, जब प्रमा को 'अवैध ज्ञान' अथवा 'अयथार्थ ज्ञान' कह दिया जाता है तो इससे भाट्टों का यथार्थवाद खण्डित होता है। अपने इसी यथार्थवाद की रक्षा के लिए प्रभाकर मीमांसक प्रत्येक ज्ञान को वैध मानते है तथा अप्रमा को ज्ञान की कोटि से बहिष्कृत करते हुए इसे 'ज्ञान के अभाव' के रूप में परिभाषित करते है। किन्तु भ्रम आदि को इस प्रकार 'ज्ञान के-अभाव' के रूप में परिभाषित करने से भी समस्या का समाधान नहीं होता क्योकि हम जानते हैं कि भ्रम संशय आदि बोधात्मक (ज्ञानात्मक) क्रियाएँ ही है। ये क्रियाएँ इस प्रकार नहीं है जैसा कि दूसरी मानवीय क्रियाएँ-उठना, बैठना, खाना-पीना आदि हुआ करती है। वस्तुतः बोध के दोष के कारण ही भ्रम आदि की समस्याएँ उत्पन्न होती है अतएव भ्रम को 'बोध' अथवा ज्ञान की कोटि से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि भाट्ट मीमांसक भ्रम की व्याख्या 'दोषपूण ी ज्ञान के रूप में करते हैं। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा, इससे भाट्ट मीमांसकों के यथार्थवाद में अवरोध उत्पन्न होता है।

इस समस्या का समाधान भाट्ट मीमांसक परतः अप्रामाण्यवाद में ढूँढ़ते हैं। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य तो स्वतः है किन्तु कुछ बाह्य कारणों से ज्ञान में दोष उत्पन्न हो जाता है। भ्रम इन्द्रियादि दोष से उत्पन्न होते हैं। अप्रामाण्य अथवा अयथार्थत्व को बाह्य कारणों पर आधारित मानने के कारण भाट्ट मीमांसक किसी सीमा तक अपने यथार्थवाद की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

भाट्ट मीमांसकों के दिए गए विवरण के आधार पर भाट्टों के अनुसार बोध (ज्ञान) के वर्गीकरण को निम्नलिखित रेखाचित्र से दर्शाया जा सकता है।

नोट
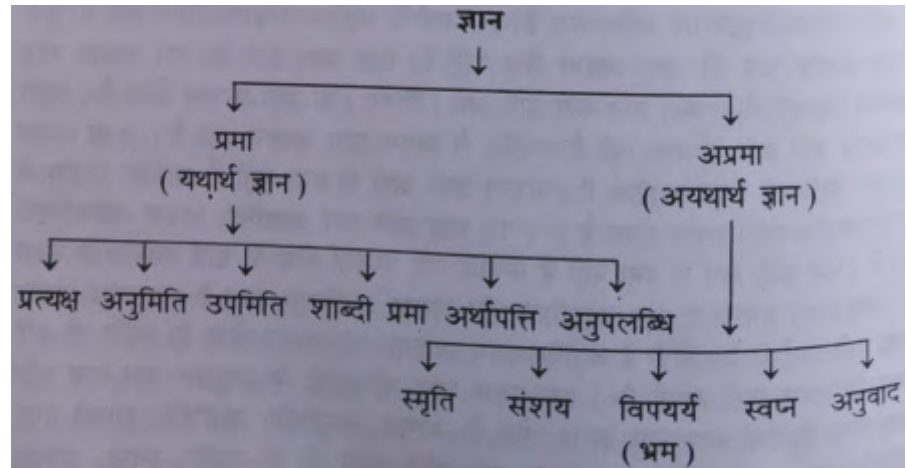
2.11 जैन मत

जैन मत भी ज्ञान को 'विषय की चेतना' के अर्थ में ही परिभाषित करता है। जैन मत के अनुसार ज्ञान अथवा चेतना जीव का गुण है। यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि जैन दार्शनिक 'गुण' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में करते हैं। साधारणत: न्याय वैशेषिक गुण को द्रव्य पर आधारित मानते हैं तथा गुण और द्रव्य को पृथक-पृथक सत्ताएँ स्वीकार करते हैं जो समवाय संबंध द्वारा परस्पर जुड़े हैं। इससे भिन्न जैन दार्शनिक द्रव्य और गुण में इस प्रकार का भेद अथवा संबंध नहीं मानते। जैन मत एकमात्र द्रव्य को ही पदार्थ मानता है। गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहते हैं। गुण और पर्याय इस द्रव्य के ही आत्मस्वरूप हैं। ये किसी भी भाँति द्रव्य से पृथक नहीं। द्रव्य के परिणाम या परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। पयार्य यह बतलाते हैं कि द्रव्य परिवर्तनशील है। जिसके कारण द्रव्य सजातीय के समान और विजातीय के असमान प्रतीत होते हैं वह 'गुण' है। जैन मत के अनुसार द्रव्य के दो विशेषण है-गुण और पर्याय। गुण और पर्याय के संबंध को लेकर जैन दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कुछ जैन आचार्यो, यथा सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि के अनुसार गुण और पर्याय में अभेद है। दूसरी ओर आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पूज्यपाद, विद्यानन्द आदि गुण तथा पर्याय में भेद करते हुए कहते हैं कि द्रव्य हमारे ज्ञान का विषय है जो गुणों से विशेषित तथा पयार्य से संबंधित होते हैं। गुण और पर्याय के बीच इस भेदवादी मत के अनुसार गुण द्रव्य के आन्तरिक विशेषण है जबकि पर्याय द्रव्य के बाह्य विशेषण हैं। गुण अपरिवर्तनशील है और पर्याय परिवर्तनशील। गुण सहभावी है और पर्याय क्रमभावी। इसके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक गुण और पर्याय में भेदाभेद का संबंध मानते हैं। इस मत के समर्थक अकलंकदेव तथा वादिदेव हैं। इस मत के अनुसार गुण द्रव्य में कालाभेदापेक्षयास्थित (कालभेद से तटस्थ) स्थिर होते हैं जबकि पर्याय कालभेदापेक्षया (कालभेद की अपेक्षा से) स्थित होते हैं। इस दृष्टि से गुण और पर्याय में भेद हैं, किन्तु एक दूसरी दृष्टि से गुण और पर्याय में अभेद भी है। गुण तथा पर्याय दोनों के धर्मपेक्षया होने से दोनों में अभेद भी हैं। जैन दार्शनिकों द्वारा दिए गए द्रव्य और गुण के संबंध की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि चूंकि द्रव्य और गुण में पूर्ण भेद नहीं होता, अतएव जैन मतानुसार, जीव और ज्ञान में भी पूर्ण भेद संभव नहीं। किन्तु दूसरी तरफ इनमें पूर्ण अभेद भी नहीं है। जैन मतानुसार ज्ञान जीव

से अनिवार्य रूप से संबद्ध रहता है, आकस्मिक रूप में नहीं। जीवन में 'ज्ञान का अभाव' कभी नहीं होता किन्तु कर्म के आवरण के अनुसार जीव में ज्ञान का न्यूनाधिक्य (कम अथवा अधिक मात्रा) संभव है। इस प्रकार जैन मतानुसार ज्ञान का उदय' आदि पद। अलंकारिक है।

नोट

ज्ञान का वर्गीकरण : जैन मत में ज्ञान के दो प्रकार के वर्गीकरण देखने को मिलते हैं। इनमें पहला वर्गीकरण अकलंकदेव के पूर्व का है तथा दूसरा वर्गीकरण अकलंकदेव के पश्चात का है।

अकलंकदेव के पूर्व ज्ञान का वर्गीकरण प्रारंभिक न्याय मत में ज्ञान के पाँच भेद किए गए मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान।' पुनः मति ज्ञान को स्मृति, संज्ञा, चिन्ता तथा अभिनिबोध का पर्यायवाची कहा गया।42 आचार्य कुन्दकुन्द (पहली/ दूसरी ईस्वी) ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के भेद से ज्ञान के दो प्रकार बतलाए। साधारणतः न्याय तथा अन्य मतों में इन्द्रियादि साधन से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रत्यक्ष ज्ञान की इस परिभाषा का खंडन करते हुए कहा कि इन्द्रियाँ तो अनात्म रूप होने के कारण 'पर द्रव्य' है अतएव इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष अथवा साक्षात ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस प्रकार प्रत्यक्ष की मान्य परिभाषा में संशोधन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा कि मन और इन्द्रियों के सहयोग से प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान है और जो ज्ञान, मन और इन्द्रियों के सहयोग के बिना आत्मा से साक्षात् रूप से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान है। पुनः प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद बतलाए गए अवधि ज्ञान, मनःपयर्य ज्ञान तथा केवल ज्ञान। अवधि ज्ञान तथा मनःपयर्य ज्ञान को 'विकल प्रत्यक्ष' कहा गया तथा केवल ज्ञान को 'सकल प्रत्यक्ष' कहा गया। सकल प्रत्यक्ष वह प्रत्यक्ष है जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक पर्याय को प्रत्यक्ष जानता है। यही ज्ञान 'केवल ज्ञान' है। परोक्ष ज्ञान के दो भेद किए गए–मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान। मति ज्ञान इन्द्रिय तथा मन को साधन बनाकर अर्जित किया जाने वाला ज्ञान है। साधारणतः इसे 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा जाता है किन्तु जैन मत इस ज्ञान को अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ज्ञान कहता है। मतिज्ञानपूर्वक होने वाले विशेष ज्ञान को 'श्रुत ज्ञान' कहते हैं। मति ज्ञान को स्मृति, संज्ञा, चिन्ता तथा अभिनिबोध का पर्यायवाची कहा गया। मति ज्ञान के चार भेद बतलाए गए–अवग्रह, ईहा. अवाय तथा धारणा। अकलंकदेव के पूर्व जैन न्याय द्वारा किए गए ज्ञान के इस वर्गीकरण को निम्नलिखित रेखाचित्र से दर्शाया जा सकता है
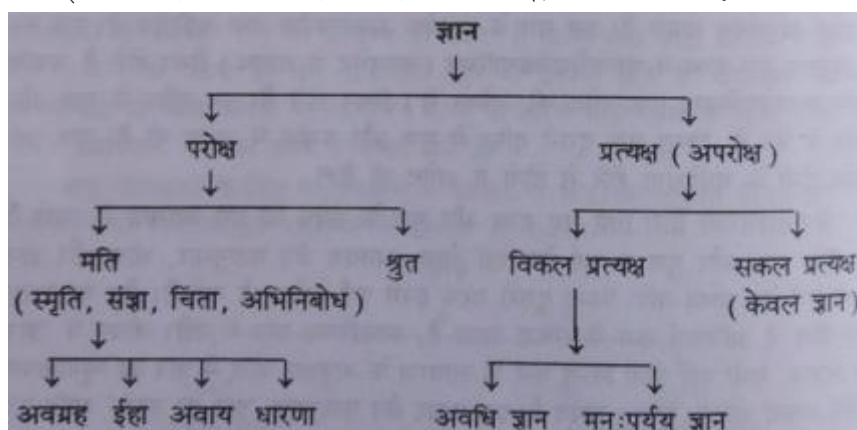
अकलंकदेव के अनन्तर ज्ञान का वर्गीकरण – अकलंकदेव के समय तक भारतीय ज्ञानमीमांसा का पर्याप्त विकास हो चुका था। इस काल में जैन नैय्यायिकों के सम्मुख दो प्रमुख समस्याएँ उपस्थित

थीं-प्रथमत: प्रत्यक्ष के स्वरूप को लेकर यह समस्या थी कि भारतीय न्यायशास्त्र में सर्वत्र इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि में रखा गया था जबकि जैन दार्शनिक इन्द्रिय ज्ञान को परोक्ष ज्ञान की कोटि में रखते थे। इससे वादाधिकरण में अनेक जटिलताएँ उपस्थित होती थी। द्वितीयत: अन्य परम्पराएँ अनुमानादि अन्य प्रमाणों की चर्चा करती थी तथा इन प्रमाणों को प्रत्यक्षेतर ज्ञान में व्यवस्थित करती थी जबकि जैन न्याय के भीतर अनुमानादि प्रमाणों को लेकर कोई स्पष्ट मतंव्य विकसित नहीं हो पाया था।

इन व्यवहारिक समस्याओं के समाधान के लिए अकलंकदेव ने जैन न्याय परम्परा को पुनव्यवस्थित किया। इस योजना के अन्तर्गत अकलंकदेव ने जैन परम्परा में नए रूप में ज्ञान का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इस क्रम में जैन परम्परा का पालन करते हुए अकलंकदेव ने भी ज्ञान को प्रथमत: परोक्ष और प्रत्यक्ष के दो वर्गों में रखा। तदनन्तर प्रत्यक्ष के दो भेद किए-सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष। संव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत इन्होंने 'मतिज्ञान' को व्यवस्थित किया जो मति ज्ञान प्राचीन जैन परम्परा में इन्द्रिय ज्ञान के रूप में परोक्ष ज्ञान की श्रेणी में व्यवस्थित किया गया था। पुन: परोक्ष ज्ञान की श्रेणी में आगम (श्रुत ज्ञान), स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमान को व्यवस्थित किया।

इस प्रकार अकलंकदेव के अनन्तर जैन न्याय व्यवस्था ने नवीन रूप ग्रहण किया। इसी काल में मिथ्या ज्ञान तथा प्रमाण (प्रमा) का भेद भी अधिक प्रखरता से सामने आया। ऊपर बतलाए गए प्रत्यक्ष तथा परोक्षादि ज्ञान को प्रमाण अथवा प्रमा के भेद के रूप में व्यवस्थित करते हुए अब मिथ्याज्ञान के भी तीन भेद बतलाए गए संशय, विपयर्य तथा अनध्यवसाय।

वस्तुत: परम्परागत जैन न्याय में भी सम्यक् ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान के बीच भेद किया गया था किन्तु अकलंकदेव के अनन्तर जैन न्याय मं यह भेद अधिक स्पष्टता से सामने आया। जैन न्याय में सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहा गया है तथा मिथ्या ज्ञान को अप्रमाण कहा गया है। प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना सम्यक् ज्ञान है। नय वस्तु का सापेक्ष ज्ञान अथवा दृष्टि विशेष से किया गया कथन है। नय के दो भेद है-द्रव्यार्थिक तथा पर्यायर्थिक। सामान्यगामी विचार द्रव्यार्थिक नय है तथा विशेषगामी विचार पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय के तीन तथा पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं। इस प्रकार नय के सात भेद बतलाए गए जो इस प्रकार हैं।

(1) नैगम नय--जो विचार लौकिक रूढ़ि और लौकिक संस्कार का अनुसरण करते हैं वे 'नैगम नय' कहलाते हैं।

(2) संग्रह नय -जो विचार विभिन्न वस्तुओं तथा विभिन्न व्यक्तियों में एकता का प्रतिपादन करें उन्हें 'संग्रह नय' कहा जाता है।

(3) व्यवहार नय--जो विचार संग्रह नय के आधार पर एक रूप संग्रहित व्यक्तियों अथवा वस्तुओं को व्यवहारिक धरातल पर अनेक में विभक्त करें वे 'व्यवहार नय' कहलाते हैं।

(4) ऋजुसूत्र नय--जो विचार भूत और भविष्य की उपेक्षा कर वर्तमान पर्याय को ग्रहण करें वे ऋजुसूत्र नय' कहलाते हैं।

(5) शब्द नय--जो विचार शब्द प्रधान हो तथा लिंग एवं कारक आदि शब्दगत धर्मों के भेद से अर्थ में भेद मानें वे शब्द नय' कहलाते हैं।

(6) समभिरूढ नय--जो विचार शब्द के रूढ़ अर्थ पर निर्भर न रहकर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार समान अर्थ वाले शब्दों में भी भेद माने वे 'समभिरूढ़ नय' कहलाते हैं।

(7) एवंभूत नय--जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही उस वस्तु को तद्भाव स्वीकार करे उसे 'एवंभूत नय' कहा जाता है।

इन सात प्रकार के नय में प्रथम तीन नय द्रव्यार्थिक नय' तथा अनन्तर चार नय पर्यायार्थिक नय' कहलाते हैं।

2.12 वेदान्त मत

वेदान्त मत आत्मा को स्वरूप चौतन्य तथा परमतत्त्व मानता है। इसी तत्त्वमीमांसीय आलोक में वेदान्त मतानुसार ज्ञान और आत्मा में अभेद है। ज्ञान ही परमतत्त्व है। इस रूप में ज्ञान को गुण, संबंध आदि की अपेक्षा 'द्रव्य' ही कहा जाना चाहिए। विशिष्टाद्वैती रामानुजाचार्य के मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञान का आश्रय (अधिष्ठान) भी है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश स्वरूप' भी है और 'प्रकाशपुंज' (प्रकाश का आश्रय) भी है। इसी अर्थ-में आत्मा को 'धर्मीज्ञान' तथा 'धर्मसूत्र ज्ञान' कहा गया है। वेदान्त मत में भी ज्ञान को 'विषय को प्रकाशक' के रूप में ही स्वीकार किया गया है। ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करता है और पर-विषय को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार ज्ञान प्रत्यक् और पराक् दोनों है। ज्ञान स्वयंप्रकाश्य है, इस रूप में ज्ञान प्रत्यक् है। साथ ही, ज्ञान अपने से भिन्न वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इस रूप में ज्ञान 'पराक' है। अद्वैत वेदान्त के मत से तो ब्रह्म, जीव और जगत में तात्त्विक अभेद है। इस रूप में पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान में 'स्व' और 'पर', 'प्रत्यक' और 'पराक', का भेद ही। नहीं होता, किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से प्रत्यक् और पराक् का भेद किया जा सकता है।

वेदान्त मत में आत्मा स्वरूप चौतन्य है। इस दृष्टि से आत्मा में कभी भी ज्ञान का अभाव नहीं होता। साथ ही 'आत्मा में ज्ञान का उदय होता है' यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि उदय होने का अर्थ है कि उदय होने के पूर्व आत्मा में ज्ञान का अभाव था। इस मत में जीव कभी भी ज्ञान विहिन नहीं होता। माया बंध अथवा अन्य कारणों से जीव का चौतन्य स्वरूप अथवा जीव का स्वभाविक ज्ञान बाधित होता है, जिसे 'अज्ञान' की संज्ञा दी जा सकती है। इस बात को सूर्य के प्रकाश की उपमा से समझा जा सकता है। सूर्य का प्रकाश सर्वव्यापी है किन्तु अंधेरे कमरे अथवा अंधगुहा में उसका प्रवेश नहीं हो पाता क्योंकि यहाँ प्रकाश के मार्ग में अनेक रुकावटें हैं। किन्तु इससे सूर्य के आलोक की सर्वव्यापकता या स्वयंप्रकाशत्व बाधित नहीं होता। इसी भाँति ज्ञान अथवा चौतन्य स्वरूप आत्मा सर्वज्ञ है किन्तु अनेक प्रकार से बाधित होने पर कहीं-कहीं अथवा कभी-कभी यहाँ ज्ञान का अभाव' प्रतीत होने लगता है।

इस प्रकार वेदान्त मत के अनुसार अज्ञान 'बाधित ज्ञान' है। साथ ही तात्विक अर्थ में अज्ञान की कोई सत्ता नहीं।

पुनः वेदान्त मत भी प्रमा-अप्रमा का भेद करता है। प्रमा वैध ज्ञान है, अप्रमा अवैध अथवा अयथार्थ ज्ञान है। वेदान्त परिभाषा में प्रमा के दो लक्षण बतलाए गए हैं-अबाधितत्त्व और अनधिगतत्त्व।43 किन्तु यहाँ स्मृति को भी प्रमा स्वरूप ही स्वीकार किया गया है।

अद्वैत वेदान्त पारमार्थिक और व्यवहारिक ज्ञान का भी भेद करता है। पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान में ज्ञाता-ज्ञेय का अभेद होता है किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से ज्ञान सदैव त्रिपुटियुक्त है अर्थात् व्यवहारिक

दृष्टि से ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद सदैव बना रहता है। इस व्यवहारिक ज्ञान को वेदान्त मत अंतिम ज्ञान नहीं मानता क्योंकि यह ज्ञान दोषपूर्ण है। यह ज्ञान मुख्यत: दो कारणों से दोषपूण र्ा हैं-प्रथमत: तो यह कि व्यवहारिक ज्ञान अबाधित नहीं होता। ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् इस ज्ञान का बाध अथवा खंडन (लोप) हो जाता है। अतएव व्यवहारिक ज्ञान 'यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता। पुन: व्यवहारिक ज्ञान का त्रिपुटियुक्त होना भी इसका दोष है क्योंकि त्रिपुटियक्त होने से 'ज्ञान' के संप्रत्यय में तार्किक एवं ज्ञानमीमांसीय कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। त्रिपुटियुक्त ज्ञान के सम्मुख सबसे बड़ी तार्किक एवं ज्ञानमीमांसीय कठिनाई ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के बीच के संबंध को लेकर है। अगर ये तीनों पृथक-पृथक हैं तो फिर इनके बीच बाह्य संबंध ही संभव होगा। किन्तु बाह्य संबंधवाद में तो अनन्तता दोष होता है। अतएव त्रिपुटियुक्त ज्ञान अथवा व्यवहारिक ज्ञान को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ज्ञान के प्रकार--वेदान्त मत भी यथार्थ और मिथ्या ज्ञान का भेद करता है। यथार्थ ज्ञान प्रमा हैं। मिथ्या ज्ञान को अप्रमा रूप समझा जाना चाहिए। वेदान्त परिभाषा के अनुसार अनधिगत एवं अबाधित ज्ञान को प्रमा कहते हैं। इसके अतिरिक्त स्मृति भी प्रमा ही है। न्याय मत स्मृति को प्रमा की कोटि से बहिष्कृत करता है इसके विपरीत वेदान्त परिभाषा स्मृति को प्रमा रूप स्वीकार करती है। प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण छ: है-प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द अथवा आगम, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। इन छ: प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान भी छ: प्रकार के हैंख्रप्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति, शाब्दी प्रमा, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अप्रमा मिथ्या ज्ञान है। मिथ्यात्व का स्वरूप निरूपण करते हुए वेदान्त मत में कहा गया है कि जो वास्तव में न होकर भी भासित होता हो वहीं मिथ्यात्व है जैसे स्वप्न में देखे गए गज आदि। वेदान्त परिभाषा में दो प्रकार के मिथ्या ज्ञान का निरूपण है-भ्रम अथवा विपयर्य एवं स्वप्न। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार ज्ञान का वर्गीकरण निम्नरूपेण हैं।
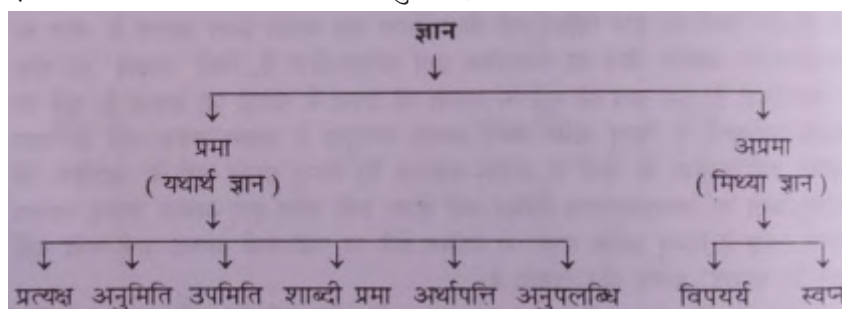
2.13 बौद्ध मत

बौद्ध ज्ञानमीमांसा में महायान मत के दोनों सम्प्रदायों-योगाचार विज्ञानवाद और माध्यमिक शून्यवाद की ही प्रबलता हैं।

योगाचार शुद्ध विज्ञानवादी दर्शन है। यहाँ मात्र विज्ञान की ही सत्ता है, अन्य किसी की भी नहीं। यह विज्ञान चौतन्य स्वरूप तो है किन्तु उस रूप में सत् नहीं है जिस रूप में वेदान्ती इसकी सत्ता का निरूपण करते हैं। वेदान्त मत का 'विज्ञान' अथवा 'चेतना' शुद्ध और शाश्वत है। दूसरी ओर योगाचार विज्ञानवाद में विज्ञान विज्ञप्ति का प्रवाहमात्र है। यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है अतएव इसे शाश्वत' नहीं कहा जा सकता। वसुबधु न विशतिका में कर्म-फल-विपाक से उत्पादित विज्ञान प्रवाह

की बात कही है। योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार यही विज्ञान-प्रवाह हमारे दैनिक अनुभवों में वस्तु रूप में उपस्थित होता है।

नोट

योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में कोई मौलिक भेद नहीं। 'ज्ञाता' नामक जिस तत्त्व को ज्ञान का अवयव समझा जाता है वह ज्ञाता भी विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है और ज्ञेय रूप जिस बाह्य वस्तु का बोध ज्ञान में होता है वह भी विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकार योगाचार मत में ज्ञान अथवा विज्ञान मात्र ही सत्य है। समस्त ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में (या इससे आगे सर्वत्र) यही विज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय और स्वयं ज्ञान रूप उपस्थित होता है। यह विज्ञान स्थायी नहीं क्षणिक है अतएव इसे 'विज्ञप्ति' कहते हैं। यह अनेक रूपों में भाषित क्षण-मात्र हैं।

शुन्यतावादी मत इसके भी आगे जाकर इस विज्ञान अथवा विज्ञप्ति को भी अंतिम सत्य अथवा परमार्थ नहीं मानता। शून्यतावादी मत के अनुसार हमारा समस्त व्यवहारिक अथवा जागतिक ज्ञान संवृत्ति अथवा आभास मात्र है। यह सांवृतिक ज्ञान सत्य तो है किन्तु इसकी सत्ता मात्र व्यवहार जगत तक ही सीमित है। परमार्थ रूप में तो शून्यता ही सत्य है। शून्यता सबका, यहाँ तक कि विज्ञान का भी, निषेध है। इस प्रकार शून्यता 'निषेध-मात्र' है।

यही निषेध रूप शून्यता जब ज्ञानमीमांसा का आधार बनती है तो बौद्ध शून्यतावादियों के मत में ज्ञान भी निषेधात्मक हो जाता है। इस रूप में ज्ञान न तो गुण है, न द्रव्य है, न क्रिया है, न संबंध है, वरन् यह शून्यता मात्र है।

पारमार्थिक रूप से शून्य अथवा निषेध रूप होने पर भी बौद्ध ज्ञान की व्यवहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसीलिए बौद्ध मत ज्ञान की व्यवहारवादी व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। बौद्ध न्याय के विषय में शेरबात्स्की लिखते हैं "यह किसी परम सत्ता का विज्ञान नहीं, किसी वस्तु का उसी रूप में विज्ञान नहीं जैसा कि उसका वास्तविक रूप होता है, अथवा (यह) बाह्यार्थ के सत-असत् का विज्ञान नहीं।... सरल मनुष्य जिस ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं...इसी ज्ञान का इस शास्त्र में विचार किया गया है।

इस प्रकार बौद्ध ज्ञानमीमांसा जिस ज्ञान की विवेचना करता है वह 'ज्ञान' तात्विक न होकर व्यवहारिक' अथवा 'दैनिक जीवन का ज्ञान है। इस ज्ञान के विषय में धर्मकीर्ति कहते हैं कि यह ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है। यहाँ 'अर्थ का प्रकाशक' का अर्थ है 'विषय का बोधक'। इस प्रकार बौद्ध मत के अनुसार सामान्यतः ज्ञान ज्ञाता की चेतना में उत्पन्न विषय का बोध है। ज्ञान विषयक बौद्ध मत व्यवहारवादी होते हुए भी नैय्यायिकों के यथार्थवादी मत से भिन्न है। न्याय मत बाह्यार्थ की विवेचना उसी रूप में करना चाहता है जिस रूप में वह है और इस विवेचन के लिए वह (न्याय मत) 'ज्ञान' की आवश्यकता को अनुभव करता है। अतएव न्याय मत 'सम्यक् ज्ञान' को 'यथार्थ वस्तु की प्रदर्शिका' के रूप में परिभाषित करता है। किन्तु दूसरी ओर बौद्ध मत के अनुसार 'ज्ञान' के संदर्भ में मूल प्रश्न 'बाह्यार्थ के सत् अथवा असत् होने-न-होने का न होकर व्यवहार सिद्धि अथवा 'पुरुषार्थ सिद्धि का होता है। व्यवहार सिद्धि का यह विज्ञान 'परमार्थ सिद्धि का साधन भी नहीं है। इस प्रकार बौद्ध ज्ञानमीमांसा जिस 'ज्ञान' की विवेचना करता है वह ज्ञान 'तात्विक' तो किसी भाँति नहीं है, साथ ही उस रूप में यथार्थवादी भी नहीं है जिस रूप में न्याय आदि यथार्थवादी इसकी व्याख्या करते हैं। इस रूप में चंद्रकीर्ति ने न्याय मत की भर्त्सना करते हुए कहा है कि ''नैय्यायिक

न्यायशास्त्र में अनिपुण है।' उनलोगों ने न्याय विधियों की त्रुटिपूर्ण परिभाषाएँ की है, और हमलोगों ने उन्हें केवल संशोधित किया है।

नोट

किन्तु बौद्ध मत न्याय मत से भिन्न होते हुए भी न्याय मत के समकक्ष है। जैसा कि नैय्यायिक ज्ञान को 'अनुभूति' के पदों में परिभाषित करते हैं, बौद्ध भी ज्ञान को 'अनुभव' से ही जोड़ कर समझना चाहते हैं। इस अर्थ में बौद्ध मतानुसार ज्ञान एक प्रकार की अनुभूति है। 'प्रत्यक्ष के रूप में यह अनुभूति 'स्वलक्षण की अनुभूति है। यह स्वलक्षण, जो परमार्थ रूप है और हमारे अनुभवों में साक्षात् प्रदत्त है, साक्षात रूप में अनुभव ग्राह्य भी है। किन्तु स्वलक्षण का यह बोध अनभिलाप्य, निर्विशेष और नामरूपरहित है अतएव 'स्वलक्षण की यह अनुभूति' न्यायशास्त्र अथवा ज्ञानमीमांसा का विषय नहीं हो सकती। बौद्ध मतानुसार ज्ञानमीमांसीय विवेचना का विषय तो 'प्रत्यभिज्ञा' है जो क्षणभंगुर की अपेक्षा अधिक स्थायी है, तथा विषय का नामरूप युक्त बोध हैं। यह प्रत्यभिज्ञा नामरूप युक्त होने के कारण कल्पनायुक्त भी है क्योंकि नामरूप तो कल्पना की उत्पत्ति है।

स्पष्टत: बौद्ध मत के अनुसार विशुद्ध अनुभूति की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा ही ज्ञानमीमांसीय विवेचना की विषयवस्तु है। यह प्रत्यभिज्ञा 'अनुभूति के अनन्तर ज्ञान' है किन्तु यह प्रत्यभिज्ञा स्मृति से भिन्न है। प्रत्यभिज्ञा और स्मृति में भेद यह है कि प्रत्यभिज्ञा 'साक्षात विषय' के द्वारा उत्पन्न बोध ही है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा 'साक्षात विषय के बोध' से इस अर्थ में भिन्न है कि साक्षात विषय का बोध नामरूप रहित होता है जबकि प्रत्यभिज्ञा में विषय का बोध नामरूप सहित होता है।

पुन: स्मृति भी विषय का नामरूप सहित बोध है जो अनुभूति के अनन्तर ज्ञान' है। किन्तु स्मृति और प्रत्यभिज्ञ में भेद है। वह भेद इस प्रकार है कि प्रत्यभिज्ञा विषय के साक्षात बोध से उत्पन्न (वस्तु का) नामरूप सहित ज्ञान है जबकि स्मृतिजन्य ज्ञान 'साक्षात विषय' द्वारा उत्पन्न नहीं होता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि बौद्ध ज्ञानमीमांसा 'ज्ञान' की व्याख्या 'विषय के बोध के रूप में करती है। पुन: विषय का बोध भी दो प्रकार से संभव है-(क) विषय का नामरूप रहित बोध (ख) विषय का नामरूप सहित बोध। विषय के नामरूप रहित बोध को 'विशुद्ध अनुभूति' कहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान इसे 'संवेदना' का नाम देता है। डेविड ह्यूम जैसा संशयवादी भी सब पर संशय करता है किन्तु इस संवेदना पर नहीं। इस संवेदना को छूम अनुभवजन्य ज्ञान की आधारशिला के रूप में स्वीकार करता है। वस्तु के नामरूप सहित बोध को सामान्यत: 'प्रत्यभिज्ञा' का नाम दिया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान इसे प्रत्यक्षीकरण' कहता है। भारतीय ज्ञानमीमांसा में निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष का भेद किया गया है। नव्य न्याय के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तु का नामरूप रहित बोध है जो अनभिलाप्य है तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष वस्तु का नामरूप सहित बोध है। बौद्ध मत के अनुसार ज्ञानमीमांसीय विवेचन का विषय यह सविकल्पक ज्ञान (जिस बौद्ध मत 'प्रत्यभिज्ञा' कहता है) ही है क्योंकि वाणी का विषय वस्तु का नामरूप सहित । ही होता है, नामरूप, रहित ज्ञान नहीं।

ज्ञान का वर्गीकरण--ज्ञानमीमांसीय विवेचन की दृष्टि से बौद्ध मत प्रथमत: ज्ञान को दो वर्गों में बाँटता है- सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान।

सम्यक् ज्ञान - बौद्ध मत के अनुसार सम्यक ज्ञान सभी पुरुषार्थो की सिद्धि का साधन है। सम्यक् ज्ञान ही सिद्ध ज्ञान अर्थात् ऐसा ज्ञान है जिसके बाद अध्यवसाय अथवा निश्चय आता है और उसके भी

बाद पुरुषार्थ सिद्धि। इसी अर्थ में बौद्ध मत अथक्रियाकारित्व को सम्यक् ज्ञान का लक्षण बतलाता है। धर्मकीर्ति सम्यक ज्ञान अथवा प्रमा के दो लक्षण बतलाते है- अविसंवादित्व तथा अज्ञातर्थप्रकाशकत्व। पुन: धर्मकीर्ति अविसंवादित्व को अर्थक्रियाकारित्व के रूप में ही परिभाषित करते हैं। सम्यक् ज्ञान के दो रूप हैं-प्रत्यक्ष और अनुमिति। इसके अतिरिक्त कही-कही शब्द को भी प्रमाण माना गया हैं। किन्तु 'शब्द' से बौद्धों का तात्पर्य वेद नहीं हैं। अधिकांश बौद्ध शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में कर देते हैं।

मिथ्या ज्ञान - वह ज्ञान जो भ्रमित कर देता है, जो चेतन प्राणियों के लिए उनकी आकाक्षांओं और इच्छाओं का वंचक होता है- मिथ्या ज्ञान कहलाता है।

संशय और विपयर्य सम्यक् ज्ञान के विरुद्ध धर्मी है। संशय दो प्रकार का है-पूर्ण और अपूर्ण संशय। पूर्ण संशय अज्ञान है क्योंकि इसमें कोई भी अध्यवसाय या निश्चय सम्मिलित नहीं होता। अपूर्ण संशय के बाद निश्चय और पुरुषार्थ उसी प्रकार आते हैं जिस प्रकार सम्यक् ज्ञान के पूर्व आते हैं।

2.14 सारांश

ज्ञान एक सरल प्रत्यय है जिसकी यत्किंच व्याख्या संभव है किन्तु परिभाषा नहीं। भारतीय परम्परा में साधारणत: व्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञान में भेद किया जाता है। इस परम्परा में व्यवहारिक ज्ञान ही ज्ञानमीमांसीय विवेचना की विषय-वस्तु है। व्यावहारिक ज्ञान को 'त्रिपुटि ज्ञान के रूप में समझा जा सकता है। यह 'त्रिपुटि ज्ञान' यथार्थ अथवा अयथार्थ हो सकता है। यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' तथा अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहा गया है।

ज्ञान के संदर्भ में प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान किस कोटि की सत्ता है। भारतीय परम्परा में ज्ञान की व्याख्या निम्नलिखित चार रूपों में की गई हैं।

ज्ञान द्रव्य है - इस मत के समर्थक वेदान्ती और सांख्य हैं। इस मत के अनुसार 'आत्मा' अथवा 'पुरुष' ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान को 'द्रव्य' कहने का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञान आत्मा, पुरुष अथवा ब्रह्म से भिन्न कोई तत्त्व है वरन् इस मत के अनुसार आत्मा, पुरुष अथवा ब्रह्म स्वयं ज्ञान स्वरूप ही है। तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म और ज्ञान में अभेद है। जो ब्रह्म है वही ज्ञान है जो ज्ञान है वही ब्रह्म है। यह ज्ञान सबको धारण करता है किन्तु उसका कोई अन्य अधिष्ठान नहीं। यह ज्ञान सबको प्रकाशित करता है। इस दृष्टि से ज्ञान स्वत:प्रामाण्य आर स्वत:प्रकाश्य है। इस संदर्भ में योगाचार बौद्धों का मत उल्लेखनीय है जो ज्ञान का 'द्रव्य' रूप तो नहीं स्वीकार करते किन्तु योगाचार मत में भी विज्ञान अथवा विज्ञप्ति मात्र ही सत्य है और विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। योगाचार मत की 'सत्ता' विषयक अवध 'सत्ता' विषयक अवधारणा 'सत्ता' विषयक सामान्य अवधारणा से भिन्न है। योगाचार मत ज्ञान को गुण अथवा कर्म भी नहीं कहता।

ज्ञान गुण है --भारतीय दार्शनिकों का एक दूसरा वर्ग ज्ञान को 'गुण' के रूप में स्वीकार करता है। ज्ञान को 'गुण' कहने वाले दार्शनिकों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है--प्रथम वर्ग उन विद्वानों का है जो चेतना अथवा ज्ञान को द्रव्य का आगन्तुक लक्षण कहते हैं तथा दूसरा वर्ग उन दार्शनिकों का है जो ज्ञान अथवा चेतना को द्रव्य का स्वरूप लक्षण कहते हैं। इनमें से प्रथम वर्ग में चार्वाक, न्याय, वैशेषिक तथा प्राभाकर मीमांसक आते हैं तथा द्वितीय वर्ग में जैन तथा विशिष्टाद्व

ैती रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय आता है। चार्वाक एक भौतिकवादी मत है। इस मत के अनुसार चार भूतों से ही सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। चेतना इन चार भूतों के संयोग का उपोत्पाद है। चार्वाक देहात्मवादी हैं। इस मत के अनुसार चेतना अथवा ज्ञान भौतिक शरीर का ही गुण है। यह गुण शरीर का स्वरूप लक्षण न होकर आगन्तुक लक्षण है। चार्वाक मत के अनुसार 'ज्ञान का उदय' आदि शब्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि ज्ञान कोई शाश्वत सत्ता नहीं वरन् शरीर के विशेष अंग का एक आगन्तुक गुण है। न्याय-वैशेषिक मत आत्मा को पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। वैशेषिक मत में आत्मा द्रव्य है और ज्ञान इसका गुण। न्याय मत भी ज्ञान अथवा चेतना को पदार्थ रूपी आत्मा का गुण ही कहता है। किन्तु इस मत में ज्ञान अथवा चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण न कहकर आगन्तुक गुण कहा गया है।

प्राभाकर मत में चौतन्य के अधिष्ठान के रूप में आत्मा को स्वीकार किया गया है। यह आत्मा स्वयं में चौतन्य स्वरूप नहीं है। जब विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ आत्मा का सम्पर्क होता है तभी आत्मा में ज्ञान अथवा चौतन्य रूपी गुण की उत्पत्ति होती है। सुषुप्ति, मूच्छ आदि की स्थितियों में चेतना का अभाव यह सिद्ध करता है कि चेतना अथवा ज्ञान आत्मा का स्वरूप लक्षण न होकर आगन्तुक लक्षण है। दूसरी तरफ जैन तथा विशिष्टाद्वैती बलपूर्वक यह सिद्ध करते हैं कि चौतन्य अथवा ज्ञान आत्मा का स्वरूप लक्षण है। जैन मत में जीव तथा अजीव नामक दो द्रव्य स्वीकार किए गए हैं और कहा गया है कि चौतन्य जीव द्रव्य का स्वरूप लक्षण है। इसी भाँति विशिष्टद्वैत मत भी ब्रह्म, जीव और प्रकृति नामक तीन तत्त्वों को स्वीकार करता है जिनमें ब्रह्म अथवा ईश्वर निरपेक्ष द्रव्य है तथा जीव एवं प्रकृति सापेक्ष द्रव्य हैं। चेतना इसी जीव तत्त्व का स्वरूप लक्षण है।

ज्ञान क्रिया है - इस मत के समर्थक भाट्ट मीमांसक हैं। भाट्ट मीमांसा के अनुसार ज्ञान न तो द्रव्य है, न ही यह गुण है। इस मत के अनुसार ज्ञान क्रिया है जिसका कर्त्ता आत्म है। ''मैं जानता हूँ' जैसे वाक्यों से स्पष्ट है कि ज्ञान क्रिया है। कुमारिल भट्ट ने ज्ञान को आत्मा का 'धर्म' भी कहा है किन्तु यहाँ 'धर्म' पद का प्रयोग 'गुण' के अर्थ में न होकर 'क्रिया' के अर्थ में ही हुआ है। पार्थसारथी मिश्र ने ज्ञान को 'सकर्मक क्रिया' कहा है। ज्ञान का विषय ही ज्ञान का कर्म है। जैसे मैं पुस्तक को जानता हूँ यहाँ मैं' कर्ता है, पुस्तक कर्म तथा 'ज्ञान' क्रिया है

शून्यतावादी मत --ज्ञान के विषय में शून्यतावादी बौद्धों का मत सर्वथा विलक्षण है। इसके अनुसार ज्ञान न तो द्रव्य है, न गुण है, न क्रिया है वरन् यह 'शून्यता' है।

शून्यतावादी बौद्धों को शून्यता विषयक अवधारणा एक विलक्षण अवधारणा है। यहाँ शून्यता का अर्थ अभाव नहीं है किन्तु शून्यता को 'भाव' के अर्थों में भी व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। 'शून्यता' वस्तुत: अनभिलाप्य' (वाणी से परे) है अत: इसकी भावमुलक व्याख्या संभव नहीं। व्यवहारिक दृष्टि से बौद्ध शून्यता की निषेधमूलक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से शून्यता-रूप ज्ञान द्रव्य, गुण, कर्म संबंध आदि से परे निषेध रूप है।

2.15 अभ्यास प्रश्न

1. प्रमा और अप्रमा क्या है?
2. 'ज्ञान' और 'नॉलेज' को परिभाषित करें।

3. ज्ञान के सांख्य मत व न्याय-वैशेषिक मत पर चर्चा करें।
4. ज्ञान के मीमांसा मत पर चर्चा करें।
5. ज्ञान के प्रभाकर मत और भाट्ट मत पर चर्चा करें।
6. ज्ञान के जैन मत व वेदान्त मत पर चर्चा करें।

नोट

2.16 संदर्भ ग्रंथ

- ज्ञान का सिद्धांत, सतीशचंद्र चटर्जी, कलकत्ता, 1965
- ज्ञान के छह तरीके, डी. एम. दत्ता, कलकत्ता, 1960
- भारतीय ज्ञानमीमांसा, नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
- ज्ञान की अवधारणा, देवव्रत सेन, कलकत्ता

नोट

इकाई–3

प्रमा और प्रमाण

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे :

- प्रमा के बारे में चर्चा करने में;
- प्रमाण को जानेंगे;

3.2 परिचय

भारतीय दर्शन में सर्वत्र यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के बीच भेद किया जा यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' और अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' की संज्ञा दी गई है। प्रमा और अप्रमा के बीच का भेद क्या है? इस प्रश्न का एक सामान्य उत्तर यह सकता है कि प्रमा और अप्रमा परस्पर विरोधी है। जो ज्ञान प्रमा रूप नहीं वरणा इस रूप में 'प्रमा' की परिभाषा अथवा प्रमा के स्वरूप विवेचन की समस्या सामने आती है। भारतीय परम्परा में त्रिपुटिज्ञान की अवधारणा पाई जाती है। प्रमा चूँकि एक पल ज्ञान है अतएव यहाँ प्रमा का स्वरूप निरूपण भी त्रिपुटिज्ञान के रूप में किया गया। त्रिपुटिज्ञान के रूप में प्रमा के तीन संघटक तत्त्व हैंख़्रप्रमाता अर्थात् प्रमा को प्राप्त कर वाला, प्रमेय अर्थात् प्रमा की विषय-वस्तु और प्रमाण अर्थात् प्रमा का साधन। प्रमा के साधन को प्रमाण कहा गया है। प्रमाणयुक्त प्रत्येक ज्ञान प्रमा है। इस प्रकार त्रिपुटिज्ञान के रूप में प्रमा के तीन संघटक तत्त्व हैं-प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण अथवा स्वयं प्रमा।

3.3 प्रमा

प्रमा के स्वरूप को लेकर भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है। प्रत्येक भारतीय

परम्परा में अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसीय स्थापनाओं के अनुरूप ही प्रमा का स्वरूप निरूपण भी किया गया है। अतएव इस संदर्भ में प्रत्येक मत का पृथक-पृथक विवेचना अपेक्षित है।

सांख्य दर्शन

सांख्यकारिका में ज्ञान को बुद्धि के विकार के रूप में परिभाषित किया गया है। सांख्य तत्त्वमीमांसा के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति दो मूल और पृथक तत्त्व हैं। अज्ञानवश इनका संयोग होता है और सृष्टि का विकास चक्र चल पड़ता है। इस विकास-क्रम में सर्वप्रथम महत् अथवा बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इसी महत् के विकार स्वरूप समस्त ज्ञान उत्पन्न होता है।

किन्तु मात्र बुद्धि के विकार के रूप में ज्ञान की परिभाषा कुछ स्पष्टीकरण की अप रखती है। सांख्य के अनुसार समस्त ज्ञान के तीन घटक हैं-विषय, विषयी और ज्ञान प्रक्रिया। सांख्य दर्शन में विशुद्ध चेतना या पुरुष ज्ञाता अथवा विषयी है, ज्ञाता की चेतना में प्रतिबिम्बित वृत्तियाँ ज्ञान की विषय-वस्तु हैं और प्रकृति के रूपान्तरण का विषय क में चेतना के अन्दर प्रतिबिम्बित होना ज्ञान है। शब्दान्तर से, ज्ञाता या विषयी पुरुष हैं ज्ञेय या विषय प्रकृति है तथा प्रकृति या ज्ञेय या विषय का विषयी अथवा पुरुष की चेतना में प्रतिबिम्बित होना ज्ञान है। सांख्य दर्शनोक्त ज्ञान के इस संप्रत्यय को और अधिक स्पष्ट जा सकता है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष विशुद्ध चौतन्यमय सत्ता है जो सभी परिवर्तनों से परे है। पुरुष जब प्रकृति के संसर्ग में आता है तो स्वयं पुरुष निर्विकार और अपरिवर्तनशील रहता है किन्तु प्रकृति का रूपान्तरण प्रारंभ होता है और विकास की क्रिया होती है। इस क्रम में सर्वप्रथम महत् की उत्पत्ति होती है जो मात्र प्रकृति का रूपान्तरण अर्थात प्रकृति का रूप है। यहीं महत् या बुद्धि प्रकृति की अनेक वस्तुओं का रूप धारण ती है। संसार की समस्त वस्तुएँ इस रूप में प्रकृति का रूपान्तरण है। यही वस्तुएँ ज्ञेय जाता अथवा विषयी की चेतना में जब वस्तु-रूप प्रकृति प्रतिबिम्बित होती है तो ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

यह ज्ञान की उत्पत्ति तत्त्वमीमांसीय व्याख्या है। प्रश्न है कि इस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान, अथवा 'प्रमा'की कोटि में कब रखेंगे?

सांख्यकारिका के अनुसार यथार्थ ज्ञान बुद्धि का ऐसा विकार है जो अविपरीत, असंदिग्ध और अनधि गत विषय को प्रकट करता है। अन्यत्र भी कपिलमुनी ने प्रमा को नवीनता और निश्चयात्मकता से परिभाषित किया है। वाचस्पति मिश्र द्वारा दी गई प्रमा की इस परिभाषा से प्रमा के चार लक्षण स्पष्ट होते हैं।

(क) **प्रमा बुद्धि का विकार है**-प्रमा के विषय में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि प्रमा बुद्धि का विकार है। प्रमा को बुद्धि का विकार कहने से यह स्पष्ट होता है कि प्रमा में जिस वस्तु की प्रतीति प्रमाता को होती है वह वस्तु परमार्थिक रूप से ठीक उसी आकार में वहाँ नहीं होती। किन्तु उस वस्तु के रूप में प्रकृति वहाँ अवश्य होती है अत: यहाँ विषय का उपादान यथार्थ हैं। किन्तु उपादान की यथार्थता और उपादान की वस्तुनिष्ठता के बाद भी वस्तु का आकार परमार्थ नहीं है। यह तो अन्त:करण वृत्ति है जो वस्तु का रूप ध ारण करती है। यह अवश्य है कि प्रमा में जो वस्तु प्रतिबिम्बित होती है वह शून्य नहीं है क्योंकि शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। इस वस्तु (ज्ञेय) का उपादान कारण प्रकृति है और आकस्मिक कारण महत् या बुद्धि है। यही सांख्य का यथार्थवाद है।

(ख) प्रमा अविपरीत होता है-प्रमा का दूसरा लक्षण यह है कि यह अविपरीत होता है। किसी ज्ञान को अविपरीत कहने का अर्थ है-ऐसा ज्ञान जिसका विरोध अथवा खंडन दूसरे ज्ञान के द्वारा न हो।

कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार सांख्य मत में वैध ज्ञान के चार लक्षण बतलाए गए हैंख्रचित्तवृत्ति, यथार्थता, असंदिग्धता और नवीनता। यहाँ इन्होंने 'यथार्थता' शब्द का प्रयोग 'अविपरीत' शब्द के स्थान पर किया है। इस मत के अनुसार सांख्य दर्शन में श्यथार्थता का अर्थ है-ज्ञान का वस्तु की प्रतिच्छति होना भाट्ट मीमांसकों ने सांख्यों के द्वारा बतलाए सत्यता के इस अर्थ की आलोचना की है और कहा है कि ज्ञान या वह कथन, जिसके माध्यम से ज्ञान अभिव्यक्त किया जा रहा है, वस्तु की प्रतिच्छवि कैसे हो सकता है? भाट्ट मीमांसकों के अनुसार 'ज्ञान'घट और श्यह'के रूप में नहीं होता, निर्णय के रूप में होता है, जैसे-'यह घट है। इसलिए बुद्धि अगर वस्तु का रूप लेती है तो यह ज्ञान नहीं है और अगर बुद्धि निर्णय का रूप लेती है तो यह वस्तु का रूप नहीं लेती, जो सांख्य मत के अनुकूल नहीं है।

परन्तु भाट्ट मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत सांख्य मत की सत्यता संबंधी यह विवेचना उचित नहीं प्रतीत होती। ज्ञान की सत्यता को वस्तु की प्रतिच्छवि के रूप में परिभाषित करना सत्यता का संवाद सिद्धांत है। संवाद सिद्धांत परतः प्रामाण्यवादी मत है जिसके अनुसार सत्यता न तो स्वतः उसी ज्ञान में अन्तर्भूत रहती है जिसकी सत्यता पर प्रश्न-चिह जा रहा है और न ज्ञान की सत्यता स्वतः उसी ज्ञान से जानी जाती है। संवाद सिट अनुसार किसी ज्ञान 'क' की सत्यता 'क' पर निर्भर नहीं करती बल्कि इस बात पर करती है कि ज्ञान 'क' तथ्य 'क' की प्रतिच्छवि है या नहीं। सांख्य मते का इस प्रकार के प्रामाण्यवादी मत से कोई संबंध नहीं हो सकता क्योंकि सांख्य मत स्वतः प्रामाण्यवादी है।

(ग) प्रमा अनधिगत होता है-सांख्य मत के अनुसार प्रमा का अन्य लक्षण है । अनधिगत होना। 'अनधिगत'का अर्थ है 'पूर्व ज्ञात न होना।'प्रमा को 'अनधिगत' के में परिभाषित करने पर सांख्यों के समक्ष धारावाहिक प्रत्यक्ष की समस्या आती है धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा नहीं है? सांख्य इसका उत्तर देते हैं कि वस्तुतः धारावाहिक प्रत्य में अनन्त प्रत्यक्ष होते ही नहीं। प्रत्यक्ष में अन्तःकरण वृत्ति ही वस्तु का रूप धरकर हमारे सामने आती है और जितने क्षण भी हमारे सामने रहती है, एक ही वस्तु के रूप में रहती है। अतः धारावाहिक प्रत्यक्ष में वस्तु नहीं बदलती जिससे कि कहा जाय कि प्रथम क्षण का ज्ञान दूसरे क्षण के ज्ञान की नकल है, अतः यह अनधिगत नहीं है।

(घ) प्रमा संदेह से परे होता है-प्रमा को जब 'संदेह से परे'कहा जाता है तो प्राभाकर मीमांसक इसे अनावश्यक कह देते हैं क्योंकि 'अनधिगत' कहने से ही स्पष्ट है। कि ऐसी प्रत्यभिज्ञा जो इससे पूर्व न हुई हो।'संदेह की स्थिति में प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। अतः प्रमा को 'अनधि गत'कहने से ही प्रमा या यथार्थ ज्ञान की कोटि से संदेह का निराकरण होता है।

'सांख्य दर्शनम्' में कपिलमुनि ने प्रमा को 'पहले नहीं जाने हुए का 'ज्ञान' कहा है। वाचस्पति मिश्र ने भी 'अध्यवसायो बुद्धिः' कहा है। इस अर्थ में प्रमा निश्चयमूलक ज्ञान है, अनिश्ययमुलक अथवा

संदिग्ध नहीं। इस प्रकार सांख्य मत के अनुसार अविपरीत, अनधिगत, निश्चयात्मक चित्तवृत्ति प्रमा है।

नोट

न्याय दर्शन

नैय्यायिक ज्ञानमीमांसा पर इतना बल देते हैं कि वात्स्यायन ने न्याय दर्शन को परिभाषित करते हुए अपने भाष्य में लिखा है–प्रमाणों का संग्रह करके उनसे प्रमेय वस्तु की परीक्षा न्याय है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि न्याय ज्ञानमीमांसा को ही चरम मानते हैं। उनके अनुसार भी मोक्ष ही चरम है, ज्ञान उसका साधन है। वस्तुतः गौतम प्रणीत न्याय दर्शन में भी ज्ञानमीमांसा उतनी ही सीमाबद्ध है जितनी अन्य भारतीय दर्शनों में। परन्तु न्याय दर्शन पर जो परवर्ती टीकाएँ की गई उनमें ज्ञानमीमांसा प्रमुख होकर आई हैं। वस्तुतः गौतम् .के परवर्ती बौद्धों, मुख्यतः दिग्नाग, ने गौतम के वास्तवादी दर्शन के विरुद्ध जो आपत्तियाँ की उनका उत्तर देने में न्याय दर्शन की टीकाओं में ज्ञानमीमांसा प्रमुख हो गई।

ऐतिहासिक विवरण की दृष्टि से न्याय दर्शन दो भागों में रखा जा सकता है–परम्परागत न्याय और नव्य न्याय। इन दोनों में भेद का एक प्रमुख आधार इनकी ज्ञानमीमांसा भी है।

परम्परागत न्याय–न्यायमंजरी में जयन्त ने प्रमा के तीन लक्षण बतलाए हैं1–अर्थोपलब्धि, असंदिग्ध और अव्यभिचारी। जयन्त भाट्ट मीमांसकों, बौद्धों और सांख्यों द्वारा बतलाए गए प्रमा के लक्षण 'अनधिगतत्व' को नहीं स्वीकारते क्योंकि जयन्त के अनुसार प्रमा को गत बताना प्रमा की अव्याप्त परिभाषा है। अगर प्रमा अनधिगत है तो धारावाहिक प्रत्यक्ष को प्रमा की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। यहां प्रश्न किया जा सकता है कि अगर अनधिगतता प्रमा की अनिवार्य उपाधि नहीं – मति भी प्रमा की कोटि में आ जाएगी, जबकि नैय्यायिक स्मृति को अप्रमा कहते या आपत्ति का खंडन जयन्त 'अर्थोपिलब्धि' की व्याख्या से करते हैं। जयन्त के मतानुसार उपलब्धि' का सही अर्थ 'अर्थजन्योपलब्धि है अर्थात् अगर कोई बोध किसी यथार्थ वस्तु ना है तो उसे 'प्रमा' कहेंगे। स्मृति की अवस्था में जो बोध प्रमाता को होता है वह – किसी यथार्थ वस्तु के द्वारा न होकर वस्तु की छाया के रूप के कारण होता है, अतः स्मृतिजन्य ज्ञान अथवा स्मृति प्रमा नहीं है।

प्रमा का दूसरा लक्षण है कि प्रमा असंदिग्ध है। प्रमा को असंदिग्ध कहने का अर्थ हो। सकता है कि प्रमा विषयिनिष्ठ है। किन्तु भ्रम भी विषयिनिष्ठ होता है। वस्तुतः प्रमा और अम दोनों में प्रमाता असंदिग्ध होता है, किन्तु भ्रम अप्रमा इसलिए है कि उसमें अर्थोपलब्धि का अभाव रहता है। अर्थोपलब्धि से प्रमा की वस्तुनिष्ठता पर बल पड़ता है।

अर्थोपलब्धि के दो अर्थ हो सकते हैं

(क) अर्थ अर्थात् विषय की उपलब्धि–जैसे घट में रखे जल का प्रत्यक्ष हमें हो रहा है और चेष्टा करने पर इस जल से हमारी तृष्णा शांत हो सकती है। अर्थोपिलब्धि की यह परिभाषा व्यवहारवादी हो जाती है। नैय्यायिकों को इस प्रकार के व्यवहारवाद पर कोई आपत्ति भी नहीं है। बल्कि जब वे प्रमा की सत्यता–असत्यता की जाँच संबंधी प्रकरण में आते हैं तो वे प्रमा के इस व्यवहारवादी पक्ष पर अधिक बल देते हैं।

वस्तुतः व्यवहारवाद किसी भी यथार्थवाद का अवियोज्य पक्ष होता है। इस रूप में प्रत्येक यथार्थवादी किसी–न–किसी प्रकार के व्यवहारवाद की पक्षधरता के लिए अनिवार्यतः बाध्य होता है क्योंकि व्यवहार से सर्वथा असंपृक्त रहकर यथार्थ के पोषण का दावा नही किया

नोट

जा सकता। नैय्यायिक भी इसके अपवाद नहीं है। यथार्थवादी होने के नाते नैय्यायिक व्यवहारवाद के पृष्ठपोषण के लिए बाध्य हैं। व्यवहारवाद के प्रति यह संगत रूझान या व्यवहारवाद की यह संगत पक्षधर्मिता न्यायशास्त्र में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, वहाँ भी जहाँ न्याय ज्ञानमीमांसा 'प्रमा'अथवा 'प्रमाण्य' का स्वरूप विवेचन कर रही होती हैं। व्यवहारवाद के प्रति इसी अनिवार्य प्रतिबद्धता के कारण नैय्यायिक प्रमा'की अनिवार्य उपाधि के रूप में अर्थोपलब्धि को स्वीकार करते हैं।

(ख) अर्थोपलब्धि अर्थात् विषय के द्वारा उत्पन्न उपलब्धि (अर्थजन्योपलब्धि)-अर्थोपलब्धि का दूसरा अर्थ 'विषय के द्वारा उत्पन्न अन्य वस्तु की उपलब्धि बतलाया जाता है। जैसे 'क' कोई वस्तु या विषय है और अगर वस्तु 'ख' इस विषय के द्वारा उत्पन्न की गई है तथा यदि कोई ज्ञाता 'ख' को प्राप्त कर सके तो 'क' वस्तु का ज्ञान प्रमा है। इसे एक दूसरे उदाहरण से भी समझा जा सकता है। जैसे धूम अग्नि की उत्पत्ति है। यदि कोई व्यक्ति पर्वत पर धूम को देखता है (धूम की उपलब्धि होती है) तो पर्वत पर अग्नि का ज्ञान प्रमा है।

पाश्चात्य परम्परा में बर्टेण्ड रसेल किसी ज्ञान की सत्यता की कसौटियों की चर्चा करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'ह्यूमैन नॉलेज' में कहते हैं कि हमें किसी वस्तु 'क' का ज्ञान प्राप्त होता है तो हमारा यह ज्ञान हमारे भीतर उस वस्तु के प्रति कुछ अपेक्षाओं को जन्म देता है, यथा, जब हमें किसी स्थान विशेष पर चूहे का ज्ञान होता है तो तत्क्षण हमारे - यह अपेक्षा उत्पन्न होती है कि यह वस्तु चूहे की तरह व्यवहार करेगी (यथा, बिल्ली के देखकर दुबक जाएगी)। यदि यह वस्तु 'क' (चूहा) हमारे इन अपेक्षाओं की पूर्ति में सपा होता है तो ज्ञान को यथार्थ समझा जाना चाहिए।

'अर्थजन्योपलब्धि' की एक अन्य व्याख्या भी संभव है। इस व्याख्या के अनुसार जल कोई बोध किसी वस्तु के द्वारा उत्पन्न किया गया है तो इस बोध अथवा ज्ञान को प्रमा रूप समझा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि किसी स्थान 'स'पर किसी वस्तु 'रज्जु' का बोध ज्ञाता को होता है और यदि यह बोध 'रज्जु' वस्तु के द्वारा उत्पन्न है (अर्थ = विषय जन्य उपलब्धि) तो रज्जु के ज्ञान को प्रमा रूप समझा जाना चाहिए। किन्तु, यदि यह 'रज्जु' का बोध 'रज्जु' वस्तु द्वारा उत्पन्न न होकर 'रज्जु-वस्तु की स्मृति के द्वारा उत्पन्न है तो रज्जु का यह ज्ञान अप्रमा-रूप है। ।

अर्थोपलब्धि की ये व्याख्याएँ न्याय वास्तवाद पर आधारित हैं। स्पष्टत: वास्तववाद के विरुद्ध की जाने वाली समस्त आपतियाँ यहाँ लागू होती है जिनसे संबंधित मौलिक प्रश्न यह है कि इसका क्या प्रमाण है कि हमारे किसी ज्ञान का कारण, यहाँ तक कि नैय्यायिक जिसे 'प्रमा'कहते हैं उसे भी, उत्पन्न करने वाली कोई वस्तु बाह्य जगत में है?

इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि नैय्यायिकों के अनुसार "यथार्थता' का क्या अर्थ है? न्याय मतानुसार प्रमा की यथार्थता का अर्थ है 'प्रमा का अव्यभिचारी होना। 'अव्यभिचारी' का अर्थ है कि प्रमा भ्रामक और मिथ्या न हो। न्याय दर्शन में प्रमा की यथार्थता पर अत्यधिक बल दिया गया है। वात्स्यायन ने कहा है कि अगर किसी वस्तु का ज्ञान उसी रूप में हो रहा हो जैसी वह है तो वह प्रमा है। अन्यत्र भी 'यदर्थविज्ञानं सा प्रमिति:' कहकर प्रमा की यथार्थता पर बल दिया गया है।

नव्य-न्याय

किन्तु नव्य-नैय्यायिकों ने 'यथार्थ' पद के विभिन्न अर्थ बतलाकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि प्रमा को यथार्थता की पदावली में नहीं परिभाषित किया जा सकता है।

नोट

नव्य-न्याय की ज्ञानमीमांसा का प्रारंभ गंगेशोपाध्याय के तत्त्वचिंतामणि से समझा जाता है। तत्त्वचिंतामणि में गंगेश ने प्रमा की यथार्थता का खंडन किया है और प्रमा की परिभाषा देते हुए कहा कि जहाँ जो है उसकी उसी रूप में अनुभूति प्रमा है। गंगेशोपाध्याय ने कहा है कि अगर यथार्थता'का अर्थ 'अबाधितता' हो तो यह प्रमा का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि अगर एक ज्ञान दूसरे से बाधित होता है तो इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि दोनों में प्रमा कौन-सा है? गंगेश के अनुसार यथार्थता को 'अविसंवादित्व' के अर्थ में स्वीकार करने में भी कठिनाई है क्योंकि 'संवाद' का अर्थ है एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान में समान रूप से उल्लिखित होना। परन्तु यह तो भ्रम में भी संभव है। पुनः स्वप्न जगत में। भी बहुधा विभिन्न ज्ञानों में संवाद होता है परन्तु वह प्रमा नहीं होता। सांख्य जिस अर्थ में 'यथार्थता' को परिभाषित करते हैं, गंगेश के अनुसार, वह अर्थ भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान तथा विषय दो भिन्न तत्त्व हैं तथा उनमें समानता नहीं हो सकती।

इस प्रकार गंगेश प्रमा को "जहाँ जो है उसमें उसी का अनुभव'कहकर परिभाषित करते हैं। गंगेश की इस परिभाषा में 'तद्वत' वस्तु की तात्विक स्थिति की ओर तथा श्तत्प्रकारका वस्तु की ज्ञानात्मक स्थिति की ओर संकेत करता है। इस प्रकार गंगेश की परिभाषा का अर्थ है कि प्रमा में ज्ञान का प्रकार वस्तु के तात्त्विक अथवा वास्तविक स्थिति नंरूप होता है। इससे स्पष्ट है कि गंगेश की परिभाषा भी यथार्थता से भिन्न नहीं है। गंगेश यहाँ विषय और ज्ञान दोनों में तदरूपता (तद्वत तद्प्रकारका) स्थापित करते हैं।

पूर्व मीमांसा

प्रमा के स्वरूप के संबंध में पूर्वमीमांसा के दोनों सम्प्रदायों, भाट्ट और प्रभाकर मत, अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई है। हम इनके मत की एक-एक करके चर्चा करेंगे।

भाट्ट मीमांसा

कमारिल वैध ज्ञान को इस प्रकार परिभाषित करते हैं

तस्मात् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयमान्।

भाट्टोम्बेक इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं यहाँ 'दृढ़' प्रमा में संदेह के अभाव का द्योतक है तथा 'विसंवादमृच्छति' (जिसे वह 'नापि संवादमृच्छति' के स्थान पर प्रयोग करते हैं), का अर्थ है कि जिसका किसी अन्य ज्ञान से बाध (खंडन) नहीं होता। अबाधित होने के कारण प्रमा भ्रम से भिन्न है क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान अपने परवर्ती ज्ञान से बाधित होता है। सुचरित मिश्र ने 'विज्ञान' का अर्थ 'अधिक विषय का ज्ञान अथवा 'अनधिगत ज्ञान से किया है। इस प्रकार सुचरित मिश्र के अनुसार प्रमा को 'अबाधित' और 'अनधिगत होना चाहिए।

पार्थसारथी ने पूर्वमीमांसा के सूत्र 1/1/5 की टीका करते हुए वैध ज्ञान को पारिभाषित करते हुए कहा है कि वैध ज्ञान वह है जो कारण दोष से रहित हो अर्थात् जिसका स्रोत (प्रमाण) दोषरहित

हो, जो अबाधित हो तथा जो अनधिगत हो''।

इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों के अनुसार वैध ज्ञान के निम्नलिखित चार लक्षण हैंख्रअबाधितत्त्व, अनधि गतत्त्व, असंदिग्धत्व तथा कारणत्व दोषरहितत्व। इनके अर्थ इस प्रकार हैं

नोट

(क) 'अबाधितत्त्व' अर्थात् अपने परवर्ती ज्ञान द्वारा खंडित न होना।

(ख) अनधिगतत्त्व' अर्थात् ऐसे विषय का ज्ञान जिसका पूर्व में अज्ञात हो। भाट्ट ज्ञान को व्यवहारिक उपयोग के संदर्भ में रखकर देखते हैं। व्यवहारिक रूप से उसी ज्ञान की उपादेयता है जो नवीन हो। जिसे हम पहले से जानते हैं उसे फिर जानकर व्यवहारिकता में कोई सहयोग नहीं मिलता।

(ग) "असंदिग्धत्व'अर्थात् प्रमा वह है जो संदेह से परे हो।

(घ) "प्रमा कारण दोष रहित'' है। प्रमा के कारण (स्रोत) को 'प्रमाण' कहते हैं। अतःकिसी ज्ञान के कारणदोषरहित होने का अर्थ है कि वह ज्ञान प्रमा है जो उचित प्रमाण से प्राप्त किया गया है। इस अर्थ में प्रमा के लिए प्रमाण अपरिहार्य है। पुनः कारणदोषरहित और अबाधित कोई ज्ञान तभी हो सकता है जबकि वह यथार्थ हो।

भाड़-मीमांसकों के ज्ञान संबंधी इन लक्षणों की आलोचना में प्राभाकर मत के समर्थक चाय शालिकनाथ ने कहा कि वैध ज्ञान को 'अनधिगत' कहना ज्ञान की परिभाषा को याप्त बनाना है तथा 'दृढ़' पद अनावश्यक है। ज्ञान को 'अविसंवादी' कहना अर्थात् अभ्रमात्मक कहना भी उचित नहीं क्योंकि वस्तुतः भ्रम भी यथार्थ ही होता है।

वस्तुतः भाट्टों के सम्मुख प्रमा को अनधिगत कहते ही धारावाहिक प्रत्यक्ष की समस्या आ जाती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा नहीं है? जैसे कि वस्तु 'क'का प्रत्यक्ष यदि हमें श्क्ष'क्षण में हो रहा है तो सिद्धांततः यह 'क्ष' क्षण अन सूक्ष्मतम खंडों में विभाज्य है। मान लें कि वह विभाग क्ष क्ष, इत्यादि है। क्षण क्ष, में व 'क' का हमें जो ज्ञान हो रहा है वह क्षण क्ष में हमें हो चुका है। अतः धारावाहिक प्रत्य में क्षण क्ष, में होने वाला ज्ञान अनधिगत नहीं है। पुनः क्ष के भी अनेक खंड हो सकते हैं जैसे क्ष, क्ष इत्यादि। इस प्रकार क्षण क्ष, का प्रत्यक्ष भी धारावाहिक प्रामाणित होता है तो क्या प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमा की कोटि में नहीं रखना चाहिए? परन्तु भाट्ट मत तो प्रत्यक्ष को प्रमाण की संज्ञा देते हैं।

इस आपत्ति निराकरण के लिए भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि यह दोषारोपण मात्र धारावाहिक प्रत्यक्ष के स्वरूप को न समझने के कारण किया जाता है। भाट्टों के अनसार क्ष क्षण के विभिन्न अंशों यथा क्ष,, क्ष,, इत्यादि में जिस वस्तु 'क' का प्रत्यक्ष किया जाता है, यद्यपि विभिन्न क्षणों के परिवर्तन के बीच भी वह वस्तु शाश्वत है तथापि क्षण तो परिवर्तित हो रहे हैं, अतः क्षण क्ष में जिस वस्तु क का प्रत्यक्ष होता है वह वस्तु क है। और क्षण क्ष, में जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा वह वस्तु क, है। इस भाँति धारावाहिक प्रत्यक्ष भी अनधिगत है और प्रमा की कोटि में आता है।

प्रभाकर मीमांसा

प्रभाकर मत ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा दोनों ही क्षेत्रों में कट्टर वास्तववादी है। उनकी मान्यता है कि हमारे ज्ञान के विषय स्वंतत्र रूप से अस्तित्ववान हैं और हमारा ज्ञान मात्र उन्हें प्रकाशित करता

है। यह मत प्रचलित वास्तववाद का है जो यह मानता है कि वस्तु का जैसा ज्ञान हमें होता है, यथार्थतः वस्तु वैसी ही है। इस प्रकार के प्रतिबद्ध वास्तववादी दर्शन में भ्रम का कोई स्थान नहीं रह जाता, फलतः प्राभाकर भ्रम की व्याख्या ख्यातिवाद से करते हुए भ्रम को भी यथार्थ कहते हैं।

नोट

प्राभाकर मत के अनुसार अनधिगतत्त्व के लक्षण के कारण प्रमा की परिभाषा में अव्याप्ति दोष हो जाता है। वे असंदिग्धता के उल्लेख को भी अनावश्यक कहते हैं। उनके अनुसार यथार्थत्व को स्वीकार करने से ख्यातिवाद का खंडन होता है। अतः प्राभाकरों ने प्रमा को मात्र अनुभूति के द्वारा परिभाषित किया है। उनके अनुसार स्मृति इस दृष्टि से वैध ज्ञान नहीं है। स्मृति में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह किसी साक्षात वस्तु के द्वारा उत्पन्न नहीं होता है वरन् पूर्व संस्कार के कारण उत्पन्न होता है।

इस प्रकार प्राभाकर मीमांसका के अनुसार वैध ज्ञान अथवा प्रमा 'अनुभूति'है। यहाँ 'अनुभूति' का अर्थ मात्र 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान नहीं है। अपितु यहाँ 'अनुभूति'पद का प्रयोग व्यापक है। इस मत के अनुसार, उपमानादि अन्य ज्ञान भी अनुभूति हैं।

परन्तु वैध ज्ञान को मात्र अनुभूति से परिभाषित करने में मीमांसकों के समक्ष कठिनाई उत्पन्न होती है। उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि अनुभूति के अन्तर्गत वे मात्र साक्षात अनुभूति को रखते हैं, या असाक्षात अनुभूति को भी रखते हैं? निश्चय ही जब प्रभाकर अनुमानादि को प्रमाण की श्रेणी में रखते हैं तो वे असाक्षात अनुभूति को भी प्रमा मानत हैं। परन्तु असाक्षात अनुभूति को प्रमा मान लेने से स्मृति को भी वैध ज्ञान मानना पड़ेगा क्योंकि स्मृति में अनुभूति तो हमें होती ही है, अन्तर इतना है कि साक्षात प्रत्यक्ष में अनुभूति वाक्षातं वस्तु की होती है और स्मृति में अनुभूति वस्तु के संस्कार की होती है। वस्तु का कार भी वस्तु द्वारा ही उत्पन्न होता है, अतः स्मृति भी असाक्षात् प्रत्यक्ष की श्रेणी में जा जाती है। ऐसी स्थिति में प्रमा की श्रेणी से उसका बहिष्कार उचित नहीं प्रतीत होता है।

किन्तु अगर असाक्षात ज्ञान को प्राधाकर अनुभूति की श्रेणी से हटाते हैं तो अनुमान को उमाण कहना उचित नहीं होगा क्योंकि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है और व्याप्ति असाक्षात अनुभूति पर आधारित होती है।

कुछ विद्वान पार्थसारथी द्वारा की गई प्रभाकर मत की इस आलोचना को निराधार कहते हैं। उनके अनुसार स्मृति की उपस्थिति मात्र से कोई अनुभूति अप्रमा नहीं होती। व्याप्ति में अनुभूति उपस्थित मात्र रहती है किन्तु इन अवस्थाओं में इन्द्रिय वस्तु के सम्पर्क में रहती है।

इस विवाद के समाधान के लिए अनुमान और व्याप्ति का विश्लेषण करना आवश्यक है। एक उदाहरण लेख्रपर्वत पर धूम देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। इसमें कितनी बातें हैं? (क) पर्वत पर धूम का प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय से वस्तु का सम्पर्क; (ख) व्याप्ति अर्थात् जहाँ-जहाँ ध ुआँ है वहाँ-वहाँ आग है का स्मरण (ग) इस आधार पर अनुमान अर्थात् 'पर्वत पर अग्नि है' ज्ञान; अर्थात् अग्नि से इन्द्रिय के साक्षात सम्पर्क के अभाव में ही अग्नि का ज्ञान।

अब उपरोक्त मत के विरुद्ध आपत्ति का अवसर यहीं से प्रारंभ होता है। ऊपर के उदाहरण में हमने देखा है कि इन्द्रियों के साक्षात् सम्पर्क में धूम आया, और हमारा निर्णय अग्नि से संबंधित है जो इन्द्रिय के सम्पर्क में नहीं हैं, अर्थात् हमारा अग्नि का ज्ञान असाक्षात है। स्मृति में भी यही होता है। इस समय हम स्मरण कर रहे हैं कि कल जब हम भ्रमण कर रहे थे तो एकं विषधर हमारे पैरों के पास से सरक गया था़इस ज्ञान को अवैध कहने का मीमांसकों का आधार क्या है? यही

नोट

न कि उस समय जिस सर्प की अनुभूति हमें हुई। वह साक्षात् नहीं है, या, इस समय जो अनुभूति हमें हो रही है वह सर्प के द्वारा नहीं सर्प के संस्कार से उत्पन्न अर्थात् असाक्षात है। किन्तु सर्प का संस्कार तो कल हमने जो सर्प देखा था उससे प्राप्त हुआ है, अर्थात् फिर तत्त्वत: हम अनुमान वाली स्थिति में पहुँच गए। (क) कल हमने सर्प देखाख्रअर्थात सर्प से इन्द्रिय का साक्षात सम्पर्क, तथा (ख) सर्प की स्मृति अर्थात् सर्प हमारे इन्द्रिय सम्पर्क में नहीं आया फिर भी सर्प का ज्ञान। इस प्रकार स्मृति भी अनुमान की भाँति असाक्षात ज्ञान प्रमाणित होती है। यहाँ अनुमान को प्रमा की कोटि में रखकर स्मृति का बहिष्कार उचित प्रमाणित नहीं होता।

प्राभाकार मत में एक दूसरी कठिनाई भी है। प्रमा को 'अनुभव'मात्र के पद में परिभाषित करने पर सभी प्रकार की अनुभूति, जिसमें भ्रम भी है, वैधता की श्रेणी में आ जाती है। इसमें व्यवहारिक कठिनाई है। ज्ञान की वैधता के विश्लेषण को सिर्फ तात्विक स्तर पर रखने से प्रमा अपने संदर्भ से कट जाता है। भारतीय परम्परा में प्रमा या ज्ञान स्वत: साध्य नहीं है, अपितु यह नि:श्रेय का साधन है। मीमांसक भी प्रत्येक भारतीय दार्शनिक की भाँति इस बात को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि रामानुजाचार्य ने प्रमाण्य या प्रमात्व के तीन लक्षण बताए हैं-यथार्थत्व, स्मृति से भिन्नता तथा संयक्तव। 'संयक्तव' का अर्थ है-'व्यवहार में सफलता'।

वेदान्त दर्शन

धर्मराजध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में प्रमा की दो प्रकार की परिभाषाएँ दी है।

(1) स्मृति के अतिरिक्त अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। परिभाषा में ज्ञान की दो उपाधियाँ हैं

(क) ज्ञान अनधिगत होता है अर्थात नवीनता प्रमा की अन्यान्य उपाधि हैं।

(ख) प्रमा अबाधित विषय का ज्ञान है। अबाधितत्त्व वह है जो अपने परवर्ती जान द्वारा खंडित न हो।

(2) प्रमा की दूसरी परिभाषा स्मृति को प्रमा की श्रेणी में रखकर की गई है। इस परिभाषा के अनुसार अबाधित विषय का ज्ञान प्रमा है।

इन दो परिभाषाओं से ऐसा लगता है कि वेदान्ती ज्ञान के क्षेत्र में नवीनता अथवा अनधिगतत्त्व की स्थापना के प्रति दृढ़ नहीं है। परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। इन परिभाषाओं से इतना स्पष्ट होता है कि स्मृति को वेदान्ती निर्विवाद रूप से प्रमा की श्रेणी में रखते हैं। और स्मृति के लिए ही ज्ञान की परिभाषा को इतना लचीला बनाते हैं। इन दो परिभाषाओं के संश्लेषण से ज्ञान की यह परिभाषा निकलती है-''स्मृति के अतिरिक्त जिस किसी ज्ञान को प्रमा की कोटि में रखा जाय उसकी अनिवार्य उपाधि हैं कि वह अनधिगत हो तथा अबाधित हो। स्मृति के क्षेत्र से भी उसी स्मृति को प्रमा की कोटि में रखा जा सकता है जो अबाधित हो।'

प्रमा की दूसरी अनिवार्य उपाधि, वेदान्त मत के अनुसार, अबाधितत्त्व है। 'अबाधितत्त्व का अर्थ 'ज्ञान के खंडन से परे'रह जाने में है। प्रश्न है कि वेदान्त तत्त्वमीमांसा के अनुसार क्या दृश्य जगत का कोई भी ज्ञान इस अर्थ में वस्तुत: अबाधित है?

वेदान्ती 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'का प्रतिपादन करते हैं। इस मत के अनुसार ब्रह्मज्ञान के साथ जागतिक ज्ञान का खंडन हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न है कि शुक्ति-रजत की भाँति ही घटादि अन्य पदार्थों को भी मिथ्यात्व प्राप्त है, फिर भी इनका प्रमात्व कैसे स्वीकारा जा सकता है?

नोट

वेदान्त परिभाषा में प्रतिज्ञापूर्वक इसका समाधान किया गया है। वेदान्त मत के अनुसार ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर ही जगत तथा घटादि अन्य विषयों का बाध होता है परन्तु संसार दशा में इनका बाध नहीं होता। अत: 'अबाधित' पद से 'संसार दशा का अबाधित होना अर्थ प्रकट होता है। जिस प्रकार'आत्मनिश्चय' (ब्रह्म साक्षात्कार) होने तक देह आत्मा है-यह प्रामाणिक है उसी प्रकार घटादि लौकिक पदार्थों का ज्ञान लौकिक रूप से प्रमा है।

वेदान्त ज्ञानमीमांसा में जो नई बात सामने आती है वह स्मृति से संबंधित है। वेदान्ती। स्मृति को प्रमा रूप प्रमाणित करने को कटिबद्ध हैं और इस हेतु वह प्रमा की परिभाषा में इस अपवाद के लिए भी स्थान छोड़ देते हैं कि स्मृति के अतिरिक्त प्रमा को अनधिगत होना चाहिए। अन्य दार्शनिकों, यथा मीमांसकों, नैय्यायिकों तथा सांख्यों ने स्मृति को प्रमा की कोटि में नहीं रखा है। वेदान्त दर्शन इस दृष्टि से अन्य आस्तिक दर्शनों की अपेक्षा अधिक व्यवहारिक प्रतीत होता है क्योंकि व्यवहार जगत में प्रमा किसी अर्थसिद्धि का साधन होता है। उस रूप में बहुधा स्मृति को भी प्रमा रूप मानकर निष्कर्ष निकाले जाते हैं, यथा इस समय मुझे स्मरण हो रहा है कि कमरे की चाभी मैंने पड़ोसी को दे दी है, इस स्मृति का यथार्थ (प्रमा रूप) मानकर ही मैं पड़ोसी के पास जाकर कमरे की चाभी लाती हूँ।

स्मृति को 'प्रमा' रूप कहने से वेदान्ती मीमांसकों वाली व्याप्ति के स्वरूपजन्य कठिनाई से बच जाते हैं। 'स्मृति'को प्रमा रूप कहने का तकनीकी लाभ यह भी है।

बौद्ध मत

धर्मोत्तर ने वैध ज्ञान को 'अनाधिगत अविसंवादी और अर्थक्रियासमर्थ'' कहा है। कि धर्मोत्तर के अनुसार प्रमा का महत्त्व उस वस्तु को प्राप्त करने वाली क्रिया में सहयोग 5 में है जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। अर्थात् किसी वस्तु 'क' के ज्ञान से यदि या 'क' को पा ले रहे हैं तो 'क'का ज्ञान वैध है। चूंकि अधिगत ज्ञान से इस प्रकार के लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती अर्थात् जब सर्वप्रथम हमें उस विषय का ज्ञान होता है तभी हम वस्त की ओर बढ़ जाते हैं, अत: दुबारा प्राप्त ज्ञान आगे बढ़ने में हमारी सहायता नहीं करता। इस प्रकार वैसा ज्ञान जो अनधिगत नहीं है, प्रमा नहीं है।

इस दृष्टि से स्मृति प्रमा नहीं है। संशय और भ्रम भी प्रमा नहीं है क्योंकि इससे भी किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। भ्रम और संशय को अप्रमा की कोटि में रखने का दूसरा कारण भी है। भ्रम अप्रमा इसलिए है कि भ्रम में जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह वस्तु मिथ्या होती है, अस्तित्त्व रहित होती है, अत: उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह भ्रामक ज्ञान लक्ष्य प्राप्ति में साधक नहीं। इस प्रकार प्रमा का अनिवार्य लक्षण, बौद्धों के अनुसार, यथार्थता है।

संशय में एक ही वस्तु एक ही समय पर अस्तित्त्ववान और अस्तित्त्वरहित प्रतीत होती है। ऐसा किसी भी वस्तु के लिए संभव नहीं है। अत: ऐसी वस्तु प्राप्त भी नहीं की जा सकती।

पुन: प्रमा का अनिवार्य लक्षण अविसंवादक होना है। बौद्धों द्वारा दिया गया 'अविसंवादी'का अर्थ भाट्ट मीमांसकों के 'अविसंवादी' के अर्थ से भिन्न है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान की वस्तु अगर उस ज्ञान

नोट

के माध्यम से प्राप्त की जा सके तो ज्ञान अविसंवादी है और वह प्रमा की कोटि में आ सकता है। जैसे पर्वत पर धूम्र को देखकर हमें अग्नि का ज्ञान हो रहा है। अग्नि के इस ज्ञान से उस स्थान पर जाकर यथार्थतः अग्नि प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार बौद्ध प्रमा की व्यवहारवादी परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार प्रमा का चरम उद्देश्य अर्थसिद्धि है।

परन्तु प्रमा की इस परिभाषा में दोष हैं। बहुधा वस्तुएँ अस्तित्त्व में आती हैं और शेष हो जाती हैं या हमारे लिए इनका कोई व्यवहारिक महत्त्व नहीं होता। यथा, इस समय जल का मुझे ज्ञान हो रहा है परन्तु यह मेरे व्यवहारिक महत्त्व का नहीं है क्योंकि मुझे प्यास नहीं है। ।

पुनः कमारिल भट्ट ने बौद्धों द्वारा दी गई अविसंवादी के अर्थ की आलोचना करते हुए लिखा है कि अगर ज्ञान का उद्देश्य वस्तु को प्राप्त कर लेना ही है और वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् ही वह सिद्ध होता है तो बिजली चमकने से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह सदैव असिद्ध रहेगा क्योंकि बिजली की चमक को हम प्राप्त नहीं कर सकते।

परन्तु ये दोनों आक्षेप एक भ्रम पर आधारित हैं। यह भ्रम 'अर्थक्रिया समर्थवस्तुप्रदर्शकम् का अर्थ नहीं समझने के कारण हुआ है। 'अर्थक्रिया समर्थ'का अर्थ वैसा ज्ञान नहीं है जो अर्थ प्राप्ति में तत्काल साधक हो या यथार्थतः साधक हो हीं। श्अर्थक्रिया समर्थ'का अर्थ यह है कि अगर उस ज्ञान पर विश्वास करके हम उस पुर वस्तु के प्राप्ति की चेष्टा करें तो वह वस्तु प्राप्त की जा सकेगी। जल का ज्ञान मुझे हो रहा है और यह प्रमा रूप तभी होगा जबकि प्यास लगने पर यह जल मेरी तृष्ण ा को शांत कर सके।

दूसरे आक्षेप में भी कहा गया है कि बिजली की चमक को हम प्राप्त नही । परन्तु 'प्राप्ति का अर्थ क्या कुमारिल वही समझ रहे हैं जो बौद्ध कह रहे हैं, अर्थ मात्र मुट्ठी में बंद कर लेना नहीं होता। बिजली की चमक की अनुभूति ही उसकी प्राप्ति है।

जैन दर्शन

जैन दार्शनिकों ने सम्यक ज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तारेण वा।
यो व बोधस्तामत्राहुः सम्यज्ञानं मनीषिणः।।

''तत्त्वों का उनकी अवस्था के अनुरूप संक्षेप या विस्तार से जो बोध होता है । विद्वान लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं।'' मध्वाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में इसकी टीका की है-''जिस स्वभाव अथवा रूप में जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं उसी रूप में मोह तथा संशय से रहित होकर उन्हें जानना सम्यक् ज्ञान है।

ज्ञान की इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट हैं

(क) जिस रूप में पदार्थ व्यवस्थित है उन्हें उसी रूप में जानना प्रमा है। जिस रूप में पदार्थ व्यवस्थित है उन्हें उसी रूप में जानना इससे यह तो यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि जैन भी नैय्यायिकों की भाँति प्रमा की यथार्थता पर बल देते हैं।

(ख) वस्तु को मोह से परे अर्थात् पूर्वाग्रह से परे होकर जानना प्रमा है।

(ग) प्रमा संशय रहित ज्ञान है।

इस प्रकार जैन ज्ञानमीमांसा में प्रमा के व्यवहारवादी पक्ष को ध्यान में रखकर प्रमा की उपर्युक्त तीन

उपाधियाँ बताई गयी है।

प्रमा की उपाधियों में प्रयुक्त प्रमुख सम्प्रत्यय

इस प्रकार विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के अनुसार प्रमा की धारणा को स्पष्ट करने में निम्नलिखित प्रमुख सम्प्रत्यय मिलते हैं।

(क) यथार्थत्व-प्रमा के लक्षण की विवेचना में ही इस समस्या का स्वरूप स्पष्ट होता चला आया है। प्रश्न है कि क्या वस्तुतः यथार्थतत्त्व प्रमा का अनावश्यक लक्षण है जैसा कि गंगेशोपाध्याय कहते हैं? किन्तु हम देख आए हैं कि गंगेशोपाध्याय द्वारा दी गई प्रमा की परिभाषा से प्रमा की अनिवार्य उपाधि के रूप से यथार्थत्व प्रतिष्ठित हो जाता है। ।

(ख) अनधिगतत्व-प्रमा को अनधिगत होना चाहिए। बौद्ध, सांख्य, भाट्टमीमांसक, तथा वेदान्ती इसके प्रबल समर्थक हैं किन्तु कुमारिल इसके उग्र विरोधी हैं। अनधिगतत्त्व के विरुद्ध उनका सर्वाधिक सफल आक्षेप व्याप्ति को आधार बनाकर होता है जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। किन्तु वेदान्ती स्मृति को इसका अपवाद कहकर कुमारिल के आक्षेप से बच निकलते हैं।

(ग) असंदिग्धत्व-जैन दार्शनिक प्रमा के पूर्वाग्रह मुक्त तथा संशयमुक्त पक्ष का चर्चा करते हैं। नैय्यायिक और भाड़ मीमांसक भी इसकी चर्चा करते हैं। यह प्रमा के विषयिनिष्ठ पक्ष को उजागर करता है। हम देख चुके हैं कि नैय्यायिकों के अनुसार 'सद का अभाव' विषयिनिष्ठता-मात्र है। वस्तुतः ज्ञान के क्षेत्र में मात्र विषयिनिष्ठता को ओढ़ा नह। जा सकता क्योंकि इससे अहंमात्रवाद की उत्पत्ति होती है। परन्तु इसकी आवश्यकता को अस्वीकार करना भी संभव को नहीं है क्योंकि व्यवहारिक जगत में प्रमा के लिए प्रमाताज्यक है और प्रमाता की आवश्यकता स्वीकार करते ही प्रमा की विषयिनिष्ठता से बच पाना असंभव हो जाता है।

(घ) कारणबाधदोषरहितत्त्व- इसका अर्थ है कि प्रमा के लिए जो साधन हों, वे =दोषरहित हों। यहाँ दो प्रश्न उठते हैं प्रमा के साधन क्या हैं और उन्हें दोषरहित कब ना जा सकता है? प्रमा के साधन को 'प्रमाण' कहते हैं। यह समस्या प्रमाण विषयक है। कहा जिसकी चर्चा प्रमाणों की चर्चा के क्रम में की जाएगी।

(ङ) अबाधितत्व-प्रमा का प्रमात्व उसके खंडन से परे रह जाने में माना गया है। छ अन्य दार्शनिकों ने प्रमा की अनिवार्य उपाधि के रूप में यथार्थत्व को स्वीकार किया है तथा यथार्थत्व की परिभाषा अबाधितत्व के द्वारा दी है। इस प्रकार अबाधितत्व को लेकर दो प्रश्न उठते हैं। प्रथमतः यह कि जिस प्रकार सत्यता की व्याख्या के लिए संवाद सिद्धान्त, संसक्तता सिद्धान्त आदि अन्य सिद्धान्त ज्ञानमीमांसा में पाए जाते हैं, क्या अबाधितत्व भी सत्यता की व्याख्या करने वाला कोई सिद्धान्त है? अथवा, क्या यह प्रमा की स्वतंत्र उपाधि है2;अबाधि तत्व को लेकर दूसरा प्रश्न यह है कि कब कोई प्रमा 'अबाधित'कह दी जा सकेगी? कितने परीक्षाणे के उपरान्त या कितनी अवधि बीत जाने पर हम कह सकेंगे कि अब यह ज्ञान अथवा यह प्रतिज्ञप्ति खंडन से परे हैं? अथवा, किसी भी ज्ञान अथवा प्रतिज्ञप्ति को 'अबाधित'की संज्ञा पाने के लिए किस कसौटी पर खरा उतरना होगा? इन प्रश्नों को उत्तर

आनुभविक ज्ञान की संभाव्यता बनाम तार्किक अनिवार्यता'विषयक विवेचन में ढूंढ़ा जा सकता है। पाश्चात्य जगत के आधुनिक तर्कशास्त्रज्ञ यह स्थापित करते हैं कि आनुभविक ज्ञान अथवा तथ्यात्मक कथन कभी भी उस रूप में, 'अनिवार्य अथवा अशोध्य नहीं होते जिस रूप में प्रागनुभविक ज्ञान अथवा विश्लेषी प्रज्ञिप्तियाँ 'अनिवार्य'अथवा श्अशोध्य कही जाती है, क्योंकि आनुभविक कथनों के खंडन (बाध) की संभावना सदैव बनी रहती है, तथापि आनुभविक ज्ञान के क्षेत्र में भी 'सत्यता'एवं निश्चयात्मकता के प्रश्न उठते हैं। यहाँ 'निश्चयात्मता की माँग ज्ञान की संभावना की दृष्टि से उठती है, न कि ज्ञान की। अनिवार्यता की दृष्टि से।

'अबाधित' पद की व्याख्या इसी विवेचन के आलोक में की जानी चाहिए। वस्तुतः आनुभविक अथवा व्यवहारिक जगत का प्रत्येक ज्ञान सदैव संशोध्य होता है, तथापि जब तक कोई ज्ञान अपने परवर्ती अनुभव के द्वारा खंडित नहीं हो जाता, उस ज्ञान को 'अबाधित अथवा यथार्थ ही कहा जाता है।

3.4 प्रमाण

प्रमाण किसे कहते हैं ?

'प्रमा' से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण संप्रत्यय 'प्रमाण'का है। 'प्रमाण'शब्द 'करण'(साधन) अर्थ वाले 'ल्यूट्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है। कहा गया है- श्प्रमीयतेऽनेन तत। प्रमाणम्'अर्थात 'जिससे प्रमा या प्रमिति हो, वह प्रमाण है।'

भारतीय दर्शन में 'प्रमाण'को तीन अर्थों में व्यवहत किया गया हैख्र(क) 'प्रमा' के पयार्यवाची अर्थ में, (ख) प्रमा के साधन (करण) के रूप में, तथा (ग) प्रमा के कारण के अर्थ में। इनमें प्रथम अर्थ वर्तमान संदर्भ में महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि 'प्रमा' का स्वरूप पवचन हम ऊपर कर आए हैं। द्वितीय और तृतीय अर्थ में 'प्रमाण' प्रमा का 'करण' (साधन) अथवा 'कारण है। 'कारण' पद की व्याख्या करते हुए पाणिनी ने पाणिनीस 4/42 में 'साधकतम् करणम्' कहा है अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो सर्वाधिक प्रक से प्रवृत्त हो वहीं साधन है। इस प्रकार 'करण' रूप में प्रमाण 'प्रमा का साधन है। प्रया को 'प्रमा का साधन' कहने का क्या अर्थ है? इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान ले 'पर्वत पर धुआँ हैख्रयह एक ज्ञान है। अब यहाँ प्रश्न यह होगा कि 'पर्वत अग्नि है-इस विषय का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इस संदर्भ में यह संभव है कि हमें प पर अग्नि देखकर यह ज्ञान प्राप्त हुआ हो कि पर्वत पर अग्नि है या, पर्वत पर अग्नि हमने स्वयं नहीं देखा हो किन्तु पर्वत पर धूम देखकर अनुमान से हमें यह ज्ञात हुआ । कि 'पर्वत पर धुआँ' है। तात्पर्य यह कि इस ज्ञान की प्राप्ति का कोई-न-कोई साधन हमारे पास होता है। ज्ञान के इस साधन को ही प्रमाण कहते हैं।

भारतीय दर्शन में 'प्रमा' के जनक को प्रमाण कहा जाता है। इस अर्थ में 'प्रमाण' प्रया का उत्पादक है। 'प्रमाण' के इस अर्थ के अनुसार प्रमाण के अभाव में प्रमा की उत्पत्ति संभव नहीं।

वस्तुतः 'कारण' और 'करण' में कोई मौलिक भेद नहीं। भारतीय दर्शन में तीन प्रकार के कारण बतलाए गए हैं। उपादानकारण, निमित्तकारण और प्रयोजनकारण। इनमें निमित्त कारण' को 'करण' कहा गया है। वस्तुतः 'कारण' का संप्रत्यय 'करण' से अधिक व्यापक है। 'करण' 'कारण' का

अंश है। इसीलिए नैय्यायिक उद्योतकर ने कहा है कि प्रमाण'को 'प्रमा के कारणश्ख्ररूप में परिभाषित करना अतिव्याप्त परिभाषा का दोष है क्योंकि प्रमा के कारण तो प्रमाता और प्रमेय भी होते हैं, किन्तु प्रमाण प्रमाता और प्रमेय से भिन्न है। अत: 'प्रमाण' को प्रमा का करण' ही समझा जाना चाहिए क्योंकि प्रमा के निमित्त कारण के रूप में प्रमाण ही उपस्थित होता है। न्यायवार्त्तिक में प्रमाण को प्रमाता और प्रमेय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योंकि यदि प्रमाण न हो तो प्रमाता प्रमेय को जान नहीं सकता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार अज्ञात अर्थ (विषय) के ज्ञापक को प्रमाण कहते हैं। अन्यत्र प्रमाण के विषय में कुमारिल भट्ट ने कहा कि जो विज्ञान अर्थात् अर्थ (विषय) का बोधक है, निश्चित, बाध रहित तथा लोकसम्मत है वह 'प्रमाण' है।

भाट्ट मीमांसकों की भाँति प्राभाकर मीमांसकों ने भी प्रमाण का लक्षण करते हुए प्रमाण को अज्ञात अर्थ (विषय) का बोधक कहा तथा इसी गुण के अभाव में 'स्मृति' को प्रमाण की कोटि से बहिष्कृत किया। मीमांसकों की भाँति बौद्धों ने भी प्रमाण को अज्ञात अर्थ का ज्ञापक'कहा न्यायबिंदु के टीकाकार धर्मोत्तराचार्य ने भी कहा कि प्रमाण का विषय अनधिगत (जो पूर्व ज्ञात नहीं। हो) होता है। बौद्ध धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में ज्ञान के लक्षण का विवेचन करते हुए। कहा है कि जो प्रमाणे का अविसंवादी हो वह ज्ञान है। स्पष्टत: धर्मकीर्ति के अनुसार प्रमाण प्रमा को संगति प्रदान करता है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि प्रमेय को सिद्ध करने वाला प्रमाण है। वाचस्पति मिश्र ने भी प्रमाण को प्रमा के साधन रूप में ही स्वीकार किया है। यहाँ कहा गया है कि जिससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रमाण है। यह संदेहरहित, अविपरीत, अनधिगत विषय में उपस्थित चित्तवृति है। पुरुष को होने वाला प्रकाश रूप बोध प्रमाण का फल है, जिस 'प्रमा' कहते हैं और प्रमा का साधन प्रमाण है।

वेदान्तियों ने प्रमा के 'करण' के रूप में प्रमाण को परिभाषित किया। 'करण के अर्थ की व्याख्यास हम ऊपर कर आए हैं। इस रूप में वेदान्त मतानुसार भी प्रमाण प्रमा का उत्पादक अथवा साधन है।

जैन दार्शनिक भी प्रमाण को विषय का 'प्रकाशक' ही कहते हैं। परीक्षामुख में प्रमाण = विषय में कहा गया कि अपना और अपूर्व अर्थ (अज्ञात विषय) का सम्यक् निश्चिय कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाणों की संख्या

विविध भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमाणों की संख्या को लेकर भी मतैक्य नहीं । यहाँ एक से आठ प्रमाण तक माने गए हैं। ये आठ प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव एवं एतिह्य कहे जाते हैं।

नास्तिक शिरोमणि चार्वाक मात्र एक ही प्रमाण- 'प्रत्यक्ष'को स्वीकार करते हैं। चार्वाक मतानुसार इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान ही एकमात्र प्रमाण है। प्रत्यक्षेत्तर अन्य प्रमाणों का खंडन करते हुए चार्वाक इन प्रमाणों को मौलिक नहीं मानते। अनुमान तथा शब्द प्रमाण के उपागम भी चार्वाक प्रत्यक्ष में ही ढूँढ़ते हैं तथा उपमान को शब्द और अनुमान का मेल बतलाते हैं। इसी भाँति ज्ञान के अन्य साधनों की प्रामाणिकता पर चार्वाक संदेह व्यक्त करते हैं।

बौद्ध मतानुसार प्रमाण मात्र दो हैंख़्प्रत्यक्ष और अनुमान। बौद्ध मत के अनुसार सत्य द्विविध है-परमार्थ

और संवृत्ति। तदनुरूप इनको विषय करने वाले प्रमाणों भी दो हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष का विषय परमार्थ या स्वलक्षण है तथा अनुमान का विषय संवृत्ति है।

नोट

जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द-इन तीन प्रमाणे को मानते हैं। जैन मतानुसार ज्ञान दो प्रकार के हैंख्रअपरोक्ष (प्रत्यक्ष) तथा परोक्ष। पुन: परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैंख्रसांव्यवहारिक और पारमार्थिक। जो ज्ञान प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार का कारण है वह सांव्यवहारिक कहलाता है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियों की सहायता के बिना होता है। पुन: जैन मतानुसार परोक्ष ज्ञान या परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।

आस्तिकों में वैशेषिक दो प्रमाणों को मानते हैंख्रप्रत्यक्ष और अनुमान। सांख्ययोग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। नैय्यायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-इन चारों को प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर मीमांसक पाँच प्रमाणों को स्वीकार करते हैंख्रप्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति। भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्त छ: प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। पौराणिक इन छ: प्रमाणों के अतिरिक्त दो प्रमाण 'संभव' तथा 'एतिह्य' को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में कुल आठ प्रमाणों की चर्चा मिलती हे प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव तथा एतिह्य।

3.5 प्रमाण व्यवस्था

प्रमाण के विषय में बौद्ध एक विशेष नियम की स्थापना करते हैं जिसे प्रमाण व्यवस्था का नाम दिया जाता है।

बौद्ध द्विप्रमाणवादी हैं। बौद्ध मत के अनुसार प्रमाण मात्र दो हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान

बौद्ध प्रणाली के अन्तर्गत इन दो प्रमाणों का अन्तर अत्यन्त मौलिक है। प्रत्यक्ष और, के बीच का यह भेद प्रत्यक्ष और अनुमान की विषय-वस्तु के आधार पर किया गया के द्वारा जिसका बोध होता है, अनुमान के द्वारा उसका बोध संभव नहीं। इसी भाँति के द्वारा जिसका बोध होता है प्रत्यक्ष के द्वारा उसका बोध संभव नहीं। शब्दान्तर प्रमाण कभी भी एक ही वस्तु को अपना विषय नहीं बना सकते। इन दो प्रमाणों के विषय भी द्विविध हैंख्रस्वलक्षण और सामान्य लक्षण। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण परमार्थ है जो निर्विशेष, अनभिलाप्य और नामरूप रहित है। अनुमान का विषय । लक्षण अथवा सांवृत्तिक सत्य है जो सविशेष, अभिलाप्य और नामरूप सहित है। के द्वारा जिसका बोध होता है अनुमान द्वारा उसका बोध कदापि संभव नहीं। स्वलक्षण परमार्थ सत्य, जो प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु है, कदापि अनुमेय नहीं और संवृत्ति जो अनम की विषय-वस्तु है कदापि प्रत्यक्षगम्य नहीं।

पाश्चात ज्ञानमीमांसीय परम्परा में बौद्धों के द्वारा प्रमाण-व्यवस्था की तुलना बर्टेड रसेल के ज्ञदवूसमकहम इल ंबुनपजंदबमश (परिचयात्मक ज्ञान) और 'ादवूसमकहम इल कमेबतपचजपवद (विवरणात्मक ज्ञान) से की जा सकती है। रसेल के मतानुसार इन्द्रिय प्रत्यक्ष में साक्षात रूप में हमें इन्द्रिय संवेद्यों अथवा इन्द्रय प्रदत्त (ेमदेम कंजं) का ही ज्ञान होता है जो इन्द्रिय प्रदत्त सर्वथा मौलिक और विलक्षण होते हैं। अतएव इनका यथारूप कथन भी संभव नहीं होता। इन्द्रिय प्रदत्तो को नामादि के द्वारा जब सूचित किया जाता है तो वह ज्ञान विवरणात्मक ज्ञान है जिसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त पूर्वानुभव की भी भूमिका होती है। तथापि रसेल बौद्धों की भाँति खुलकर प्रमाण-व्यवस्था का सिद्धांत निरूपित

नहीं कर पाते। वस्तुतः रसेल के मत में अनुमान प्रत्यक्षेतर ज्ञान है जिसकी आधारशिला प्रत्यक्ष ही है जबकि बौद्ध मत में अनुमान प्रत्यक्षेतर तो अवश्य है किन्तु, अनुमान का विषय प्रत्यक्ष के विषय से सर्वथा भिन्न है, इस रूप में बौद्ध मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के दो सर्वथा भिन्न साधन है। ।

नोट

भारतीय परम्परा में प्रमाण-व्यवस्था का यह बौद्ध सिद्धांत विलक्षण और मौलिक है। अन्य भारतीय परम्पराएँ बौद्धों की इस प्रमाण-व्यवस्थावादी सिद्धांत के विरुद्ध प्रमाण संप्लव के सिद्धांत का समर्थन करती हैं। प्रमाण संप्लव के अनुसार एक ही विषय एकाधिक प्रमाणों के द्वारा जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष में इन्द्रिय सन्निकर्ष से जिस अग्नि का साक्षात् बोध होता है उसी अग्नि का असाक्षात ज्ञान लिंग दर्शन के आधार पर अनुमान प्रमाण के द्वारा भी होता है।

बौद्ध तार्किक संप्लववादियों के इस मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि यह ठीक है कि प्रत्यक्ष से भी हम अग्नि को जान सकते हैं तथा अनुमान से भी अग्नि को जान सकते हैं किन्तु प्रत्यक्ष से हम जिस अग्नि को जानते हैं तथा अनुमान से जिस अग्नि को हम जानते हैं, इन दोनों ही अग्नियों के स्वरूप में भेद है। वह भेद इस प्रकार है कि प्रत्यक्ष में ज्ञाता। को जिस वस्तु का बोध होता है वह बोध नामजात्यादि की योजना रहित होता है जबकि अनुमान में जिस 'अग्नि'का बोध होता है, वह बोध नाम-जात्यादि की योजना सहित होता है।

इस प्रकार प्रमाण-व्यवस्था के अंतर्गत बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद प्रत्यक्ष आर अनुमान की विषय-वस्तु के आधार पर करते हैं।

बौद्ध प्रमाण-व्यवस्था के इस स्वरूप पर आक्षेप करते हुए प्रमाण संप्लववादी कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद विषय-वस्तु के भेद पर आधारित नहीं होता। यण संप्लववाद के अनुसार जिसे बौद्ध 'नाम जात्यादि की योजना रहित ज्ञान' और 'नाम आदि की योजना सहित ज्ञान' कहते हैं, वे दोनों ही ज्ञान प्रत्यक्ष के दो रूप हैं। भारतीय आस्तिक परम्परा में प्रत्यक्ष के दो भेद बतलाए गए हैं (क) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, तथा (ख) सविकल्पक प्रत्यक्ष। न्याय प्रमाण संप्लववादियों के अनुसार जिसे बौद्ध 'नाम जात्यादि ने योजना रहित ज्ञान' कहते हैं वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है तथा जिसे बौद्ध 'नाम जात्यादि की योजना सहित ज्ञान' कहते हैं वह संविकल्पक प्रत्यक्ष है। इस प्रकार प्रत्यक्ष में विषय का दोनों ही प्रकार का ज्ञान संभव होता है। इसके विपरीत अनुमान में जिस अग्नि का ज्ञान होता है वह अग्नि तो वही है जिसका ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष में होता है, किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान में भेद यह है कि प्रत्यक्ष में अग्नि का साक्षात ज्ञान होता है जबकि अनुमान में अग्नि का असाक्षात ज्ञान होता है।

इस प्रकार संप्लववादी प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद विषय-वस्तु के आधार पर न करके इस भेद को प्रत्यक्ष और अनुमान के स्वरूप भेद पर आधारित करते हैं। न्याय मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान में यह भेद है कि प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान है जबकि अनुमान लिंग दर्शन के उपरान्त व्याप्ति स्मरण से प्राप्त विषय का ज्ञान है। नव्य वेदान्ती तथा नव्य नैय्यायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान में भेद 'साक्षात और 'असाक्षात' बोध का होता है। प्रत्यक्ष साक्षात ज्ञान है और अनुमान असाक्षात ज्ञान है जो व्याप्ति और पक्षता के आधार पर प्राप्त किया जाता है।

वस्तुतः प्रमाण-व्यवस्था बनाम प्रमाण-संप्लव के विवाद का मूल प्रत्यक्ष और अनुमान की विषय-वस्तु और परिभाषा के विवाद के मूल में छुपा है। प्रत्यक्ष की परिभाषा, विषयवस्तु और प्रकार के विषय

में बौद्धों का अपना मत है, जो न्याय अथवा वेदान्त परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। यह भेद इन दर्शनों की तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय प्रतिस्थापनाओं के मौलिक भेद के कारण उत्पन्न हुआ है अतएव प्रमाण-व्यवस्था बनाम प्रमाण-संप्ल्व के विवाद का समाधान भी बौद्धों तथा अन्य मतावलम्बियों के अपने ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय तंत्र के अन्तर्गत ही ढूंढा जाना चाहिए। तथापि बौद्धों का प्रमाण-व्यवस्था विषयक सिद्धांत इस रूप में महत्त्वपूर्ण है कि यह सिद्धांत प्रमाणों की सीमा और स्वरूप भेद के प्रति अत्यधिक सजग सचेष्ट है। प्रमाण-व्यवस्था इस अर्थ में बौद्ध, ज्ञानमीमांसा विलक्षणता को स्पष्ट करता है कि प्रमाण-व्यवस्था के सिद्धांत के अनुसार प्रमाण अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। इस रूप में प्रमाण-व्यवस्था का सिद्धांत प्रत्यक्ष और अनुमान की विषय-वस्तु, सीमा और इयत्ता निर्धारण का सिद्धांत है।

3.6 सारांश

भारतीय परम्परा में त्रिपुटिज्ञान की अवधारणा पाई जाती है। प्रमा चूँकि एक पल ज्ञान है अतएव यहाँ प्रमा का स्वरूप निरूपण भी त्रिपुटिज्ञान के रूप में किया गया। त्रिपुटिज्ञान के रूप में प्रमा के तीन संघटक तत्त्व हैं-प्रमाता अर्थात् प्रमा को प्राप्त कर वाला, प्रमेय अर्थात् प्रमा की विषय-वस्तु और प्रमाण अर्थात् प्रमा का साधन। प्रमा के साधन को प्रमाण कहा गया है। प्रमाणयुक्त प्रत्येक ज्ञान प्रमा है। इस प्रकार त्रिपुटिज्ञान के रूप में प्रमा के तीन संघटक तत्त्व हैंख्रप्रमाता, प्रमेय और प्रमाण अथवा स्वयं प्रमा। प्रमा के स्वरूप को लेकर भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है। प्रत्येक भारतीय परम्परा में अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसीय स्थापनाओं के अनुरूप ही प्रमा का स्वरूप निरूपण भी किया गया है। अतएव इस संदर्भ में प्रत्येक मत का पृथक-पृथक विवेचना अपेक्षित है।

किन्तु मात्र बुद्धि के विकार के रूप में ज्ञान की परिभाषा कुछ स्पष्टीकरण की अप रखती है। सांख्य के अनुसार समस्त ज्ञान के तीन घटक हैं-विषय, विषयी और ज्ञान प्रक्रिया। सांख्य दर्शन में विशुद्ध चेतना या पुरुष ज्ञाता अथवा विषयी है, ज्ञाता की चेतना में प्रतिबिम्बित वृत्तियाँ ज्ञान की विषय-वस्तु हैं और प्रकृति के रूपान्तरण का विषय क में चेतना के अन्दर प्रतिबिम्बित होना ज्ञान है। शब्दान्तर से, ज्ञाता या विषयी पुरुष हैं ज्ञेय या विषय प्रकृति है तथा प्रकृति या ज्ञेय या विषय का विषयी अथवा पुरुष की चेतना में प्रतिबिम्बित होना ज्ञान है। सांख्य दर्शनोक्त ज्ञान के इस संप्रत्यय को और अधिक स्पष्ट जा सकता है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष विशुद्ध चौतन्यमय सत्ता है जो सभी परिवर्तनों से परे है। पुरुष जब प्रकृति के संसर्ग में आता है तो स्वयं पुरुष निर्विकार और अपरिवर्तनशील रहता है किन्तु प्रकृति का रूपान्तरण प्रारंभ होता है और विकास की क्रिया होती है। इस क्रम में सर्वप्रथम महत् की उत्पत्ति होती है जो मात्र प्रकृति का रूपान्तरण अर्थात प्रकृति का रूप है। यहीं महत् या बुद्धि प्रकृति की अनेक वस्तुओं का रूप धारण ती है। संसार की समस्त वस्तुएँ इस रूप में प्रकृति का रूपान्तरण है। यही वस्तुएँ ज्ञेय जाता अथवा विषयी की चेतना में जब वस्तु-रूप प्रकृति प्रतिबिम्बित होती है तो ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

प्रमा के विषय में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि प्रमा बुद्धि का विकार है। प्रमा को बुद्धि का विकार कहने से यह स्पष्ट होता है कि प्रमा में जिस वस्तु की प्रतीति प्रमाता को होती है वह वस्तु परमार्थिक रूप से ठीक उसी आकार में वहाँ नहीं होती। किन्तु उस वस्तु के रूप में प्रकृति वहाँ अवश्य होती है अत: यहाँ विषय का उपादान यथार्थ हैं। किन्तु उपादान की यथार्थता और उपादान की वस्तुनिष्ठता के बाद भी वस्तु का आकार परमार्थ नहीं है। यह तो अन्त:करण वृत्ति है जो वस्तु

का रूप धारण करती है। यह अवश्य है कि प्रमा में जो वस्तु प्रतिबिम्बित होती है वह शून्य नहीं है क्योंकि शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। इस वस्तु (ज्ञेय) का उपादान कारण प्रकृति है और आकस्मिक कारण महत् या बुद्धि है। यही सांख्य का यथार्थवाद है।

नोट

3.7 अभ्यास प्रश्न

1. प्रमा क्या है? यह क्यों आवश्यक है?
2. प्रमाण क्या होते हैं?
3. प्रमाण व्यवस्था पर चर्चा करें।

3.8 संदर्भ ग्रंथ

- ज्ञान का सिद्धांत, सतीशचंद्र चटर्जी, कलकत्ता, 1965
- ज्ञान के छह तरीके, डी. एम. दत्ता, कलकत्ता, 1960
- भारतीय ज्ञानमीमांसा, नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
- ज्ञान की अवधारणा, देवव्रत सेन, कलकत्ता

नोट

इकाई–4

प्रत्यक्ष

संरचना (Structure)

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे :

- प्रत्यक्ष के बारे में चर्चा करने में;
- इन्द्रिय, मन और अन्त:करण को जानेंगे;
- प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु को समझेंगे;
- प्रत्यक्ष के प्रकार को समझेंगे;

4.2 परिचय

विश्व की समस्त ज्ञानमीमांसीय विवेचनाओं में प्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'प्रत्यक्ष' के खंडन अथवा मंडन के बिना कोई भी ज्ञानमीमांसीय, अथवा ठीक-ठीक कहें तो कोई भी दार्शनिक, विवेचन संभव नहीं। इसका मूल कारण यह है कि दृश्य जगत से कट कर दार्शनिक तो क्या कोई भी सिद्धांत स्थापित नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि समस्त सिद्धांतों का संदर्भ साक्षात या असाक्षात रूप से अनुभव जगत ही होता है। आनुभविक तथ्यों की व्याख्या के लिए ही समस्त शास्त्रों, विज्ञानों, यहाँ तक कि दर्शनशास्त्र की भी उत्पत्ति हुई है। वह दृश्यजगत ही है जो हमें सदैव विमुग्ध, आकर्षित, भ्रमित अथवा कुण्ठित किए रहता है एवं जो हमारे समस्त क्रिया-कलापों

और चिंतन का स्रोत है। अतएव दृश्यजगत की अवहेलना किंचित संभव नहीं। दृश्यजगत को जानने का सर्वाधिक सुगम साधन प्रत्यक्ष ही है, अत: विश्व के किसी भी प्रमाणशास्त्र अथवा जानमीमांसा के लिए प्रत्यक्ष की अवहेलना किसी युग में संभव नहीं हुई।

नोट

प्रमाण विषयक विवेचन के आधार पर विश्व की प्रमुख ज्ञानमीमांसाओं का वर्गीकरण करने पर हमें मुख्यत: तीन प्रकार के प्रमाणशास्त्र प्राप्त होते हैं

- प्रत्यक्षवादी प्रमाणशास्त्र
- अन्त:प्रज्ञावादी प्रमाणशास्त्र
- समन्वयवादी प्रमाणशास्त्र

इन तीनों में समन्यवादी प्रमाणशास्त्र प्रत्यक्षवादी और अन्त:प्रज्ञावादी प्रमाणशास्त्रों का यथासंभव संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का दावा करता है। इस प्रकार प्रमाण विषयक मूलत: दो ही प्रकार के मत हमें ज्ञानमीमांसा में देखने को मिलते हैं–प्रत्यक्षवादी और अन्त:प्रज्ञावादी। इनमें से प्रत्यक्षवादी, मोटे तौर पर, वे लोग हैं जो यह मानते हैं कि ज्ञान का एकमात्र, अंतिम और सर्वथा मौलिक साधन प्रत्यक्ष ही है, साथ ही, प्रत्यक्षवादियों के अनुसार ज्ञान के सत्यता की अंतिम कसौटी भी प्रत्यक्ष ही है। इसके विपरीत अन्त:प्रज्ञावादी मोटे तौर पर, यह स्वीकार करते हैं कि यथार्थ ज्ञान की अंतिम कसौटी और एकमात्र साधन अन्त:प्रज्ञा (कभी-कभी इसके लिए 'बुद्धि', 'प्रज्ञा' जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है) है। स्पष्टत: प्रत्यक्षवादी तो प्रत्यक्ष की महत्ता खुले रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्त:प्रज्ञावादी भी प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर पाते। वे या तो खंडन के लिए विवशत: प्रत्यक्ष की चर्चा करते हैं अथवा वे अन्त:प्रज्ञा को भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष स्वीकार कर प्रत्यक्ष के विवेचन में प्रविष्ट हो जाते हैं। चूँकि प्रत्यक्षवादी और अन्त:प्रज्ञावादीख्रदोनों में से किसी के लिए भी प्रत्यक्ष की अवहेलना संभव नहीं हो पाती, अत: स्पष्टत:, समन्वयवादी, जिनकी जड़ें भी प्रत्यक्षवाद और अन्त:प्रज्ञावाद में आरोपित हैं, प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर पाते। सारांशत: विश्व के प्रत्येक प्रमाणशास्त्र में प्रत्यक्ष संबंधी विवेचन महत्त्वपूर्ण स्थान पाती है।

पाश्चात्य प्रत्यक्षवादियों के अनुसार प्रत्यक्ष का स्थान प्रमाणों के सर्वोपरि है। इसे सर्वोपरि स्वीकार किए जाने के वहाँ दो कारण बतलाए गए हैं। प्रथमत: तो यह कि यह सभी प्रमाणों का मूल है क्योंकि अन्य सभी प्रमाण इसी पर आधारित हैं, तथा द्वितीयत: यह प्रत्यक्ष अन्य सभी प्रमाणों की सत्यता की अंतिम कसौटी है। अनुमानादि अन्य प्रमाणों की सत्यता में जब संदेह होता है तो इसका अंतिम निराकरण प्रत्यक्ष द्वारा ही संभव होता है।

अन्त:प्रज्ञावादी भी प्रत्यक्ष को इन्द्रियानुभूतिवादियों से इतर स्थान नहीं प्रदान करते। वस्तुत: अन्त:प्रज्ञावादी, जो 'सत्य' को इन्द्रियप्रत्यक्ष की विषय-वस्तु नहीं मानतेए (भारतीय परम्परा में बौद्ध मंत उसके ठीक उलट है। बौद्ध मत के अनुसार यथार्थ और एक मात्र यथार्थ ही प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु है) या जिनके अनुसार यथार्थसत्ता मन, बुद्धि और वाणी से परे हैं, वे भी अन्त:प्रज्ञा को एक विशेष प्रकार के प्रत्यक्ष की कोटि में रख देते हैं, जो प्रत्यक्ष अन्त:प्रज्ञावादियों के अनुसार, इन्द्रिप्रत्यक्ष से भिन्न है।

भारतीय परम्परा में 'प्रत्यक्ष' पद का व्यवहार संज्ञा और विशेषण के रूप में किया गया है। 'ज्ञान' (जैसे 'प्रत्यक्ष ज्ञान') संज्ञा पद है तथा 'इदम् ज्ञानं प्रत्यक्षम्' में 'प्रत्यक्ष' 'इदम् ज्ञानम्' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पुन:, भारतीय परम्परा में प्रत्यक्ष पद का प्रयोग प्रमा और प्रमाण दोनों

ही रूपों में हुआ है। 'इदम् ज्ञानम् प्रत्यक्षम्' में 'प्रत्यक्ष' पद प्रमा के रूप में प्रयुक्त हुआ है तथा 'प्रत्यक्ष प्रमाण' में प्रत्यक्ष पद प्रमाण रूप में प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत कुछ दार्शनिकों, जैसे तर्कभाषा के प्रणेता केशव मिश्र ने 'साक्षात्कार' पद का प्रयोग प्रमा रूप प्रत्यक्ष के लिए किया है तथा प्रत्यक्ष पद का प्रयोग प्रमाण रूप प्रत्यक्ष के लिए किया है।

4.3 प्रत्यक्ष विषयक समस्या

भारतीय दर्शन में सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष को प्रमा का वैध साधन मानते हैं। वेदान्ती, जिन्होंने 'ब्रह्मसत्यं जगन्नमिथ्या' का सूत्र दिया है, वे भी व्यवहारिक सत्ता के ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। चार्वाकों ने प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण स्वीकार किया है। दूसरी ओर पाश्चात्य दर्शन में देकार्त जैसे बुद्धिवादी भी हैं जो इन्द्रियानुभव की सदैव धोखा देने वाला एवं इन्द्रियजन्य ज्ञान को संदिग्ध बताते हैं। उनके लिए ज्ञान का साधन इन्द्रियानुभव को मानना गलत है। देकार्त के अनुसार भ्रम और विभ्रम की स्थिति में इन्द्रियानुभव धोखा देते हैं तथा जो एक बार धोखा देता है, वह बार-बार धोखा नही देगा, यह मानने का क्या आधार है ?

वस्तुत: इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि प्रत्यक्ष में भ्रम और विभ्रम की संभावना है, किन्तु देकार्त के आलोचकों का यह कथन भी सत्य है कि भ्रम और विभ्रम से मुक्ति भी प्रत्यक्ष के द्वारा ही मिलती है, अत: प्रत्यक्ष सदैव धोखा नहीं देता।

किन्तु अगर इस कथन को सत्य स्वीकार करें कि 'प्रत्यक्ष सदैब धोखा नहीं देता' तब भी कठिनाइयों का अन्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में कठिनाई यह निर्णय करने में है कि कौन - सा प्रत्यक्ष धोखा देता है और कौन-सा नहीं। अर्थात कौन-सा प्रत्यक्ष ज्ञान का वैध साधन है और कौन सा प्रत्यक्ष को ज्ञान का वैध साधन नहीं है ?

स्पष्टत: प्रत्यक्ष विषयक समस्या मात्र यह नहीं है कि प्रत्यक्ष प्रमा का वैध साधन है अथवा नहीं, बल्कि यहाँ प्रश्न यह भी होता है कि (क) भ्रामक प्रत्यक्ष तथा भ्रमरहित प्रत्यक्ष भेद है? तथा इससे भी आगे कि (ख) क्या वस्तुत: कोई भी प्रत्यक्ष भ्रमात्मक हो सकता है?

प्रश्न (क) के उत्तर में प्रत्यक्ष के स्वरूप विवेचन की समस्या सामने आती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'प्रत्यक्ष' किसे कहते हैं? तथा यह भी कि वैध प्रत्यक्ष तथा अवैध प्रत्यक्ष में क्या भेद हैं? इस प्रश्न का उत्तर विविध दार्शनिक परम्पराओं के अलग-अलग दिए गए हैं जिनका उल्लेख्न आगे के पृष्ठों पर है। प्रश्न (ख) का उत्तर अपेक्षाकृत जटिल है। इस प्रश्न पर कि 'क्या प्रत्यक्ष भमात्मक हो सकता है अथवा नहीं? भारतीय परम्परा में मूलत: तीन प्रकार के मत मिलते हैं। पहला मत यथार्थवादियों का है जिनके अनुसार कोई भी प्रत्यक्ष भ्रमात्मक नहीं है। इसके विपरीत दूसरा मत विज्ञानवादियों का है जिनके अनुसार प्रत्येक प्रत्यक्ष ही अयथार्थ अथवा भ्रमात्मक है (बौद्ध विज्ञानवाद इसका अपवाद है)। तीसरा मत उन विचारकों का है जो प्रत्यक्ष और भम दोनों की ही ज्ञानमीमांसीय स्थिति को स्वीकार करते है। ख्यातिवाद के प्रकरण में इस प्रश्न की विशद् विवेचना इस पुस्तक में की गई है।

4.4 प्रत्यक्ष की परिभाषा

'प्रत्यक्ष क्या है?' अथवा 'प्रत्यक्ष की परिभाषा' विषयक प्रश्न पर विविध भारतीय दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। प्रत्यक्ष' शब्द दो पदों की संधि है– 'प्रति + अक्ष'। 'प्रति' का अर्थ है 'समक्ष', और 'अक्ष' का अर्थ है 'चक्षु' या 'चक्षुन्द्रिय' (आँख)। यह प्रत्यक्ष का संकुचित अर्थ है कि 'आँख के सम्मुख जो उपस्थित है वह प्रत्यक्ष है। तनिक और व्यापक अर्थ में प्रत्यक्ष' का अर्थ 'वह ज्ञान है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो। वैशेषिक सूत्र के प्रशस्तपादभाष्य में 'अक्ष' का अर्थ घाण, जिह्वा, चक्षु, त्वचा, कर्ण और मनस–इन छः इन्द्रियों को बतलाया गया है।

इस प्रकार शाब्दिक विवेचन की दृष्टि से प्रत्यक्ष 'इन्द्रियजन्य ज्ञान' है। किन्तु प्रत्यक्ष की इस परिभाषा को प्रत्येक भारतीय दार्शनिक ने स्वीकार नहीं किया है। कभी-कभी तो यहाँ 'अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष' अथवा 'इन्द्रिय के अभाव में भी प्रत्यक्ष की चर्चा कर दी जाती है। अतः 'प्रत्यक्ष' का वस्त्वर्थ इसके शाब्दिक अर्थ से अधिक व्यापक है।

दर्शन में प्रत्यक्ष की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं, इन परिभाषाओं को चार वर्गों में रखा जा सकता है

- स्वलक्षण का कल्पनारहित ज्ञान (बौद्ध मत)।
- इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान (लोकप्रिय मत)
- साक्षात ज्ञान (वेदान्त मत और प्रमाकर मत)
- असाक्षात ज्ञान (जैन मत)

4.4.1 बौद्ध मत

प्रत्यक्ष के विषय में बौद्ध सम्प्रदाय में मुख्यतः दो मत देखने को मिलते हैं। इनमें से प्रथम मत योगाचार विज्ञानवादियों का है जिसके प्रणेता आचार्य वसबंधु समझे जाते हैं, तथा दूसरा मत शून्यतावादी बौद्धों का है जिस मत के प्रणेता आचार्य दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति समझे जाते हैं।

विज्ञानवादी वसुबंधु का मत

विज्ञानवादी वसुबंधु ने प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए प्रत्यक्ष को 'ततार्थद् विज्ञानम्' कहा है। नैय्यायिक उद्योतकर ने 'ततार्थद् विज्ञानम्' की व्याख्या करते हुए कहा है कि वसुबंधु के मत में प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो उसी वस्तु के द्वारा उत्पन्न किया गया है जिस वस्तु के संदर्भ में इस ज्ञान को 'प्रत्यक्ष ज्ञान' की संज्ञा दी जा रही है। उद्योतकर वसुबंधु के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि वसुबंधु के इस कथन का अर्थ यह होगा कि प्रत्यक्ष में उस ज्ञान को उस विषय के ज्ञान की संज्ञा दी जाती है जिस विषय के द्वारा यह ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जाता, उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि 'यह घट है' तो ज्ञान 'घट' का नहीं होकर 'घट के गुणों' का होता है जिसे 'घट ज्ञान' की संज्ञा दे दी जाती है।

उद्योतकर की इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि योगाचार विज्ञानवादी वस्तुतः 'घट के ज्ञान' को 'प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं रखते। प्रत्यक्ष का विषय निर्विशेष स्वलक्षण है न कि 'घट' आदि कोई सामान्य पदार्थ। इस प्रकार बौद्ध 'ततार्थ विज्ञान' से प्रत्यक्ष का ऐसा कोई लक्षण प्रकट नहीं होता कि प्रत्यक्ष में अन्य वस्तु के ज्ञान (घट के गुण के ज्ञान) को अन्य वस्तु (घट के ज्ञान) की संज्ञा दी जाती है।

कुछ अन्य विद्वान योगाचार विज्ञानवाद की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यहाँ एक अन्य आपत्ति

उपस्थित करते हैं कि बौद्ध विज्ञानवादी क्षणिकवाद और तदुत्पत्तिवाद के समर्थक हैं अतएव बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार यह स्वीकार करने में कोई दोष नहीं दिखता कि क्षण 'क्ष' में जो विज्ञान 'क' उपस्थित होता है वह विज्ञान क्षण 'क्ष', में 'क' का ज्ञान उपस्थित न करके क, का ज्ञान उपस्थित करता है। 'यतार्थद् विज्ञानम्' के अनुसार ज्ञान विषय अथवा विज्ञान के द्वारा उत्पन्न होता है। इस रूप में विषय अथवा विज्ञान 'क' पूर्ववर्ती है। और ज्ञान क, अनुवर्ती है। बौद्ध मत के आलोचक यहाँ यह कहते हैं कि इस क्षणिकवादी मत को स्वीकार करें तो यह मानना होगा कि वस्तु (विज्ञान) और उसके ज्ञान में सारूप्य नहीं होता।

वस्तुतः वसुबंधु के मत की यह व्याख्या वसुबंधु के विज्ञानवादी मत के अनुरूप नहीं। विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता नहीं मानते अतएव यहाँ वस्तु और ज्ञान के 'सारूप्य' का प्रश्न ही नहीं उठता। बौद्ध मत के समर्थक उद्योतकर की व्याख्या के प्रति आपत्ति प्रकट करते हुए कहते हैं कि नैय्यायिक उद्योतकर वसूबंधु के मत की व्याख्या न्याय यथार्थवाद के आलोक में करते हैं जो व्याख्या संदर्भहीन होने के कारण अनुचित है।

वस्तुतः वसुबंधु प्रदत्त प्रत्यक्ष की व्याख्या में कठिनाई दूसरी है। वसुबंधु प्रत्यक्ष को 'विज्ञान के द्वारा उत्पन्न ज्ञान' की संज्ञा देते हैं। इससे प्रत्यक्ष की परिभाषा अतिव्याप्त हो । जाती है क्योकि अनुमान भी अंततोगत्वा स्वलक्षण (विज्ञान) के द्वारा उत्पन्न ज्ञान ही है।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में आई इस कठिनाई का समाधान शून्यतावादी बौद्धों द्वारा किए गए प्रत्यक्ष के स्वरूप निरूपण में मिलता है।

शुन्यतावादी मत -

बौद्ध धर्मोत्तर ने यद्यपि न्यायबि, की टीका करते हुए प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान के रूप में चिह्नित किया है किन्तु बौद्ध न्याय के आधार स्तम्भ समझे जाने वाले वसुबंधु, दिग्नाग अथवा आचार्य ध र्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष को 'साक्षात ज्ञान' अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान के रूप में परिभाषित करने में कोई रुचि प्रकट नहीं की।

बौद्ध न्याय के प्रणेता आचार्य दिग्नाग प्रत्यक्ष का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते है कि प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है जिसमें वस्तु के नाम, जाति आदि की योजना नहीं होता।

बौद्ध मत के अनसार प्रत्यक्ष और अनुमान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद यही है कि प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है जबकि अनुमान कल्पनायुक्त होता है। दिग्नाग प्रदत्त प्रत्यक्ष के इस विवरण (इसे 'परिभाषा' की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि बौद्ध मत परिभाषाओं का विरोधी है) में आचार्य धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष के एक अन्य लक्षण 'अभ्रान्त' को भी समाविष्ट करते है। धर्मकीर्ति के अनुसार कल्पनारहित अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है।

स्पष्टतः धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष के दो लक्षण बतलाते हैं-

प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है,

प्रत्यक्ष अभ्रान्त होता है।

यहाँ 'कल्पना' तथा 'अप्रान्त' पदों के अर्थ को समझ लेना चाहिए।

कल्पना - धर्मकीर्ति ने कल्पना का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि कल्पना अभिलाप संसर्गयोग्य

प्रतिभास प्रतीति है।

नोट

इससे 'कल्पना' शब्द के तीन लक्षण प्राप्त होते हैं-

(i) कल्पना अभिलाप संसर्ग योग्य होती है। 'अभिलाप संसर्ग योग्य' की व्याख्या करते हुए ध र्मोत्तराचार्य कहते हैं कि 'अभिलाप' का अर्थ 'वाचक शब्द' है। तदनुरूप 'वाचक शब्द से संसर्ग के योग्य' अथवा वाचकतायुक्त (शब्दयुक्त) हो जाना ही 'अभिलाप्य संसर्गयोग्य' होना है।

इस प्रकार धर्मोत्तराचार्य के अनुसार कल्पना का प्रथम लक्षण है कि कल्पना शब्दाभिव्यक्ति के योग्य होती है।

(ii) कल्पना का दूसरा लक्षण यह बतलाया गया है कि कल्पना प्रतिभास है। धर्मोत्तराचार्य ने प्रतिभासरहित होने का अर्थ 'विकल्परहित' होना बतलाया है। स्वयं धर्मकीर्ति ने प्रमाण ावार्त्तिक में विकल्परहित को निर्विकल्पक' शब्द के द्वारा सूचित किया है। यहाँ कल्पना को 'सामान्यवाचक' कहते हुए धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष से सामन्यवाचकता को बहिष्कृत करते हैं। बौद्ध मत के अनुसार शब्द सदैव सामान्यवाचक ही होते हैं, वे विशेष का अभिकथन शब्द नहीं कर पाते। चूँकि प्रत्यक्ष निर्विशेष स्वलक्षण को विषय करता है। अतएव प्रत्यक्ष सदैव शब्द-व्यवहार के परे ही होता है।

'प्रतिभास' के अर्थ को ठीक-ठीक समझने के लिए बौद्ध मत की माध्यमिक तत्त्वमीमांसा में प्रविष्ट होना पड़ेगा। माध्यमिक मतानुसार सत्य द्विविध है-परमार्थ और सवृति। परमार्थ सत्य वह है जो सम्यक् द्रष्टा के ज्ञान का विषय है। यह परमार्थ नि:स्वभाव है। इसके विपरीत संवृत्ति सामान्य जन के ज्ञान का विषय है। पुन: संवृत्ति भी द्विविध है-लोक सवंत्ति और मिथ्या संवृत्ति। शुद्ध तथा रोगरहित इन्द्रियों वाले व्यक्ति का बाह्य विषयक ज्ञान लोक संवृत्ति है तथा दोषग्रस्त इन्द्रियों वाले व्यक्ति को बाह्य विषयक ज्ञान मिथ्या संवृत्ति है। संवृत्ति चाहे वह लोक संवृत्ति हो अथवा मिथ्या संवृत्ति, नि:स्वभाव परमार्थ को स्वभावयुक्त प्रस्तुत करती हैं। नि:स्वभाव में स्वभाव का यह मिथ्या आरोपण ही 'प्रतिभास' है।

प्रतिभास' पद की इस व्याख्या के आलोक में कल्पना का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होता है। परमार्थ नि:स्वभाव है। यही प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु है। इस रूप में परमार्थ हमारे साक्षात अनुभवों में प्रदत्त है। किन्तु यह विशुद्ध-'अनभूति प्रदत्त' इस प्रकार नि:स्वभाव है कि इसे शब्दबद्ध करना संभव नहीं क्योंकि प्रत्येक शब्द एक प्रकार का नाम है और नाम

सदैव सामान्य होता है, विशेष नहीं। यह अनभिलाप्य यथार्थ जब ज्ञाता के साक्षात अनुभवों में उपस्थित होकर पूर्वापुभाव अथवा स्मृति से संयुक्त होकर शब्द व्यवहार के योग्य हो उठता है तो यह ज्ञान प्रतिभासिक अथवा कल्पनायुक्त हो जाता है। यथार्थ की यही 'संसर्गयोग्य प्रतिभास प्रतीति' कल्पना है।

'कल्पना' के इस लक्षण के द्वारा धर्मकीर्ति यह बतलाते है कि प्रत्यक्ष नामरूप जात्यादि की योजना से रहित ज्ञान है, जैसा कि धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती आचार्य दिग्नाग प्रत्यक्ष के विषय में कहते हैं। ध र्मकीर्ति के मतानुसार ज्ञान में वस्तु के नाम जाति आदि की योजना वस्तु के विकल्प रहित ज्ञान (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) के अनन्तर स्मृति आदि की उपज है। अतएव धर्मकीर्ति के मत में प्रत्यक्ष नाम रूप जात्यादि की योजना रहित निर्विकल्पक प्रत्यशक्ष मात्र है जो शब्दाभिव्यक्ति के अयोग्य होता है। कल्पना का अन्य लक्षण यह बतलाया गया है कि कल्पना प्रतीति है। प्रतीति के दो लक्षण हैं--(क)

प्रतीति एक प्रकार का बोध है, (ख) प्रतीति बोध अथवा ज्ञान तो है किन्तु यह ज्ञान सम्यक नहीं होता। सम्यक् नहीं होने के कारण ही यह ज्ञान पुरुषार्थ सिद्धि में सहायक नहीं होता।

दिग्नाग के अनुसार कल्पना नाम, क्रिया, द्रव्य और संज्ञान से युक्त है। शान्तरक्षित के अनुसार कल्पना को इतने विशेषणों से युक्त करना अनावश्यक है क्योंकि नाम, जाति गुण, क्रिया और द्रव्य से युक्त होने का अर्थ ही है अभिलाप्य होना।

नोट

अभान्त - धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष का अन्यतम लक्षण अभ्रान्त होना बतलाया है। प्रश्न है 'अभ्रान्त' से धर्मकीर्ति का तात्पर्य क्या है?

न्यायबिंदु के टीकाकार विनितदेव ने 'अभ्रान्त' पद का अर्थ 'अविसंवादक' पद से व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष को अविसंवादी होना चाहिए। इस संदर्भ में प्रश्न उठता है कि 'अविसंवादी' से बौद्धों का क्या तात्पर्य है?

सामान्यत: अविसंवादी पद के दो अर्थ व्यवहार में लाए जाते हैं - (क) जो ज्ञान परवर्ती ज्ञान द्व ारा खण्डित अथवा बाधित न हो वह ज्ञान अविसंवादी है। (ख) जो ज्ञान वस्तु से सारूप्य अथवा संवाद रखे वह ज्ञान अविसंवादी है।

'अविसंवादी पद के ये दोनों ही प्रयोग बौद्ध ज्ञानमीमांसा से संगति नहीं रखते।

अर्थ 'क' बौद्ध ज्ञानमीमांसा से इसलिए संगति नहीं रखता कि क्षणिकवाद का समर्थक होने के कारण बौद्ध ज्ञान की क्षणिकता अथवा क्षणभंगुरता को स्वीकार करने के लिए अनिवार्यत: बाध्य है, यथा, प्रतित्यसमुत्पादवाद के अनुसार वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होती है तथा प्रतिक्षण उत्पन्न होती है। इस नियम के अनुसार क्षण 'क्ष,' में जो वस्तु 'क' ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होती है वही वस्तु पुन: क्षण 'क्ष' में ज्ञाता की चेतना में उपस्थित नहीं हो सकती क्योंकि वह वस्तु 'क' क्षण 'क्ष, 'में नष्ट हो चकी है। अत: क्षण 'क्ष' में जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह 'क' है जो 'क' के ज्ञान को बाधित करती है। इस प्रकार क्षणभंगुर होने के कारण प्रत्येक ज्ञान ही परवर्ती ज्ञान अथवा बोध से बाधित होता है। अत: 'अविसंवादी' के इस अर्थ में कोई भी ज्ञान अविसंवादी नहीं होता।

अविसंवादी का दूसरा अर्थ भी ग्राह्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'संवाद' शब्द का अर्थ स्वत: अस्पष्ट है। यदि अविसंवाद का अर्थ 'ज्ञान और वस्त में सारूप्य' से करें तो उसमें भी दोष है क्योकि ज्ञान और वस्तु में सारूप्य तो कभी संभव ही नहीं है।

मनोरथनन्दी ने अविसंवादी का अर्थ 'संवाद अथवा वचन के अयोग्य' होना बतलाया है, किन्तु इस संदर्भ में यह अर्थ स्वीकृत नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष को यह लक्षण तो 'कल्पनामोढ़म्' पद से ही प्राप्त हो जाता है।

धर्मकीर्ति ने स्वयं प्रमाणिवार्त्तिक में 'अविसंवादी' का अर्थ स्पष्ट किया है। धर्मकीर्ति के अनुसार 'अविसंवादी ज्ञान' का अर्थ है 'अर्थक्रिया समर्थ ज्ञान। यदि ज्ञान की वस्तु (ज्ञेय) की प्राप्ति उस ज्ञान के माध्यम से संभव है तो ज्ञान को 'अर्थक्रिया समर्थ' समझा जाना चाहिए। यथा, यदि 'घट' के दर्शन से 'घट' को प्राप्त कर उसमें जल संग्रहित किया जा सके तो 'घट' के ज्ञान को अभ्रान्त समझा जाना चाहिए। यह प्रत्यक्ष ज्ञान की व्यवहारवादी परिभाषा है जो बौद्ध व्यवहारवाद के सर्वथा अनुरूप है। यह बौद्ध व्यवहारवाद बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं और तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के प्रति बुद्ध के मौन में भी स्पष्ट होता है।

व्यवहारवाद की अपनी कठिनाइयाँ हैं जिनमें से अधिकांश बौद्ध व्यवहारवाद और धर्मकीर्ति प्रदत्त प्रत्यक्ष के इस विवेचन पर भी लागू होती हैं। कुमारिल भट्ट ने बौद्धों के इस व्यवहारवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि यदि ज्ञान का उद्देश्य वस्तु को प्राप्त कर लेना ही है और यदि वस्तु की प्राप्ति के पश्चात ही ज्ञान की यथार्थता सिद्ध होती है (ज्ञान अभ्रान्त सिद्ध होता है) तो बिजली चमकने में जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह सदैव असिद्ध ही रहेगा क्योंकि बिजली की चमक को हम प्राप्त नहीं कर सकते। भाट्टोम्बेक ने बौद्ध व्यवहारवाद पर आक्षेप करते हुए लिखा है कि बहुधा वस्तुएँ अस्तित्व में आती हैं और शेष हो जाती हैं किन्तु उनका कोई व्यवहारिक महत्त्व हमारे लिए नहीं होता। यथा, इस समय जो मुझे जल का ज्ञान हो रहा है वह मेरे व्यवहारिक महत्त्व का नहीं है क्योंकि मुझे प्यास नहीं है, किन्तु मेरे प्यास नहीं होने के कारण 'जल का ज्ञान' असिद्ध नहीं होता। बौद्धों के विरुद्ध भाट्ट मीमांसकों के ये आक्षेप समीचीन प्रतीत नहीं होते क्योंकि 'अर्थक्रिया समर्थ' का अर्थ यह नहीं होता कि यथार्थ ज्ञान के द्वारा तत्काल ज्ञेय वस्तु को प्राप्त कर ही लिया जाय। यदि ज्ञेय वस्तु चेष्टा करने का प्राप्य (प्राप्त कर लेने योग्य) है। तो इसे भी 'अर्थक्रिया समर्थ' ही समझा जाना चाहिए।

न्यायबिंदु में धर्मकीर्ति के 'अभ्रान्त' पद की एक अन्य व्याख्या भी मिलती है। इस व्याख्या के अनुसार विभ्रमरहित ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। यहाँ 'विभ्रम' की परिभाषागत व्याख्या करने की अपेक्षा धर्मकीर्ति विभ्रम की कुछ स्थितियों का जिक्र करते हैं जिससे 'अभ्रान्त' पद को एक अर्थ मिलता है। 'विभ्रम' के उदाहरण देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं–

'तिमिराशभ्रमणनौयानसंज्ञोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्ष्।''

–न्यायबिंदु, प्रथम परिच्छेद

न्यायबिंदु के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए धर्मोत्तराचार्य ने कहा है कि जिस ज्ञान में अंध कारादिदोषजन्य भान्ति न हो जिस ज्ञान में अलात् चक्र की भाँति कोई भ्रान्ति न हो– ऐसा ज्ञान ही प्रत्यक्ष की कोटि में आ सकता है। नौका पर भ्रमण कर रहे व्यक्ति को जिस प्रकार तटवर्ती वृक्ष चलते हुए दिखते हैं ऐसे ज्ञान को बहिष्कृत करने वाला ज्ञान ही अभ्रान्त है। जो ज्ञान वात, पित्त आदि दोष से ग्रस्त इन्द्रियों के कारण दोषग्रस्त न हुआ हो (जैसे कामला रोग ग्रस्त व्यक्ति को 'पीत शंख' का बोध होता है) वह ज्ञान अभ्रान्त है।

वस्तुत: प्रत्यक्षीकरण में बाह्य कारणों, जैसे प्रकाश एवं इन्द्रिय आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। धर्मकीर्ति 'अभ्रान्त' पद के द्वारा प्रत्यक्ष को इन दोषों से मुक्त करना चाहते हैं।

बौद्ध मत के अनुसार भ्रान्ति के कई प्रकार हैं। इनमें एक मुख्य भ्रम है। दृश्य जगत का समस्त ज्ञानं एक प्रकार का विभ्रम है। यही विभ्रम, बौद्ध मतानुसार, मुख्य विभ्रम है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भ्रातियाँ हैं जो प्रतिभासिक हैं। विज्ञानवादी मत के आचार्य असंग ने निम्नलिखित भ्रांतियों की चर्चा की है, जिनसे 'भ्रान्ति' पद का अर्थ स्पष्ट होता है–

(i) संज्ञा भ्रान्ति – यथा, मृगतृष्णा उत्पन्न करने वाली मरीचिका में जल का ज्ञान।

(ii) संख्या भ्रान्ति – यथा, चक्षुदोष के कारण द्विचंद्र के दर्शन,

(iii) संस्थान भ्रान्ति – (आकृति की भ्रांति) यथा, अलातूचक्र

(iv) वर्ण भ्रान्ति – यथा, पाण्डु रोग ग्रस्त व्यक्ति द्वारा शंख को पीत देखा जाना

(v) कर्म भ्रान्ति - यथा, धावक द्वारा वृक्षों के पीछे की ओर चलते देखा जाना।

इन भ्रातियों में चित्त का जो आग्रह है वह 'चित्त भ्रांति' कहलाता है तथा इन भ्रमपूर्ण विषयों में जो आसक्ति है वह 'दृष्टि भ्रांति' है। इन भ्रांतियों से विरहित नाम, जाति की योजना से नितांत पृथक जो ज्ञान होता है, वही ज्ञान बौद्ध मत के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान है।

नोट

धर्मकीर्ति द्वारा 'भ्रान्त' के उल्लेख पर की जानेवाली आपत्तियाँ

प्रत्यक्ष की विवेचना के क्रम में धर्मकीर्ति द्वारा प्रत्यक्ष को 'अभ्रान्त' कह देने पर अनेक आपत्तियाँ की गई है। उन आपत्तियों का विवेचन निम्नलिखित हैं-

धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती आचार्य दिग्नाग ने कहीं भी प्रत्यक्ष की व्याख्या के लिए 'अभ्रान्त' शब्द का प्रयोग नहीं किया। शेरबात्स्की इसके तीन कारण बतलाते हैं। प्रथमत: शेरबात्स्की के अनुसार दिग्नाग यह समझते थे कि प्रत्यक्ष (अथवा विशुद्ध संवेदन) सदैव सर्वथा दोषमुक्त ही होता है, भ्रम तो निर्णय लेने की मानसिक क्षमता अथवा दोषग्रस्त निर्णय की उपज है। द्वितीयत:, दिग्नाग ने प्रत्यक्ष को 'अभ्रान्त' कहने से इसलिए भी परहेज किया कि दिग्नाग यथार्थवादियों के इस मत को भी तुष्ट करना चाहते थे कि बाह्य वस्तुओं का ज्ञाता-निरपेक्ष अस्तित्त्व है तथा साथ ही वे प्रत्ययवादियों के इस मत को भी तुष्ट करना चांह रहे थे कि बाह्य वस्तुओं की ज्ञाता निरपेक्ष सत्ता नहीं होती। तृतीयत:, दिग्नाग 'भ्रम' और 'प्रत्यक्ष' - इन दो पदों की परस्पर असंगति को समझते हुए भी प्रत्यक्ष के विवेचन के साथ 'भ्रान्त' के विवेचन से बचना चाहते थे। दिग्नाग मोटे तौर पर यह भी मानते थे कि प्रत्यक्ष के कारण भ्रम की समस्या उत्पन्न होती है किन्तु वे 'प्रत्यक्ष' में भ्रम के समावेश से बचना चाहते थे। अत: उन्होंने भ्रम को 'प्रत्यक्ष' न कहकर 'प्रत्यक्षाभास' (प्रत्यक्ष की तरह) कहा।

विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि प्रत्यक्ष' की नामरूपादि कल्पनारहित व्याख्या से ही प्रत्यक्ष का 'अभ्रान्त' होना सिद्ध होता है क्योंकि 'भ्रम' तो कल्पना की ही उपज है।

इस मत का खंडन कि भ्रम कल्पना की उपज है अथवा भ्रम में इन्द्रियों की कोई भूमिका नहीं होती अपितु भ्रम मानसिक क्रिया का दोष है. शान्तरक्षित के मत से होता है। शान्तरक्षित के अनुसार भ्रम को पूर्णत: 'मानसिक' कहकर भ्रम में इन्द्रियों की भूमिका को नहीं नकारा जा सकता। पाण्डुरोग से ग्रसित व्यक्ति यह भलिभाँति जानता है कि अमुक वस्त्र श्वेत है फिर भी इन्द्रिय दोष के कारण उसे श्वेत वस्त्र का ज्ञान पीत वस्त्र के रूप में ही होता है।

इस प्रकार बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित और चार्वाक जयराशि भट्ट भी भ्रम की व्याख्या इन्द्रियप्रत्यक्ष के ही द्वारा करते हैं तथा प्रत्यक्ष को 'अभ्रान्त' के पदों में परिभाषित करने की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि प्रत्यक्ष को 'अभ्रान्त' कह दिया जाय तो 'भ्रम' की व्याख्या नहीं होगी।

इस आपत्ति में दम दिखता है। सामान्यजन और आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रत्यक्ष को 'भ्रमात्मक अथवा 'दोषपूर्ण प्रत्यक्ष' और 'उचित प्रत्यक्ष' अथवा 'निर्दोष प्रत्यक्ष की दो करेटियों में रखते हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो भ्रमात्मक (टमतपकपबंस) और अभ्रमात्मक (छवद. अमतपकपबंस) प्रत्यक्ष की बात करता है। स्पष्टत: यदि 'भ्रमात्मक प्रत्यक्ष' प्रत्यक्ष का एक रूप है तो प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद जोड़ देना अनुचित होगा। साथ ही यदि प्रत्यक्ष स्वयं में सर्वथा दोषमुक्त ही होता है और भ्रम निर्णय लेने की मानसिक क्रिया की उपज है (जैसा कि शेरबात्स्की के अंनुसार आचार्य दिग्नाग मानते हैं या पाश्चात्य दार्शनिक एयर आदि मानते हैं तो प्रत्यक्ष की परिभाषा

में 'अभ्रान्त' जोड़ना न मात्र अनावश्यक है, वरन 'अभ्रान्त प्रत्यक्ष' अभिव्यक्ति पुनरूक्ति दोष से ग्रस्त है तथा 'भ्रामक प्रत्यक्ष' अभिव्यक्ति स्वतोव्याघती होने के कारण अवैध है।

इस प्रकार शून्यतावादी बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष के निम्नलिखित लक्षण हैं-

1. प्रत्यक्षानुभूति शब्द व्यवहार के अयोग्य (अनभिलाप्य) होती है।
2. प्रत्यक्ष नामजात्यादि की योजना से रहित होता है।
3. प्रत्यक्ष भ्रमरहित होता है।
4. प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है।
5. प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थक्रियाकारित्व लक्षण से युक्त होता है।
6. शून्यतावादी बौद्ध सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि से बहिष्कृत करते हैं। इस मत के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान मात्र ही प्रत्यक्ष है।
7. शुन्यतावादी बौद्धों द्वारा दिए गए प्रत्यक्ष के विवेचन से प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच का अंतर सर्वथा स्पष्ट होता है। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष वस्तु की नाम जात्यादि योजना रहित ज्ञान है जबकि अनुमान वस्तु का नामजात्यादि योजना से युक्त ज्ञान है।

प्रत्यक्ष विषयक बौद्ध मत के विरुद्ध आपत्तियाँ -

(1) **बौद्ध मतानुसार प्रत्यक्ष की विषय**-वस्तु (स्वलक्षण) अनभिलाप्य है। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान संप्रेषण से रहित हो सकता है? अगर ऐसा मान लिया जाय तो ज्ञान का स्वरूप सर्वथा व्यैक्तिक हो जाएगा, जिससे ज्ञान के सार्वजनिक स्वरूप का खंडन होगा।

किन्तु इस आपत्ति के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि बौद्ध मतानुसार भी समस्त ज्ञान व्यैक्तिक नहीं है। बौद्ध भी यह मानते हैं कि भौतिक विश्व का ज्ञान सार्वजनिक ज्ञान ही है। इस ज्ञान का साधन अनुमान है। प्रत्यक्ष मात्र स्वलक्षण का ज्ञान है और मात्र यही ज्ञान व्यैक्तिक होता है।

(2) बौद्ध अव्याख्येय संवेदना को ही प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु मानते हैं। प्रकरण पंचिका में कहा गया है कि अव्याख्येय वस्तु ज्ञान की विषय-वस्तु नहीं हो सकती।

(3) बौद्ध स्वलक्षण के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु के ज्ञान को अनुमान की विषय-वस्तु मानते हैं। किन्त ऐसा मानने में कठिनाई है। एक उदाहरण के द्वारा इस कठिनाई को स्पष्ट किया जा सकता है। बौद्ध मत को माने तो मेरे सामने जो दीवार है उसका ज्ञान भी अनुमानजन्य है। किन्तु इस कथन में दोष है। यह तो हम सामान्य बुद्धि से भी जान सकते हैं कि मेरे सामने जो दीवार है उसके ज्ञान में तथा धूम देखकर अग्नि के ज्ञान में प्रकार भेद हैं।

4.4.2 इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष की यह सर्वाधिक लोकप्रिय परिभाषा है। भारतीय परम्परा में इस मत के समर्थक न्याय, वैशेषिक एवं भाट्ट मीमांसक हैं। जैन परम्परा भी, जिनका मत प्रत्यक्ष के विषय में सर्वथा विलक्षण समझा जाता है, प्रत्यक्ष को इन्द्रिय ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते है।

वैशेषिक मत प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के रूप में स्वीकार करता है। इस मत के अनुसार चक्षु

आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मन भी एक ज्ञानेन्द्रिय है। अतः ज्ञानेन्द्रिय कुल छः हैं। इन छः ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

भाट्ट मीमांसा के प्रणेता कुमारिल भट्ट ने भी प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रियों के विषय के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

महर्षि गौतम के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। वात्स्यायन ने गौतम के इस सूत्र पर भाष्य करते हुए कहा है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए मात्र इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष ही पर्याप्त नहीं। जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होता है तभी प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। वस्तुतः वात्स्यायन के मतानुसार प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षेतर अनुमानादि समस्त ज्ञान में आत्मा और मन का संयोग तो सदैव अनिवार्य होता है अतएव आत्मा एवं मन का संयोग तो ज्ञान का सामान्य कारण है किन्तु प्रत्यक्ष में इस सामान्य करण से एक विशिष्ट करण भी संयुक्त होता है। वह विशिष्ट करण 'इन्द्रिय और अर्थ का संयोग' है। वात्स्यायन के मतानुसार इसी विशिष्ट अर्थ में प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्पोत्पन्न ज्ञान है वरना सामान्य अर्थ में आत्मा के मन से संयोग, मन के इन्द्रिय से संयोग तथा इन्द्रिय के विषय से सन्निकर्ष के अनन्तर ही प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न होती है।

इस प्रकार वात्स्यायन के मतानुसार प्रत्यक्ष के दो करण है–

1. सामान्य करण अर्थात् आत्मा और मन का संयोग
2. विशिष्ट करण अर्थात् मन, बाह्योन्द्रिय (मन को न्याय मत अन्तःइन्द्रिय कहता है) तथा विषय का सन्निकर्ष।

वात्स्यायन के अनुसार प्रत्यक्ष की अनिवार्य उपाधि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष है, किन्तु यह उपाधि पर्याप्त नहीं। जब तक आत्मा से मन का तथा मन से बाह्य इन्द्रिय का संयोग नहीं होता, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष किसी भी प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होता।

न्याय मत के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों की संख्या छः है। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय बाह्य हैं। इनके नाम है–चक्षु, रसना, नासिका अथवा घाणेन्द्रिय, कर्ण अथवा श्रोत्रेन्द्रिय, त्वचा अथवा स्पर्शेन्द्रिय। इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मन एक अन्तःइन्द्रिय है। चक्षु से रूप का, रसना से रस का, नासिका से गंध का, कर्ण से शब्द का तथा त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। किन्तु मनस के अभाव में कोई भी बाह्योन्द्रिय कार्य नहीं करती। मन, जो अन्तः इन्द्रिय है, से सुख–दुखादि का ज्ञान होता है। मन एक अभौतिक इन्द्रिय है जो अन्य बाह्योन्द्रिय की भाँति शरीर के किसी स्थान विशेष में स्थित नहीं होता।

न्याय मत में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को भी छः प्रकार का बतलाया गया है। ये छः प्रकार के सन्निकर्ष निम्नलिखित है–

(क) **संयोग** – वह सन्निकर्ष, जिसमें किसी विशेष इन्द्रिय का किसी वस्तु विशेष से सन्निकर्ष होता है 'संयोग' कहलाता है। यह संबंध साक्षात है। जैसे घट का चक्षु से सन्निकर्ष। यह सन्निकर्ष जब होता है तब इन्द्रिय का बिना किसी माध्यम के वस्तु से संपर्क होता है।

(ख) संयुक्त समवाय – यह एक प्रकार का असाक्षात संबंध है। गुण के प्रत्यक्षीकरण में इन्द्रिय

से गुण का सन्निकर्ष साक्षात न होकर असाक्षात होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–जब घट के नील अथवा पीत वर्ण का प्रत्यक्ष होता है तो नील अथवा पीत वर्ण (गुण) घट (वस्तु) में समाहित होकर ही इन्द्रिय से सन्निकर्ष स्थापित कर पाता है। अतएव इस प्रकार का इन्द्रियार्थसन्निकर्ष असाक्षात है। इसे संयुक्त समवाय कहते हैं।

नोट

(ग) **संयुक्त समवेत समवाय** – जब 'नीलत्व' का प्रत्यक्षीकरण होता है तो इन्द्रिय से नीलत्व का सन्निकर्ष और भी असाक्षात होता है। यहाँ 'नील' के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा 'नीलत्व' का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसे समवाय कहते हैं। संयुक्त समवेत समवाय का यह जान साक्षात नहीं, असाक्षात है क्योंकि इसमें दो पदों (पट और नील) के माध्यम से इन्द्रिय (चक्षु) और अर्थ अथवा विषय (नीलत्व) का सन्निकर्ष हो पाता है। दो पदों के माध्यम से उत्पन्न इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ही संयुक्त समवेत समवाय संबंध है।

(घ) **समवाय** – जब इन्द्रिय से किसी ऐसी वस्तु का संपर्क होता है जो स्वयं उस इन्द्रिय में ही गुण के रूप में उपस्थित हो तो इस प्रकार के संबंध को समवाय संबंध कहते हैं, यथा ध्वनि का प्रत्यक्षीकरण कर्णेन्द्रिय के द्वारा होता है। कर्णेन्द्रिय आकाश से निर्मित है। आकाश का गुण ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनि गुण के रूप में कर्णेन्द्रिय में पहले से ही उपस्थित होता है।

(ङ) **समवेत समावाय** – कर्णेन्द्रिय और शब्द के बीच का संबंध इसका उदाहरण है। यहाँ संबंध दो स्तरों पर है, प्रथमतः शब्द (जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है) का शब्दत्व से संबंध तथा द्वितीयतः शब्द का कर्णेन्द्रिय से इस रूप में संबंध कि शब्द कर्णेन्द्रिय के मूल पदार्थ आकाश का गुण है। इस प्रकार कर्णेन्द्रिय से शब्द के संपर्क में दो समवाय सदैव समवेत (समाविष्ट) हैं, अतएव इसे 'समेत समवाय संबंध' कहते हैं।

(च) **विशेष्य विशेषण भाव** – जब इन्द्रिय का विषय इन्द्रिय से संबंधित होने वाली वस्तु का विशेषण हो तो इसे 'विशेष्य-विशेषण भाव' कहते हैं यथा, अभाव का प्रत्यक्ष। न्याय मतानुसार अभाव अधिष्ठान की विशेषता है। घट का अभाव भूतल (अधिष्ठान) की विशेषता है। जब इन्द्रिय से भूतल का संपर्क होता है तो घट का अभाव (भूतल की विशेषण) भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु हो जाता है। इसे ही विशेष्य-विशेषण भाव कहते हैं।

न्याय मतानुसार इन छः प्रकार के इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से छः प्रकार के विषयों का प्रत्यक्षीकरण होता है–द्रव्य, गुण, द्रव्यत्व (जैसे घटत्व आदि), गुणत्व (पीतत्व, नीलत्व, आदि), ध्वनि एवं अभाव। वेदान्ती भी प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु के रूप में द्रव्य, गुण, सामान्य (द्रव्यत्व और गुणत्व) और ध्वनि को स्वीकार करते हैं किन्तु वेदान्त मतानुसार अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा न होकर अनुपलब्धि के द्वारा होता है।

वैध प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष वैध और अवैध (भ्रमात्मक) दोनों हो सकता है। प्रश्न है वैध प्रत्यक्ष की क्या विशेषताएँ है? प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप में परिभाषित करने के साथ ही न्यायमत में सूत्रकार गौतम ने प्रत्यक्ष के तीन लक्षण बतलाए–

(क) प्रत्यक्ष अव्यपदेश होता है,

(ख) प्रत्यक्ष अव्यभिचारी होता है,

(ग) प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक होता है।

नोट

गौतम के बतलाए प्रत्यक्ष के ये तीनों लक्षण दर्शन में विवाद और विवेचना के लोकप्रिय विषय रहे हैं। विद्वानों का एक वर्ग है जो यह मानता है कि प्रत्यक्ष के ये तीनों लक्षण प्रत्यक्ष के पारिभाषिक लक्षण अथवा प्रत्यक्ष की परिभाषा के अंग है। इस मत के अनुसार गौतम ने न्यायसूत्र 1/1/4 में प्रत्यक्ष के कुल चार लक्षण बतलाए- (क) प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान है, (ख) प्रत्यक्ष अव्यपदेश्य है, (ग) प्रत्यक्ष अव्यभिचारी होता है, तथा (घ) प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक होता है। दूसरी तरफ विद्वानों का एक दूसरा वर्ग है जो यह मानता है कि गौतम के न्यायसूत्र 1/1/4 में प्रयुक्त 'अव्यपदेश' शब्द निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का द्योतक है तथा 'व्यवसायात्मक' पद सविकल्पक प्रत्यक्ष का कथन करता है।

प्रत्यक्ष अव्यपदेश होता है - न्याय मत के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान गंगे के गुड़ की भाँति वाणी से परे होता है।

बौद्ध मत प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के रूप में परिभाषित न करके इसी अर्थ में परिभाषित करता है। नव्य-नैय्यायिक इस प्रकार के नामरूप रहित, वाणी से भिन्न प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की कोटि में रखते हैं। न्यायसूत्र के प्रणेता गौतम ने यद्यपि प्रत्यक्ष को 'अव्यपदेश' के द्वारा निर्दिष्ट करते हुए 'निर्विकल्पक' शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु परवर्ती नैय्यायिकों ने 'अव्यपदेश्य' को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अर्थ में ही स्वीकार किया है।

प्रत्यक्ष अव्यभिचारी होता है - अव्यभिचारी का साधारण अर्थ है-अभ्रमात्मक अथवा भ्रमरहित। अव्यभिचारी पद का अर्थ करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि सूर्य को किरणों के कारण जल रहित स्थान में जल का प्रत्यक्ष व्यभिचार है। वात्स्यायन के मत से वैध प्रत्यक्ष को भ्रमात्मक नहीं होना चाहिए। अन्यत्र भी 'अव्यभिचारी का अर्थ 'भ्रमरहित' ही बतलाया गया है।

प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक होता है - वात्स्यायन ने 'व्यवसायात्मक' पद का अर्थ 'संशयरहित' पद के द्व ारा किया है। इस रूप में न्यायमतानुसार प्रत्यक्ष का संशयरहित होना चाहिए। अन्यत्र 'व्यवसायात्मक' का अर्थ 'सविकल्पक प्रत्यक्ष अथवा 'नामरूप जात्यादि की योजना सहित ज्ञान' के द्वारा निर्धारित किया गया है।

लोकप्रिय मत के विरुद्ध आपत्तियाँ - प्रत्यक्ष की इस लोकप्रिय परिभाषा के विरूद्ध आपत्तियाँ की गई है, जो इस प्रकार है-

गंगेश ने प्रत्यक्ष की इस परिभाषा पर आपत्ति करते हुए इस परिभाषा को 'अतिव्याप्त बतलाया है। गंगेश के अनुसार यह परिभाषा अनुमान और स्मृति पर भी लागू होती है। अनुमान में भी इन्द्रिय तथा लिंग (अर्थ या वस्तु) के बीच संबंध होता है, जैसे-

जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-आग है।

पर्वत पर धुआँ है,

पर्वत पर आग है।

अनुमान के इस उदाहरण में इन्द्रिय (चक्षु) में पर्वत तथा धुआँ का सन्निकर्ष होता है।

इसी प्रकार गंगेश के मतानुसार स्मृति में भी मन (अन्तन्द्रिय) तथा स्मृति की विषयवन में सम्पर्क होता

है। अतएव गंगेश के अनुसार अनुमान एवं स्मृति भी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष पर आधारित हैं।

आलोचकों के अनुसार प्रत्यक्ष की यह परिभाषा अव्याप्त भी है। बहुधा इन्द्रियों के अभाव में भी प्रत्यक्ष होता है। ईश्वरवादी दार्शनिकों का कहना है कि ईश्वर को इन्द्रियाँ नहीं होती पर उसे प्रत्यक्ष होता है। अत: यह परिभाषा ईश्वर के प्रत्यक्ष पर लागू नहीं होती।

किन्तु यह आपत्ति सिर्फ ईश्वरवादी दार्शनिकों को ही स्वीकृत हो सकती है निरिश्वरवादियों को नहीं, क्योंकि जो ईश्वर के अस्तित्त्व को ही नहीं मानते वे उसके प्रत्यक्ष को कैसे स्वीकृति करेंगे?

इस परिभाषा में 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रश्न है इन्द्रिय किसे कहते हैं? इसके बारे में नैय्यायिक यह कहते हैं कि 'जिसमें वस्तु का प्रत्यक्ष होता है वह इन्द्रिय है। किन्तु इन्द्रिय' की इस परिभाषा के साथ ही प्रत्यक्ष की परिभाषा में चक्रक परिभाषा का दोष उत्पन्न होता है, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष' को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग होता है।

इस प्रकार अन्य दार्शनिक प्रत्यक्ष के लिए किसी अन्य परिभाषा की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

4.4.3 साक्षात ज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष

इस मत के अनुसार साक्षात ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। नव्य-नैय्यायिक, वेदान्ती तथा प्रभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान के पदों में ही परिभाषित करते हैं। नव्य-न्याय के प्रणेता गंगेशोपाध्याय के अनुसार प्रत्यक्ष का अर्थ है 'विषय की साक्षात् प्रतीति।

नव्य-वेदान्ती भी प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों को अनावश्यक मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को तो इन्द्रिय नहीं है पर उसे प्रत्यक्ष होता है। पुन: वेदान्त मत के अनुसार अन्त:प्रत्यक्ष भी बिना इन्द्रिय के ही होता है परन्तु यह प्रत्यक्ष ही है। यहाँ ज्ञातव्य है कि अनेक वेदान्ती मन को इन्द्रिय की कोटि में नहीं रखते। वस्तुत: मन इन्द्रिय है अथवा नहीं इस प्रश्न पर विचार अपेक्षित है, जिसका विवेचन आगे के पृष्ठों पर किया जाएगा। वेदान्त मत के अनुसार जो ज्ञान बिना किसी करण अथवा माध्यम के हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रभाकर मीमांसा के मत में भी प्रत्यक्ष को 'साक्षात ज्ञान' के पद में ही व्यक्त किया गया है। मीमांसा सत्र 1/1/4 में 'संत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणाम् बुद्धिजन्य तत् प्रत्यक्षम्' की व्याख्या करते हुए भवदास ने कहा कि पुरुष की इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। 'लोकवार्त्तिक में प्रभाकर ने प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हुए प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को भी आवश्यक कहा। प्राभाकर मीमांसा 'प्रत्यक्ष की विवेचना 'त्रिपुटिज्ञान' के रूप में करता है। प्रभाकर मत के अनुसार प्रत्यक्ष के तीन तत्त्व है-मेय (प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु), मातृ (प्रत्यक्षकर्त्ता) तथा प्रमा अथवा मान। प्रत्येक प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष के तीनों तत्त्वों-मेय, मातृ तथा मान की प्रकाशन होती है वह मान अथवा प्रमा ही है जो मेय तथा मातृ दोनों को प्रकाशित करती है, किन्तु इस प्रमा अथवा मान को कोई प्रकाशित नहीं करता, यह स्वत:प्रकाश्य है। प्राभाकर मत प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों को अपरिहार्य मानता है तथापि यह मत साक्षात्कारित्व को प्रत्यक्ष में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। प्रभाकर मत के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमा अनुमानादि अन्य प्रमा से भिन्न इसी अर्थ में है कि प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान है जबकि अनुमिति आदि अन्य समस्त ज्ञान असाक्षात् हैं।

तर्कभाषा के प्रणेता नैय्यायिक केशव मिश्र ने भी प्रत्यक्ष को 'साक्षात्कारित्व' के पद में ही परिभाषित

किया है। केशव मिश्र के अनुसार साक्षात्कारी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं। केशव मिश्र ने न्याय परम्परा को सम्मान प्रदान करते हुए साक्षात्कारी प्रमा को 'इन्द्रियजन्य' ही कहा है। केशव मिश्र के अनुसार इस प्रत्यक्ष प्रमाण के तीन करण है- (क) कभी इन्द्रिय, (ख) कभी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, (ग) कभी निर्विकल्पक ज्ञान? इन तीनों प्रकार के करणों से सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दो प्रकार के प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ ही करण रूप कार्य करती है। जब निर्विकल्पक के अनन्तर नामजात्यादि की योजना सहित विशेषण-विशेष्य-भाव वाला सविकल्पक प्रत्यक्ष उदित होता है तो इस प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष करण रूप उपस्थित होता है। जब उक्त सविकल्पक ज्ञान के अनन्तर हानोपदानोपेक्षा (हान = परित्याग + उपादान = ग्रहण + उपेक्षा = न हेय न उपदेय अर्थात् वस्तु की उपयोगिता का ज्ञान) की बुद्धि उत्पन्न होती है तो इस हानोपदानोपेक्षा ज्ञान का करण निर्विकल्पक ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष को इस प्रकार परिभाषित करने से साक्षात पद की व्याख्या की कठिनाई सामने आती है। गंगेश ने प्रत्यक्ष की जो परिभाषा दी है उससे 'साक्षात' पद को एक अर्थ मिलता है। गंगेश ने प्रत्यक्ष को ऐसा ज्ञान कहा है जिसकी प्राप्ति के लिए अन्य साधन (करण) की आवश्यकता न हो। किन्तु प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष के साधन के रूप में या माध्यम के रूप में उपस्थित होती हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान' के पद में परिभाषित करने में कठिनाई है।

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि गंगेश या नव्य-नैय्यायिक तथा वेदान्ती प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को आवश्यक नहीं मानते। गंगेश ने स्पष्ट कहा है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ उपस्थित हो सकती है और नहीं भी। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की उपस्थिति आकस्मिक है अनिवार्य नहीं। अब अगर प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ उपस्थित नहीं होती तो प्रत्यक्ष के साधन या करण के रूप में इन्द्रियों को स्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं है और अगर प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ उपस्थित हैं (जैसा कि प्राभाकर और कभी-कभी नव्य नैय्यायिक भी कहते हैं) तो भी इन्द्रियाँ 'प्रमा का कारण या प्रमाण नहीं है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी दार्शनिक इन्द्रिय को प्रमाण की कोटि में नहीं रखता। पाश्चात्य दार्शनिक भी इन्द्रियानुभूति को प्रमाण के रूप में स्वीकृत करते हैं पर इन्द्रिय को वे कहीं भी प्रमाण नहीं मानते।

यहाँ तनिक ठहरकर इन्द्रिय' और 'इन्द्रियानुभूति' के भेद को भी समझ लिया जाना चाहिए। 'इन्द्रिय' और 'इन्द्रियानुभूति' में भेद है, यथा 'चक्षु' एक 'इन्द्रिय' है और 'चक्षु से पुस्तक की जो अनुभूति हो रही है वह 'इन्द्रियानुभूति' है। इसी प्रकार इन्द्रिय और प्रत्यक्ष में भेद है। 'चक्षु' 'इन्द्रिय' है और 'चक्षु' के द्वारा पुस्तक को जो ज्ञान हो रहा है वह ज्ञान 'प्रत्यक्ष है।

अत: साक्षात पद को इस अर्थ में स्वीकृत करने में कोई दोष नहीं दिखता कि जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान को माध्यम किए बिना प्राप्त हो या जो ज्ञान अन्य प्रमाणों पर आश्रित नहीं हो वह प्रत्यक्ष हैं।

4.4.4 असाक्षात ज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष

यह मत जैन दार्शनिकों का है। साधारणत: प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाता है। वे लोग भी, जो प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं, प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान की कोटि में ही रखते हैं। किन्तु जैन न्याय की प्राचीन परम्परा इन्द्रियजन्य ज्ञान को अपरोक्ष अथवा असाक्षात ज्ञान की कोटि में रखती है। जैन परम्परा में ज्ञान के दो भेद बतलाए गए

हैंख्रपरोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान सीधा आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। मन तथा इन्द्रियादि से प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहा जाता है। आचार्य उमास्वाति ने मति, श्रुति, अवधि, मन:पर्यय और केवल-पाँच प्रकार के ज्ञान बतलाए। आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किए-प्रत्यक्ष और परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत को परोक्ष ज्ञान तथा अवधि, मन:पयर्य और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है।

परवर्ती काल में अकलंकदेव ने जैन न्याय की इस परम्परा में तनिक परिवर्तन करते हुए प्रत्यक्ष ज्ञान के पुन: दो भेद किए- (क) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (ख) मुख्य प्रत्यक्ष। अकलकदेव सांव्यवहारिक दृष्टि से इन्द्रिय ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान की कोटि में रखा।

4.5 इन्द्रिय

भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष को इन्द्रियप्रत्यक्ष तथा इन्दियेतर प्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है। न्याय मत शुद्ध रूप से इन्द्रिय प्रत्यक्षवादी है। यहाँ प्रत्यक्ष को 'इन्द्रियार्थ संन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर वेदान्त और बौद्ध मत यद्यपि प्रत्यक्ष को साक्षात्कारित्व' के द्वारा परिभाषित करते हैं किन्तु यहाँ भी प्रत्यक्ष के एक विशेष प्रकार के रूप में इन्द्रिय प्रत्यक्ष की चर्चा हुई है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण के संदर्भ में इन्द्रियों की चर्चा उठ खड़ी होती है। इस चर्चा के केन्द्रिय विषय इस प्रकार रहे-इन्द्रिय क्या है? इनकी संख्या कितनी है? इन्द्रियों के विषय क्या है? इन्द्रियों के अस्तित्त्व का क्या प्रमाण है? इन्द्रियों का क्या प्रमाण है? इन्द्रियों की का क्या है? आदि। विवरणप्रमेयसंग्रह में इन प्रश्नों को केन्द्रित करने वाले तीन प्रमुख मतों का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है

- दार्शनिकों का एक वर्ग है जो यह मानता है कि इन्द्रिय भौतिक शरीर का अंग है। यह मत मूलत: बौद्धों का है।
- दार्शनिकों का एक दूसरा वर्ग यह मानता है कि 'इन्द्रिय' विषय को ग्रहण करने वाली एक सूक्ष्म शक्ति का नाम है। यह मत मूलत: मीमांसकों, वेदान्तियों और सांख्य का है।
- दार्शनिकों का एक तीसरा वर्ग यह मानता है कि इन्द्रिय न तो भौतिक शरीर का अंग-मात्र हैं और न ही कोई सूक्ष्म शक्ति हैं वरन् इस मत के अनुसार इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण करने की शक्ति से युक्त होती हैं। यह मत मूलत: नैय्यायिका का है।

आगे के पृष्ठों में इन प्रमुख मतों-न्याय मत, बौद्ध मत, वेदान्त तथा सांख्य मत का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

न्याय मत

तर्कभाषा में केशव मिश्र ने इन्द्रियों के विषय में कहा है कि शरीर से संयुक्त ज्ञान अतिन्द्रिय करण को 'इन्द्रिय' कहते हैं।

केशव मिश्र द्वारा प्रस्तुत इन्द्रिय विषयक इस कथन से 'इन्द्रिय' के निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट होते हैं-

(क) **इन्द्रियाँ शरीर से संयुक्त हैं** - केशव मिश्र ने 'शरीर संयुक्तम्' पद का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ शरीर से संयुक्त हैं। न्याय सूत्र में महर्षि गौतम ने शरीर को

इन्द्रियों का आश्रय कहा है। वात्स्यायन ने इस पर भाष्य करते हुए कहा है कि शरीर के अनुग्रह से इन्द्रियाँ अनुग्रह को प्राप्त करती हैं (उत्तम शरीर में उत्तम गुणवत्तावाली इन्द्रियाँ अवस्थित होती है) तथा शरीर के नष्ट होने से इन्द्रियाँ भी नष्ट हो जाती है अतएव शरीर ही इन्द्रियों का आश्रय है।

नोट

शरीर को इन्द्रियों का आश्रय बतलाने वाले इस मत का तात्पर्य यह नहीं समझा जाना चाहिए कि न्याय मत के अनुसार इन्द्रियाँ वही हैं जैसी कि बाह्य शरीर में स्थित उनका रूप आदि दिखता है। न्याय मत के अनुसार इन्द्रियाँ इन बाह्य अंगों, यथा कर्ण आदि, में अवस्थित संवेदना ग्रहण करने वाली का सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। न्याय मत यह बलपूर्वक कहता है कि इन इन्द्रियों की स्थिति शरीर में ही है, अन्यत्र नहीं।

(ख) इन्द्रियाँ भौतिक द्रव्य हैं – इन्द्रियाँ भौतिक शरीर का अंग है–इससे इन्द्रियों को एक अन्य लक्षण भी मिलता है कि इन्द्रियों का स्वरूप भौतिक है। न्याय सूत्र में गौतम ने स्पष्ट कहा है कि घाण, रसन, चक्षु, त्वक, श्रोतख्रये इन्द्रियाँ भौतिक हैं। वात्स्यायन ने कहा है कि जिससे सँघा जाता है वह घाणेन्द्रियाँ हैं। इससे आत्मा गन्ध गुण को ग्रहण करती है। जिह्वा स्थान में वर्तमान रसनेन्द्रिय रस अथवा स्वाद ग्रहण करती है। चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय से आत्मा रूप का ग्रहण करती है। त्वक् (त्वचा) से स्पर्श का तथा श्रोत (कर्ण) से शब्द का ज्ञान आत्मा को होता है। पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश ये पंचभूत है। ये पंचभूत ही पाँच इन्द्रियों के कारण है।

इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त अन्तरिन्द्रिय के रूप में मन की चर्चा भी वैशेषिक दर्शन में की गई है। यद्यपि गौतम के न्यायसूत्र में कहीं भी मन को इन्द्रियों की कोटि में नहीं रखा गया है किन्तु परवर्ती नैय्यायिकों ने घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक, श्रोत और मन नामक छः इन्द्रियों की बात कही है। मन सुख-दुख आदि की साधनभूत इन्द्रिय है। 'मन' नामक यह इन्द्रिय शेष इन्द्रियों से भिन्न है। वह भिन्नता इस अर्थ में है कि शेष इन्द्रियाँ भौतिक है किन्तु मन अभौतिक है। शेष इन्द्रियाँ अनित्य है, किन्तु मन नित्य है। यह अणु परिमाण वाला है और इसकी स्थिति हृदय के भीतर है।

(ग) इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का करण हैं – न्याय मत प्रत्यक्ष को 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' के रूप में ही परिभाषित करता है। इस प्रकार न्याय मत में इन्द्रिय के अभाव में प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियेतर प्रत्यक्ष स्वीकार्य नहीं। इसी अर्थ में इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष ज्ञान का करण अथवा साधन है।

न्याय मत द्वारा इन्द्रियों को ज्ञान के करण' के रूप में परिभाषित करने पर विद्वानों ने आपत्ति की है। इस आपत्ति के अनुसार जब न्याय मत प्रत्यक्ष को 'इन्द्रिय' के द्वारा और इन्द्रिय को प्रत्यक्ष के द्वारा परिभाषित करता है तो इससे चक्रक परिभाषा का दोष उत्पन्न होता है।

(घ) इन्द्रियाँ अतिन्द्रिय है – इन्द्रियों की अन्य विशेषता यह है कि इन्द्रियाँ अतिन्द्रिय होती है। 'अतिन्द्रिय' का अर्थ है 'इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य न होना'। इन्द्रियाँ साधन रूप उपस्थित होकर समस्त प्रत्यक्षगोचर विषयों को ग्रहण करती है किन्तु इन्द्रियाँ स्वयम् प्रत्यक्षगोचर नहीं। न्याय मत के अनुसार शरीर में जो गोलक आदि दिखलाई देते हैं वह इन्द्रिय नहीं, इन्द्रिय

का स्थान मात्र हैं। इन्द्रिय तो सूक्ष्म हैं जो इस बाह्य रूप से दृश्यमान नेत्रगोलक आदि में अवस्थित होती है।

न्याय मत के अनुसार इन्द्रियों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। बाह्य विषय का साक्षात ज्ञान तो सभी को होता है। इस साक्षात ज्ञान के करण के रूप में इन्द्रिया अनुमेय है। जिस प्रकार काटने की क्रिया के लिए कुठार आदि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रत्यक्ष की क्रिया के लिए भी साधन अपरिहार्य है। प्रत्यक्ष के इसी साधन के रूप में इन्द्रियों की सत्ता अनुमान सिद्ध है।

(ङ) **इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है** – न्याय मत के अनुसार ये समस्त इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है। 'प्राप्यकारी' का अर्थ है कि ये इन्द्रियाँ विषय से संयुक्त होकर ही अपना कार्य कर पाती हैं। बौद्ध मत चक्ष, श्रोत्र और मन को प्राप्यकारी नहीं मानता। न्याय मत इसका खंडन करते हुए कहता है कि इन्द्रिय और अर्थ के 'सन्निकर्ष' के अभाव में तो प्रत्यक्ष संभव ही नहीं अतएव प्रत्येक इन्द्रिय ही प्राप्यकारी है।

न्याय मत के अनुसार इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व की दो दिशाएँ हैं–

- चक्ष तथा मन ज्ञेय पदार्थ अथवा विषय के पास जाकर उनका सन्निकर्ष प्राप्त करते हैं।
- अन्य इन्द्रियाँ अपने स्थान पर अवस्थित रहते हुए ही अर्थ का सन्निकर्ष प्राप्त करती हैं।

कर्मेन्द्रिय का खंडन – न्याय मत के अनुसार वाक, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ शरीर के ये पाँच अंग, जिन्हें वेदान्त और सांख्य मत 'कर्मेन्द्रिय' की संज्ञा देते हैं, इन्द्रिय नहीं। न्याय मत के अनुसार प्रत्यक्ष के करण को ही 'इन्द्रिय' कहते हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ प्रत्यक्ष के करण नहीं, अतएव ये इन्द्रिय नहीं।

बौद्ध मत

बौद्ध मत के अनुसार इन्द्रियाँ न तो कोई सूक्ष्म द्रव्य हैं न ही शक्ति हैं, बल्कि शरीर को अंग है। दृश्य शरीर में जो नेत्र-गोलक आदि दृश्य अंग दिखते हैं वही 'इन्द्रिय हैं। बौद्ध मत के अनुसार जिसकी परमैश्वर्य की प्रवृत्ति होती है वही इन्द्रिय कहलाता है। सामान्यत: इन्द्रियों को 'अधिपति' कहा जाता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय के आधिपत्य का पृथक विषय है। शब्दांतर से, प्रत्येक इन्द्रिय को अपने विषय में आधिपत्य (स्वामीत्व) होता है। यथा, त्वकेन्द्रिय का विषय स्पर्श है। अपने विषय (स्पर्श) में त्वचा का आधिपत्य इस प्रकार है कि स्पर्श का ज्ञान मात्र त्वचा से ही होता है, अन्य इन्द्रिय से नहीं। बौद्ध मत यद्यपि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को अनिवार्य नहीं मानता तथापि प्रत्यक्ष के कारण (प्रत्यय) रूप में वहाँ इन्द्रियों की चर्चा है। प्रत्यक्ष के कारण रूप में इन्द्रिय को 'अधिपति प्रत्यय' कहा जाता है। बौद्ध मत में ज्ञान के चार प्रत्यय (कारण) बतलाए गए हैं-आलम्बन प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्ययं तथा समनन्तर प्रत्यय। घट के ज्ञान में घट आलम्बन प्रत्यय है, प्रकाशादि सहकारी प्रत्यय है, नेत्रादि इन्द्रिय अधिपति प्रत्यय है और समनन्तर प्रत्यय इस ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति है, जिसके अभाव में मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। न्याय मत छ: इन्द्रियों और वेदान्त पाँच इन्द्रियों की चर्चा करते हैं। इससे भिन्न बौद्ध मत इन्द्रियों की संख्या बाईस बतलाते हैं। वे इस प्रकार हैं–

- विज्ञानेन्द्रिय – सामान्यत: इन्हें 'ज्ञानेन्द्रिय' कहा जाता है। ये पाँच हैं-चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय,

घ्राणेन्द्रिय, जिहेन्द्रिय, तथा कार्येन्द्रिय।

नोट

- मनेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय – मनेन्द्रिय को 'समनन्तर प्रत्यय' भी कहा जाता है। पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय के कारण पुरुष-स्त्री भेद, स्त्री-पुरुषों में स्वर तथा आचारादि का भेद (अन्यथाभाव) उपस्थित होता है। जीवितेन्द्रिय जीवन की उत्पत्ति और उसके ध ारण से सम्बद्ध है।
- वेदनेन्द्रिय – वेदनेन्द्रियों की संख्या पाँच हैंख्रसुख, दुख, सौमनस्य (मैत्री), दौर्मनस्य (शत्रुता) तथा उपेक्षा (तटस्थ भाव)। वेदनेन्द्रिय का अधिपत्य संक्लेश आदि में है।
- श्रद्धादि इन्द्रिय – श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय, समाधीन्द्रिय तथा प्रज्ञेन्द्रिय – ये पाँच श्रद्धादि इन्द्रियाँ कही गई हैं।

  योगसूत्र के समाधिपाद में श्रद्धादि पंचक का उल्लेख मिलता है किन्तु योग मत इन्हें इन्द्रियों की कोटि में नहीं व्यवस्थित है।
- अनास्रवेन्द्रिय – इनकी संख्या तीन हैं – (क) अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, (ख) आज्ञेन्द्रिय, तथा (ग) अज्ञातावीन्द्रिय।

कर्मेन्द्रिय का निराकरण

वेदान्त, सांख्य तथा मनुस्मृति आदि ग्रंथों में कर्मेन्द्रियों का भी उल्लेख मिलता है। ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं-वाक, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ। बौद्ध मत बलपूर्वक कर्मेन्द्रियों का निराकरण करता है और कहता है कि वाक, पाणि, पाद, पायु (उत्सर्जन अंग) तथा उपस्थ (प्रजनन अंग) में इन्द्रियत्व नहीं। इसके मुख्यत: दो कारण बतलाए हैं-

(क) इन्द्रियों को 'अधिपति' कहा जाता है। 'अधिपति' का अर्थ यह है कि इन्द्रियों का अपने विषयों में आधिपत्य होता है। इस रूप में वाक, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ का अपने विषयों में अधि पति भाव नहीं। वाक् का विषय वचन को कहा जाता है किन्तु वचन पर वाक् का अधिपत्य नहीं, क्योंकि वचन शिक्षा विशेष की अपेक्षा करता है। पाणि और पाद का आदान (देने) और विचरण (चलने) में आधिपत्य नहीं है क्योंकि उरग आदि का आदान-विहरण बिना पाणि-पाद के होता है। इसी भाँति पायु का उत्सर्ग में आधिपत्य नहीं है क्योंकि गुरु-द्रव्य का सर्वत्र आकाश-छिद्र से पतन होता है। बौद्ध मत के अनुसार अशुचि द्रव्य (शौचादि) का उत्सर्जन वायु धातु की प्रेरणा से होता है अतएव उत्सर्जन में पायु का आधिपत्य नहीं। इसी भाँति उपस्थ का भी आनन्द में आधिपत्य नहीं है अपितु आनन्द तो स्त्री-पुरुषेन्द्रिय कृत है।

(ख) यदि मात्र कार्य सम्पन्न करने से सहायक होने के कारण शरीर के अंगों को 'इन्द्रिय' की संज्ञा दी जाय तो कण्ठ, दन्त, अंगुलि-पर्व आदि को भी कर्मेन्द्रिय की संज्ञा देनी पड़ेगी क्योंकि शरीर के ये अंग भी किसी-न-किसी क्रिया के संपादन में साधक सिद्ध होते हैं।

इन्द्रियों को प्राप्यकारित्व

क्या इन्द्रिय अपने विषयों को प्राप्त कर अपना कार्य करती है? न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, सांख्य तथा मीमांसक इन्द्रियों के विषय-प्राध्यकारित्व के समर्थक हैं। किन्तु बौद्धों का मत इस विषय में तनिक भिन्न है। बौद्ध मत के अनुसार चक्षु, श्रोत्र तथा मन अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करते हैं। कर्ण, रसन

तथा त्वक् प्राप्त-विषय हैं।

वेदान्त एवं सांख्य मत

वेदान्त प्रत्यक्ष को 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' के पदों में परिभाषित करने के प्रति उत्सुक नहीं है। यहाँ प्रत्यक्ष को 'साक्षात् ज्ञान' कहा गया है। साक्षात ज्ञान दो प्रकार के हैं- इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष।' इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष इन्द्रियाश्रित है और इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष इन्द्रियेतर है।

वेदान्त मत में इन्द्रियों की संख्या पाँच बतलाई गई हैं - घाण, रसन, चक्षु, श्रोत्र त्वक। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना निर्धारित विषय है जिससे संयुक्त होकर इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष ज्ञान की रचना करती है। घ्राण ोन्द्रिय का विषय गंध, रसनेन्द्रिय का विषय रस, चक्षुन्द्रिय का विषय रूप, श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द तथा त्वक् का विषय स्पर्श है।

वेदान्त मन अथवा अन्त:करण के इन्द्रियत्व का बलपूर्वक खंडन करता है। वेदान्त मत के अनुसार अन्त:करण के इन्द्रियत्व का कोई प्रमाण ही नहीं है। वेदान्त मत प्रत्यक्ष में अन्त:करण की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जब इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होता है तो अन्त:करण वृत्ति शरीर के बाहर आकर वस्तु का रूप धर लेती है। सुख दुखादि अन्त:करण के ध र्म हैं तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं है।

वेदान्त मत के अनुसार इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष का विषय नहीं। इन्द्रियों के विषय में अनुमान और श्रुति दो प्रकार के प्रमाण हैं।

वेदान्त मत इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का समर्थन करता है। वेदान्त मत के अनुसार घाण, रसन, और त्वक् अपने स्थान पर स्थित रह कर ही अपने विषयों का संसर्ग प्राप्त करती है जबकि श्रोत्र और चक्षु विषयों के स्थान पर जाकर विषय को प्राप्त करती है।

सांख्य मत प्रत्यक्ष को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में ही स्वीकार करता है। सांख्य मत में इन्द्रियाँ जड़ प्रकृति का रूपान्तरण है। इस रूप में सांख्य मत नैय्यायिकों की भाँति इन्द्रियों को जड़ अथवा भौतिक ही मानता है। सांख्य मत के अनुसार इन्द्रिय का उपादान सात्विक अहंकार है।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं-बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) तथा कर्मेन्द्रिय। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, त्वक्-ये पाँच बुद्धीन्द्रिय हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ-ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। प्रत्यक्ष में ज्ञानेन्द्रियों की ही प्रकृष्ट भूमिका होती है। इसके अतिरिक्त सांख्य मत एकादश इन्द्रिय के रूप में 'मन' को भी स्वीकार करता है। मन ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से भिन्न है, तथापि मन के संकल्प से युक्त होकर ही ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रिय अपने धर्म में प्रवृत्त हो पाती है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना धर्म है। मन का धर्म संकल्प है। ज्ञानेन्द्रियों के भी अपने धर्म अथवा विषय हैं। चक्षु रूप को ग्रहण करता है, श्रोत शब्द को, घाण गन्ध को, रसन रस को, त्वक् स्पर्श को ग्रहण करता है। सांख्य मत भी इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का समर्थन करता है।

इन्द्रियों की कार्यविधि (प्रापकत्व बनाम अप्रापकत्व)

इन्द्रियों प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की क्या भूमिका है? अथवा; प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ किस प्रकार कार्य करती है? - इस प्रश्न पर भारतीय दार्शनिक परम्परा में दो प्रकार के मत देखने को मिलते है-

(क) प्रापकत्ववाद

(ख) अप्रापकत्ववाद

नोट

प्रापकत्ववाद के अनुसार इन्द्रियाँ अपने विषयों के अव्यवहित अथवा व्यवधानरहित संपर्क में आकर अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। यह मत मुख्यत: न्याय, मीमांसा, वेदान्त तथा सांख्य संप्रदाय का है। दूसरी ओर अप्रापकत्ववाद के अनुसार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय और वस्तु के बीच इस प्रकार का व्यवधानरहित संपर्क आवश्यक नहीं। यह मत बौद्धों का है। प्रापकत्ववाद बनाम अप्रापकत्व के विषय में इनके समर्थकों के अपने-अपने तर्क हैं। प्रापकत्ववाद के पक्ष में तर्क देते हुए नैय्यायिक कहते हैं कि त्वकेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय साक्षात् संसर्ग में आकर ही अपने विषयों को ग्रहण करती हैं-यह तो सिद्ध हैं। इसी आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि अन्य इन्द्रियाँ भी अपने विषयों को उनके संसर्ग में आकर ही ग्रहण करती है क्योंकि समस्त इन्द्रियों में स्वरूपगत समानता है और उनकी कार्यविधि भी समान ही है।

वेदान्त मत भी इन्द्रियों को 'प्राप्यकारी' ही बतलाता हैं। इस मत के अनुसार इन्द्रियों में वस्तु के संपर्क में आकर ही कार्य करने की क्षमता होती है। मध्वाचार्य के अनुसार अगर इन्द्रिय अप्राप्यकारी होती तो हम दूर के वस्तुओं की भी स्पर्श-संवेदना प्राप्त कर सकते होते या बिना चखे भी स्वाद के अनुभव की क्षमता हममें होती। पुन:, अगर वस्तु के संपर्क के बिना ही इन्द्रियों में कार्य करने की क्षमता है तो क्या कारण है कि वस्तु के रूप की संवेदना या ध्वनि की संवेदना सिर्फ उसी समय तक होती है जबतक कि वस्तु आँख के सामने होती है या जब तक कि ध्वनि होती रहती है? वस्तुत: सत्य यह है कि वस्तु के सामने से हट जाने से उसके रूप की संवेदना शेष होती है तथा घंटी की ध्वनि (अथवा कोई भी अन्य ध्वनि) बंद हो जाने के बाद ध्वनि की संवेदना भी शेष हो जाती है। यहाँ प्रश्न यह है कि अगर इन्द्रियाँ वस्तुओं के संपर्क बिना कार्य नहीं कर पाती है। तो चक्षु द्वारा दूर की वस्तुओं, जैसे आकाश के तारे आदि, की संवेदना कैसे होती है? या. दूर से आती ध्वनि कैसे सुनाई पड़ती है।

इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसक यह कहते हैं कि इन्द्रियाँ मात्र भौतिक शारीरिक संरचनाएँ ही नहीं हैं। वस्तुत: ये अदृश्य सूक्ष्म भौतिक संरचनाएँ हैं जो वेग से बढ़ती अथवा सिकुड़ती हैं। जब हम किसी दूर के दृश्य को देखते हैं अथवा किसी दूर की ध्वनि को सुनते हैं तो इस समय इन्द्रियाँ सूर्य के किरणों की भाँति तेजी से विस्तृत होकर वस्तु तक पहुँचती हैं तथा उनसे संपर्क करती है। जब हम दूर की ध्वनि को सुनते हैं तब भी इन्द्रियाँ, ध्वनि तक इसी प्रकार से पहुँचती हैं।

यहाँ नैय्यायिकों का मत मीमांसकों के मत से तनिक भिन्न है। न्याय मत में श्रवण संवेदन के लिए इन्द्रियाँ ध्वनि तक नहीं पहुँचती, वरन् ध्वनि ही इन्द्रिय तक पहुँचती हैं।

वेदान्ती नैय्यायिकों के इस मत का खंडन करते हुए कहते है कि अगर ध्वनि ही इन्द्रिय तक पहुँचती तो हमें कभी भी ध्वनि के स्थान, दिशा आदि का ज्ञान ध्वनि को सुनकर नहीं होता। ध्वनि की दिशा, स्थान आदि का ज्ञान यह बतलाता है कि ध्वनि की संवेदना कर्णेन्द्रिय के स्थान में (देश में) न होकर ध्वनि के स्थान में है अर्थात् इन्द्रियाँ ही ध्वनि तक पहुँचती है न कि ध्वनि इन्द्रियों तक। बौद्ध मत इस इन्द्रिय प्राप्यकारित्ववाद का खंडन करता है। बौद्ध मत के अनुसार इन्द्रिय भौतिक शरीर का अंग है। अत: यह सोचना ही हास्यास्पद है कि इन्द्रिय, यथा चक्षु, प्रत्यक्ष के लिए वस्तु को स्पर्श करती है। इस बौद्ध मत के विरुद्ध वेदान्ती मध्वाचार्य यह प्रश्न करते हैं कि यदि इन्द्रिय प्रत्येक्ष के

लिए इन्द्रिय और वस्तु का सन्निकर्ष आवश्यक नहीं तो जिह्वा पर रखे बिना भी वस्तुओं के स्वाद को अनुभव किया जाना संभव होता। इसी भाँति यदि श्रावण या दृष्टि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक नहीं होता तो हम अनन्त दूरी पर रखी वस्तुओं अथवा आँख की ओट में रखी वस्तुओं को भी देख पाते, या ध्वनि को शेष हो जाने के उपरान्त भी ध्वनि का प्रत्यक्ष कर पाते।

इस आपत्ति के उत्तर में बौद्ध शान्तरक्षित यह प्रश्न करते हैं कि वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए विषय से उसके सन्निकर्ष अथवा भौतिक संसर्ग को आवश्यक है? दूर रखे भोजन का स्वाद दृष्टि सम्पर्क (चक्षुन्द्रिय तथा भोजन का सम्पर्क) होने पर भी प्राप्त नहीं हो पाता, इससे स्पष्ट है कि विषय के प्रत्यक्षीकरण में इन्द्रियों की कोई निर्णायक भूमिका नहीं होती।

इसके उत्तर में नैय्यायिक यह कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय का अलग विषय है। स्वाद चक्षु का विषय नहीं वरन् रसेन्द्रिय का विषय है। चूंकि दूर रखे भोजन का सम्पर्क अपनी इन्द्रिय से नहीं होता अत: यहाँ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष सही अर्थ में सम्पन्न नहीं हो पाने के कारण स्वाद का बोध ज्ञाता को नहीं होता।

बौद्धों के अप्राप्यकारित्ववाद के विरुद्ध समय-समय पर अनेक आपत्तियाँ की गई जिनका सर्वाधिक सशक्त निराकरण बौद्ध शान्तरक्षित ने किया। आचार्य शान्तरक्षित ने प्रत्यक्ष के लिए विषय और इन्द्रिय के भौतिक सम्पर्क को सर्वथा बहिष्कृत किया। आचार्य शान्तरक्षित के अनुसार चुम्बक जब लौह को आकर्षित करता है तो उसके लिए चुम्बक का लौह के पास जाना अनिवार्य नहीं है, वह दूर रहकर ही लौह-कण को ग्रहण करता है। इसी भाँति प्रत्यक्ष में इन्द्रियों द्वारा विषय का ग्रहण दूर से ही हो जाता है, उसके लिए इन्द्रियों और वस्तुओं के बीच किसी व्यवधानरहित संपर्क की आवश्यकता नहीं।

इस संदर्भ में प्राप्यकारित्ववाद के समर्थक वाचस्पति मिश्र की स्थापना उल्लेखनीय है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार चुम्बक का अपना एक प्रभाव क्षेत्र होता है। लौह उस प्रभाव क्षेत्र के संपर्क में आने पर ही चुम्बक के प्रति आकर्षित होता है।

शान्तरक्षित यहाँ अपने तर्क के लिए स्थान बनाते हुए कहते हैं कि जिस भाँति चुम्बक का प्रभाव क्षेत्र होता है उसी भाँति इन्द्रियाँ (जो सर्वथा भौतिक शरीर का अंग मात्र है) का भी अपना प्रभाव क्षेत्र है जिस प्रभाव क्षेत्र में आने पर वस्तु का इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञाता को इन्द्रिार्थ सन्निकर्ष के सर्वथा अभाव में भी हो जाता है। आचार्य शान्तरक्षित के अनुसार प्रत्यक्ष के लिए सम्पर्क महत्त्वपूर्ण नहीं, जिस भाँति चुम्बक का चुम्बकीय गुण लौह को आकर्षित करता है उसी भाँति इन्द्रियाँ अपनी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा विषय का ज्ञान ग्रहण करती है। शान्तरक्षित के अनुसार चुम्बक जब लौह कण को आकर्षित करता है तो वहाँ महत्त्वपूर्ण प्रभाव क्षेत्र न होकर चुम्बकीय गुण होता हैं। यदि मात्र प्रभाव क्षेत्र की ही महत्ता होती तो काष्ठ भी चुम्बक के प्रभाव क्षेत्र में आने पर चुम्बक की ओर आकर्षित होता। इसी भाँति वस्तु के प्रत्यक्ष में वस्तु और इन्द्रिय का सम्पर्क महत्त्वपूर्ण नहीं होता अन्यथा हाथ से स्पर्श करके वस्तु का स्वाद जाना जा सकता। वस्तुत:, आचार्य शान्तरक्षित के अनुसार, प्रत्येक इन्द्रिय एक विशेष प्रकार के वस्तु का ही प्रत्यक्ष कर पाती है और जब वस्तु विशेष इन्द्रिय विशेष के प्रभाव क्षेत्र में आता है तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष संभव होता है। यही कारण है कि रंग का मात्र चक्षु से, रस का मात्र जिह्वा से, स्पर्श का मात्र त्वचा से, शब्द का कर्ण से, गंध का नासिक से ही प्रत्यक्ष संभव होता है तथा एक विशेष दूरी से ही यह प्रत्यक्ष संभव हो पाता है। यहाँ ध्यान दिया जाना

चाहिए प्रापकत्ववाद तथा अप्रापकत्ववाद में भेद मात्र अभिव्यक्ति का भेद है। जिसे अप्रापकत्ववादी शान्तरक्षित 'इन्द्रिय का प्रभाव क्षेत्र' कहते हैं उसे ही वाचस्पति मिश्र या अन्य प्रापकत्ववादी 'इन्द्रियों की प्रापकता' के नाम से संबोधित करते हैं।

तब, बौद्ध मत का एक भेद सांख्य, मीमांसा, वेदान्त तथा आंशिक रूप से न्याय वैशेषिक मतों से है। वह यह कि प्रापकत्ववादी इन्द्रिय को विशेष शारीरिक संरचना की। एक विशिष्ट शक्ति मानते है तथा यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का विस्तार विषय तक होता है (इन्द्रियाँ अपने गोलको से बाहर निकलकर वस्तु तक पहुँचती हैं जिससे इन्द्रिय और वस्तु का सम्पर्क संभव हो पाता है) जबकि बौद्ध इस मत को हास्यास्पद बतलाते हुए कहते हैं कि इन्द्रियाँ भौतिक शरीर का अंग हैं और भौतिक शरीर में ही अवस्थित होती हैं, इनका विस्तार संभव नहीं। बौद्ध मतानुसार इन्द्रियों को अगर 'शक्ति' माना जाय तो अपारदर्शी दीवार के पीछे रखी वस्तु के चक्षु प्रत्यक्ष के न हो पाने की व्याख्या संभव नहीं होगी क्योंकि सूक्ष्म शक्ति के लिए अपारदर्शी दीवार को पार कर पाना । असंभव नहीं होगा। प्रत्युत्तर में यहाँ सांख्य, मीमांसक तथा वेदान्ती यह कहते हैं कि इन्द्रियों की शक्ति सीमित होती है अतएव वे अपारदर्शी दीवार को पार नहीं कर पातीं।

वस्तुत: यह मतभेद भी प्रापकत्व और अप्रापकत्व के बीच अभिव्यक्ति संबंधी भेद के कारण ही उत्पन्न हुआ है। शब्दान्तर से यहाँ सांख्य, मीमांसक, वेदान्ती तथा बौद्ध एक ही बात कहते हैं कि इन्द्रिय का एक सीमित प्रभाव क्षेत्र या सीमित शक्ति होती है जो अपारदर्शी दीवारों के पार की वस्तु तक नहीं पहुँच पाती या एक सीमा के पार वस्त का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाती।

पाश्चात्य दर्शन में प्रापकत्व की समस्या

पाश्चात्य दार्शनिक प्रत्यक्ष का अर्थ 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' से तो लेते हैं किन्तु वहाँ इन्द्रिय को परिभाषित करने के लिए या प्रत्यक्ष को परिभाषित करने के लिए इतनी उत्सुकता नहीं दिखती। साथ ही प्रापकत्व और अप्रापकत्व जैसी समस्या पाश्चात्य दर्शन में देखने को नहीं मिलती। प्रत्यक्ष के विषय में उनके पास विभिन्न सिद्धांत अवश्य हैं, पर इन सिद्धांतों की चिन्ता इस विषय में नहीं है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में वस्तु अरि इन्द्रिय का संम्पर्क किस प्रकार संभव हो पाता है? अथवा क्या इन्द्रिय का कोई प्रभाव क्षेत्र या शक्ति क्षेत्र है? या; वस्तु का कोई प्रभाव क्षेत्र होता है जो इन्द्रिय तक पहुँचता है?...?...? इन समस्त प्रश्नों के उत्तर पाश्चात्य दार्शनिक मनोवैज्ञानिकों या जीवविज्ञानियों, भौतिक-शास्त्रियों पर छोड़ देते हैं क्योंकि पाश्चात्य विश्व में ज्ञान का जगत अत्यन्त विश्लेषणत्मक है जिसे ज्ञान की समृद्धि का सूचक माना जाता है। इसके विपरीत परम्परागत भारतीय चिंतन-प्रणाली अत्यन्त संशलिष्ट है। इस प्रणाली की अपनी विशेषताएँ और हानि लाभ हैं।

तथापि, यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि पाश्चात्य दार्शनिक जब प्रत्यक्ष को 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' कहते हैं तब प्रत्यक्ष के लिए 'इन्द्रिय' की अनिवार्यता अपरिहार्य हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठता है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की क्या भूमिका होती है? स्पष्टत: प्रत्यक्ष में इन्द्रिय ज्ञाता और ज्ञेय के बीच कारक की भूमिका का निर्वहन करती है। पुन: प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की भूमिका की स्वीकृति ही ज्ञाता ज्ञेय के द्वैत की स्वीकृति है जो स्वीकृति ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद का पोषण करती है। साथ ही यह ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद तत्त्वमीमांसीय यथार्थवाद की ओर भी संकेत करता है क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत ज्ञाता और ज्ञेय के वस्तुपरक अस्तित्त्व के द्वैत की घोषणा करता

है। दूसरे शब्दों में, यदि हम यह कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय में द्वैत है तो स्पष्टतः, प्रकारान्तर से हम ज्ञाता तथा ज्ञेय के पृथक-पृथक 'अस्तित्त्व' को स्वीकार कर लेते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय की इस अस्तित्वपरक स्वीकृति के साथ ही ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में तत्त्वमीमांसा के द्वार खुल जाते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ज्ञाता और ज्ञेय 'तत्त्वमीमांसीय सत्ता' नहीं वरन् 'ज्ञानमीमांसीय सत्ता' हैं। किन्तु यह एक हास्यास्पद स्थिति है क्योंकि 'सत्ता' से संबंधित प्रश्न जब भी होंगे तत्त्वमीमांसा के ही होंगे, ज्ञानमीमांसा के नहीं। तथापि यदि इन प्रश्नों को कोई बलपूर्वक 'ज्ञानमीमांसीय' ही माने तो इससे ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा का भेद निरर्थक सिद्ध होता है क्योंकि 'ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा' के बीच यही भेद है कि ज्ञानमीमांसा ज्ञान विषयक प्रश्नों का उत्तर देती है, सत्ता या तत्त्व-विषयक प्रश्नों के नहीं, जबकि तत्त्वमीमांसा का क्षेत्र तत्त्व-विषयक प्रश्नों तक निर्धारित कर दिया जाता है।

स्पष्टतः प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय के अनिवार्य स्वीकार करना हमें कुछ तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष का अर्थ 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' स्वीकार करते हुए पाश्चात्य तर्कनिष्ठ भाववादियों द्वारा तत्त्वमीमांसा का निराकरण एक हास्यास्पद विसंगति की रचना करता है।

भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षीकरण के सिद्धांत तथा आधुनिक मनोविज्ञान एवं भौतिकशास्त्र में प्रत्यक्षीकरण के सिद्धांतों की तुलना

भारतीय दर्शन प्रदत्त प्रत्यक्षीकरण की ये व्याख्याएँ आधुनिक मनोविज्ञान व भौतिकशस्त्र या शरीर-क्रिया विज्ञान को अत्यधिक रूढ़िग्रस्त लग सकती हैं। किन्तु, भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्षीकरण की ये व्याख्याएँ कुछ अनुभुत तथ्यों के आधार पर देते हैं। जैसे, नैय्यायिक रात्रि में पशुओं की आँखों की चमक के आधार पर इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते है कि प्रकाश इन्द्रियों में ही होता है और इन्द्रियों का यह प्रकाश सूर्य के प्रकाश की भाँति बाह्य वस्तु तक पहुँचता है।

यद्यपि आधुनिक भौतिकशास्त्र की कसौटी पर ये सभी सिद्धांत अमान्य घोषित कर दिये गए हैं, परन्तु इन सिद्धांतों की अपनी विशेषताएँ भी हैं। आधुनिक मनोविज्ञान एवं शरीरशास्त्र 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग बिना उसके अर्थ निर्धारण एवं सीमा निर्धारण के करते हैं जबकि भारतीय दार्शनिक इस शब्द के अर्थ, परिभाषा एवं सीमा निर्धारण के लिए सचेष्ट है। कहना न होगा कि दर्शन के लिए शब्द का स्पष्टीकरण अत्यन्त ही वांछनीय है।

जहाँ तक इन्द्रियों के कार्य की विवेचना का प्रश्न है भारतीय दार्शनिक इनके कार्य के विश्लेषण की भी चेष्टा करते हैं। दूसरी ओर आधुनिक मनोविज्ञान एवं भौतिकशास्त्री भी इन्द्रियों के कार्य विश्लेषण की चेष्टा करते हैं। इस संबंध में भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रदत्त विश्लेषण यद्यपि आध ुनिक विज्ञान की कसौटी पर कई बार खरे नहीं उतरते किन्तु दोष तो आधुनिक विज्ञान द्वारा दी गई व्याख्याओं में भी है। उन समस्त दोषों की बात इस समय छोड़ दे, तथा मात्र एक दोष की बात करें। दृष्टि-प्रत्यक्ष या वस्तु के दृष्टिगोचर होने की व्याख्या आधुनिक विज्ञान इस प्रकार करता है कि आँखों से प्रकाश किरणे चलकर वस्तु तक पहुँचती हैं। इस प्रकार रेटिना पर वस्तु का बिम्ब बनता है। यह बिम्ब मष्तिष्क तंतुओं को उद्दीप्त करता है। तब मष्तिष्क द्वारा वस्तु का प्रत्यक्षीकरण होता है। अब यह मान ले कि व्यक्ति 'क' को एक एक हाथी के दृष्टिप्रत्यक्ष हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'क' की रेटिना पर बना हुआ हाथी' का बिम्ब' निश्चय ही ज्ञेय वस्तु 'हाथी' से कई गुणा छोटा

होगा क्योंकि स्वयं रेटिना ही हाथी की तुलना में कई गुणा छोटा होता है। प्रश्न यह है कि इस छोटे बिम्ब के द्वारा इस बिम्ब से कई गुणा बड़े हाथी का ज्ञान, उसके दूर या निकट होने का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान के पास नहीं है।

नोट

अब इस प्रश्न की व्याख्या भारतीय दर्शन के संदर्भ में करे कि कैसे अपने से कई गुना बड़े हाथी का प्रत्यक्ष आँख कर लेती है? भारतीय दार्शनिकों को उत्तर है कि प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु अर्थात् हाथी का रूप या आकृति जिस तत्त्व के गुण है (अर्थात् अग्नि) हमारी आँख भी उसी तत्त्व (अर्थात् अग्नि) से निर्मित है, अतएव स्वभावत: द्रव्य एवं उसके गुण का ठीक-ठीकै संयोग होता है तथा हाथी का प्रत्यक्षीकरण आँख के द्वारा उसी के आकार (हाथी के आकार) में होता है, रेटिना के आकार में नहीं होता।

4.6 मन और अन्त:करण

भारतीय मत के अनुसार प्रत्यक्षीकरण में मन की प्रमुख भूमिका होती है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मन के अभाव में प्रत्यक्षीकरण, संभव नहीं है।

प्राय: मनोवैज्ञानिक मन को मानसिक क्रियाओं और अभिवृत्तियों को समुच्चय मात्र समझते है। यह समझा जाता है कि मन वह अमूर्त उपकरण है जिसके माध्यम से बाह्य वस्तुओं तथा आन्तरिक क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण होता है।

भारतीय दर्शन में भी न्याय तथा बौद्ध आधुनिक मनोविज्ञान की भाँति मनस को बाह्य और आन्तरिक प्रत्यक्षीकरण का एक उपकरण मानते है। नैय्यायिद मन तथा आत्मा में भेद करते हैं तथा मन से संबंधित समस्त चेतन क्रियाएँ, यथा स्मृति और तुलना आदि के कार्य, मन नहीं आत्मा द्वारा सम्पन्न समझते हैं। अनात्मवादी बौद्ध, उन समस्त क्रियाओं को, जिन्हें मन की चेतना क्रियाएँ समझा जाता है, बुद्धि की क्रियाओं के रूप में व्याख्यायित करते हैं। लोकायत या चार्वाक मन को मूलत: चौतन्यमय सत्ता नही मानते। लोकायत भौतिकवादी सम्प्रदाय के हैं और वे चेतना को भौतिक पदार्थो का उपोत्पाद मानते है। इस मत के अनुसार मन एक भौतिक वस्तु है। वस्तुत: लोकायत भी पाश्चात्य दार्शनिकों की भाँति मन और आत्मा का भेद नहीं करते, किन्तु पाश्चात्य मत और लोकायत मत में एक बड़ा भेद यह है कि लोकयत मन को नश्वर और भौतिक मानते हैं जबकि पाश्चात्य अध्यात्मवादी 'डपदक' अथवा 'मन' को चेतन और अनश्वर मानते हैं।

विविधि भारतीय दार्शनिकों के मन संबंधी विवेचन में उनकी तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के अनुरूप आधारभूत भेद हैं।

आस्तिक सम्प्रदायों में न्याय, वैशेषिक, भाट्ट मीमांसक, प्रभाकर मीमांसक और सांख्य सभी इस मत के पक्षधर है कि मन एक अन्तन्द्रिय हैं, जो प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। इन दार्शनिकों के अनुसार मन के द्वारा आन्तरिक क्रियाओं जैसे सुख, दुख, घृणा, विद्वेष आदि का साक्षात प्रत्यक्ष होता है।

ये सभी दार्शनिक मन को अचेतन मानते हैं। इस मत की तुलना पाश्चात्य दार्शनिकों के उस मत से की जा सकती है जिसके अनुसार चेतना मन का विशेष गुण है। न्याय मत चेतना को आत्मा का गुण मानता है। वेदान्ती चेतना का तादात्म्य आत्मा से स्थापित करते हैं। न्याय और सांख्य मत के

अनुसार मन पाँच ज्ञानेन्द्रियों यथा चक्षु, नासिका आदि की भाँति ही एक अन्तेन्द्रिय है जिसे निमित्त या उपकरण बना कर आत्मा विषयों का प्रत्यक्ष करती हैं। यद्यपि मन के कार्यो को सीधा अनुभव आन्तरिक प्रत्यक्ष की क्रिया में होता है। बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण में मन की अवियोज्य भूमिका होती है। जैसे बहुधा नेत्र के साथ वस्तु का संपर्क होने पर भी ज्ञाता को उस वस्तु की चेतना तब तक नहीं होती तब तक कि मन (या ध्यान) उस वस्तु की ओर नहीं होता। इसे और अधिक स्पष्ट इस प्रकार किया जा सकता है। मान लें कि एक व्यक्ति कुर्सी पर बैठा है, उसके आस-पास घंटे की ध्वनि हो रही है। जिस क्षण में उसे घंटे के ध्वनि की अनुभूति होती है उस समय उसे कुर्सी के स्पर्श की अनुभूति नहीं होती क्योंकि उस समय उसकी अन्तेन्द्रिय अर्थात् मन उसकी श्रवणेन्द्रिय से सहयोग कर रही होती है। कणाद ने इसी तर्क के आधार पर मन की सत्ता प्रमाणित करने की चेष्टा की है।

सांख्य मन को चेतना का रूप न मानकर जड़ प्रकृति का रूपांतरण मानते हैं। सांख्य विकासवाद में मन को अहंकार का विकसित रूप माना गया है। इस रूप में मन चेतना या आत्मा का विरोधी प्रकृति वाला सिद्ध होता है। वेदान्तियों का मत इन सभी से भिन्न है। वेदान्ती मन और अन्त:करण में भेद करते हैं। वेदान्तियों के अनुसार मन कोई स्वतंत्र वस्तु या स्वतंत्र सत्ता नहीं है। मन अन्त:करण की कार्य पद्धति का एक अंश है। वेदान्त परिभाषा के अनुसार मन कोई इन्द्रिय नही। वेदान्त मत के अनुसार मन न तो अदृश्य है न अति सूक्ष्म है।

विवरणप्रमेयसंग्रह में मन और अन्त:करण के बीच भेद बतलाते हुए कहा गया है कि अन्त:करण के चार कार्य या चार पक्ष हैंख़्मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। इनमें मन अन्त:करण की उस स्थिति को प्रस्तुत करता है जिसमें अन्त:करण विषय से अवगत होता है परन्तु विषय से संबंधित कोई निश्चय अन्त:करण में नहीं होता, बुद्धि अन्त:करण के उस पक्ष को प्रस्तुत करती है जब अन्त:करण निर्णय की स्थिति में होता है, यथा-'यह घट है'। अहंकार अन्त:करण के उस पक्ष को प्रस्तुत करता है जब अन्त:करण 'अहम' अर्थात् 'मैं' से संबंधित निर्णयों से जुड़ता है यथा 'मैं प्रसन्न हूँ। चित्त अन्त:करण की स्मरण करने की स्थिति को प्रकट करता है जैसे विगत अथवा भूतकाल की घटनाओं की स्मृति। किन्तु पंचदशी में अन्त:करण की मात्र दो अवस्थाओं का ही वर्णन हैं-(क) मन, और (ख) बुद्धि या विज्ञान। वेदान्त परिभाषा में भी अन्त:करण की दो वृत्तियों का वर्णन मिलता है-मन और धी अथवा बुद्धि। यहाँ मन में चित्त को तथा बुद्धि में अहंकार को समाहित कर दिया गया। वेदान्त सार में भी अन्त:करण के दो पक्षों की ही बात की गई है। यहाँ अहंकार को मन से तथा चित्त को बुद्धि से जोड़ा गया है।

न्याय मत के अनुसार मन एक पृथक इन्द्रिय द्रव्य है। सांख्य मत भी मन के इन्द्रियत्व का समर्थन करता है। सांख्य के मतानुसार मन प्रकृति का रूपान्तरण है जो अन्य भौतिक पदार्थों की भाँति ही पूर्णत: चेतना से भिन्न है। न्याय मत भी मन को भौतिक द्रव्य ही मानता है। किन्तु वेदान्त मत के अनुसार एक मात्र सत्ता आत्मा की है। अज्ञान के कारण इसी अनादि अनन्त आत्मा का अध्यास अन्त:करण के रूप में होता है। इस प्रकार तत्त्वत: अन्त:करण चौतन्य स्वरूप है। यह स्वत: प्रामाण्य एवं स्वयं प्रकाश्य है।

वेदान्त मत यद्यपि मन और अन्त:करण में भेद करता है किन्तु वेदान्ती अन्त:करण के जिन कार्यो

का उल्लेख करते हैं लगभग वही सारे कार्य सांख्य और न्याय मत के अनुसार मन के हैं। तब, वेदान्त के अन्तःकरण और अन्य दार्शनिकों के 'मन' के कार्यों में एक स्पष्ट भेद यह है कि जहाँ अन्य मत सविकल्पक ज्ञान, स्मृति आदि को आत्मा का कार्य मानते हैं वहाँ वेदान्ती इसे आत्मा और अन्तःकरण का अध्यास मानते हैं। वेदान्त और अन्य मतों का भेद मन की सत्ता के लिए दिए गए उनके प्रमाणों के द्वारा भी स्पष्ट होता है। वेदान्त के अतिरिक्त अन्य मत जहाँ मन के अस्तित्व को अनुमान से प्रमाणित करते है वहाँ वेदान्त मत के अनुसार मन का साक्षात प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र में मन को प्रमाणित करने के लिए वैसा ही तर्क दिया गया है जैसा कि कणाद देते हैं किन्तु रत्नप्रभा के लेखक गोविन्दानन्द ने ब्रह्मसूत्र के शंकरभाष्य की टीका करते हुए यह कहा है कि अन्तःकरण का ज्ञान प्रत्यक्ष से भी होता है तथा उसका प्रमाण श्रुति या उपनिषद् भी है, किन्तु जो लोग अन्तःकरण का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते एवं श्रुति को प्रमाण की कोटि में नहीं रखते, उनके लिए अन्तःकरण अनुमेय (अनुमान द्वारा प्रमाणित) भी है।

वेदान्त तथा अन्य मतों में एक भेद यह भी है कि जहाँ अन्य मत मन को इन्द्रिय समझते हैं वहाँ वेदान्त मत के अनुसार मन को इन्द्रिय समझना भी भूल है। मन इन्द्रिय नहीं। वेदान्ती एक शाश्वत आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं। यह आत्मा ज्ञाता भी है, किन्तु अन्तःकरण आत्मा के ज्ञान का माध्यम या निमित्त कारण नहीं है। उपनिषेदों में ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं जो मन से इन्द्रियों की भिन्नता के संबंध में उनके विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है–इन्द्रियों के ऊपर वे मूल तत्त्व हैं जिनसे इन्द्रियाँ बनी है तथा इन तथ्यों के भी ऊपर मन है। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है इससे (प्राण से) मन और इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

दूसरी ओर मनुसंहिता में मन को ग्यारह इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन) में सम्मिलित किया गया है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए कहा कि यद्यपि सूत्रों के अनुसार मन इन्द्रिय नहीं है परन्तु स्मृति के अनुसार यह इन्द्रिय है।

शंकराचार्य ने मन इन्द्रिय है अथवा नहीं, इस विषय पर अपना निर्णायक मत प्रकट नहीं किया है। वेदान्त परिभाषा में इस बात पर बल दिया गया है कि मन तथा अन्तःकरण को इन्द्रियों की कोटि में नहीं रखा जाना चाहिए। विवरण प्रमेय संग्रह में भी इस बात पर बल दिया गया है कि मन तथा अन्तःकरण इन्द्रिय नहीं।

4.7 प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण की भूमिका

वेदान्त मतानुसार प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में अन्तःकरण इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु तक पहुँचता है। वस्तु के सम्पर्क में आकर अन्तःकरण वस्तु का रूप धर लेता है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार एक नालिका से प्रविष्ट होता हुआ जल घट में पहुँचकर घट की आकृति का हो जाता है। वेदान्त मतानुसार प्रत्यक्षीकरण के प्रत्येक उदाहरण में आत्मा और अन्तःकरण परस्पर इस प्रकार संयुक्त हो जाते है जिस प्रकार रक्त-तप्त (तपकर लाल हुए) लौह में अग्नि और लौह परस्पर संयुक्त होते हैं। जब अन्तःकरण वस्तु के पास पहुँचकर वस्तु का रूप धरता है तब अन्तःकरण के उस रूपान्तरण अथवा विकार के 'वृत्ति' की संज्ञा दी जाती है। चित् इन सभी परिवर्तनों में साक्षी का कार्य करता है। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में अन्तःकरण आत्मा के प्रकाश से युक्त होता है। इस प्रकार ज्ञान अथवा

प्रत्यक्षजन्य ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता हैं और प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया सम्पूर्ण होती है।

वेदान्तोक्त प्रत्यक्षीकरण की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं- (क) अन्तःकरण का वस्तु तक प्रवाहित होना, (ख) अन्तःकरण द्वारा वस्तु का रूप धारण कर लेना, (ग) अन्तःकरण वृत्ति और इसकी विषय वस्तु को आत्मा से संबंध, या प्रत्यक्षीकरण में आत्मा की भूमिका।

नोट

(क) अन्तःकरण का वस्तु तक प्रवाहित होना - वेदान्त यह कहता है कि प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण वस्तु तक जाता है। प्रश्न है अन्तःकरण वस्तु तक कैसे जाता है? वेदान्त मतानुसार प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में अन्तःकरण इन्द्रियों के माध्यम से उसी प्रकार प्रवाहित होकर वस्तु तक पहुँचता है जैसे नालिका में जल प्रवाहित होकर घट तक पहुँचता है। यहाँ ज्ञातव्य यह तथ्य है कि यहाँ अन्तःकरण की तुलना जल से की गई है तथा अन्तःकरण के प्रवाहित होने को उपमा के द्व ारा; समझाया गया है न कि तर्क के द्वारा जबकि दर्शन में तर्क की प्रतिष्ठा है उपमा की नहीं।

इस आपत्ति के उत्तर में वेदान्त मत के समर्थक यह कहते हैं कि जल और अन्तःकरण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, अतएव यह उपमा नहीं तर्क ही है।

साधारणतः द्वैतवादी या अनेकवादी मतों में अन्तःकरण और जल को प्रकृतितः या तत्त्वततः दो प्रकार की वस्तुओं के रूप में स्वीकारा गया है। पाश्चात्य दर्शन में देकार्त जल को जड़ पदार्थ की श्रेणी में रखते हैं तथा मन (अन्तःकरण) को चेतन पदार्थ की श्रेणी में। किन्तु देकार्त इन्हें सर्वथा असंबद्ध नहीं मानते। मन-शरीर के संबंध की व्याख्या करते हुए अपने समानांन्तरवाद में देकार्त ने यह स्वीकार किया है कि मन और शरीर, जड़ और चेतन की क्रियाएँ परस्पर समानान्तर तथा परस्पर एक ही प्रकार की होती है। इस प्रकार द्वैतवादी मत को भी ध्यान में रखें तो यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि जिस प्रकार जल प्रवाहित होता है उसी प्रकार अन्तःकरण भी प्रवाहित होता है। उसी प्रकार पाश्चत्य दार्शनिक रसेल, जो विश्व को असंख्य तार्किक अणुओं की एक संरचना मानते हैं, उनके अनुसार भी ये सभी तार्किक अणु मूलतः तटस्थ प्रकृति के हैं तथा इनके परस्पर विभिन्न प्रकार के संबंधों के कारण हमें जड़ और चेतन का द्वैत दिखता है, वस्तुओं के स्वरूप की भिन्नता दिखती है। अगर रसेल की इस व्याख्या को स्वीकारें तो भी यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि अगर जल नालिका में प्रवाहित हो सकता है तो अन्तःकरण भी प्रवाहित हो सकता है।

किन्तु, अगर यह मान लें कि पाश्चात्य मतों के इस प्रकाश में अन्तःकरण के प्रवाहित होने की व्याख्या की जा सकती है तो भी एक प्रश्न यह उठता ही है कि प्रत्यक्षीकरण के लिए अन्तःकरण के वस्तु तक जाने की आवश्यकता ही क्या है? पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में वस्तु के प्रत्यक्षीकरण की मूलतः दो प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं-वास्तववादी व्याख्या एवं प्रत्ययवादी व्याख्या। लॉक के वास्तववाद को ध्यान में रखें तो मन प्रत्यक्षीकरण में बिल्कुल निष्क्रिय रहता है तथा इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त संवेदनाओं को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लेता है। अतएव प्रत्यक्षीकरण की इस प्रकार की व्याख्या के लिए मन के वस्तु तक जाने की आवश्यकता नहीं। रसेल का यथार्थवाद भी प्रत्यक्षीकरण के लिए भी मन को निष्क्रिय बिन्दु तथा वस्तु को सक्रिय बिन्दु की तरह स्वीकार करता है। स्पष्टतः इस प्रकार की व्याख्या के लिए भी मन या अन्तःकरण को वस्तु तक जाने की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्षीकरण की प्रत्ययवादी व्याख्या के लिए भी पाश्चात्य दार्शनिक मन को वस्तु तक प्रवाहित होने की आवश्यकता नहीं मानते, यद्यपि प्रत्ययवादी ज्ञान में मन की संयुक्त और निरपेक्ष भूमिका को स्वीकार करते हैं।

वेदान्ती भी प्रत्ययवाद के ही समर्थक हैं। उनके मतानुसार यद्यपि तात्विक दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय का अद्वैत ही सिद्ध है तथापि व्यवहारिक दृष्टि या अपर दृष्टि से बाह्य वस्तु अन्तःकरण से भिन्न है। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में मन सक्रिय रहता है और यह सक्रियता इन्द्रियों के साथ जुड़कर ज्ञान की विषय-वस्तु को ग्रहण करने से प्रारंभ होकर उसे समायोजित करने तथा अर्थ देने आदि तक में चलती रहती है। शब्दान्तर से, प्रत्यक्षीकरण का कोई भी चरण बिना अन्तःकरण की सक्रियता के सम्पन्न नहीं होता। यही कारण है कि प्रत्यक्षीकरण के लिए अन्तःकरण को इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु तक प्रवाहित होना पड़ता है।

कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण की भूमिका का प्रारंभ वस्तु और इन्द्रिय के संसर्ग के पश्चात् ही होता है। यह मत आधुनिक मनोविज्ञान की प्रत्यक्षीकरण की उस व्याख्या पर आधारित है जिसके अनुसार प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में प्रथमतः इन्द्रिय से संवेद्य का संपर्क होता है फलतः स्नायु तन्तु उत्तेजित होकर मष्तिष्क तक संदेश पहुँचाते हैं, तब मष्तिष्क वस्तु का प्रत्यक्ष करता हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि आधुनिक मनोविज्ञान प्रदत्त प्रत्यक्षीकरण की इस व्याख्या की आलोचना भी आधुनिक मनोविज्ञान ही करता है। इस व्याख्या के समक्ष सदा से कठिन प्रश्न यह है कि कब और कैसे स्थूल दैहिक प्रक्रिया विचार का रूप धर लेती है?

(ख) अन्तःकरण का वस्तु का रूप लेना - वेदान्त मतानुसार प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण वृत्ति (अन्तःकरण का रूपान्तरण या विकार) वस्तु का रूप धर लेती है। यह मत आधुनिक मनोविज्ञान के गेस्टाल्टवादी मत के समकक्ष रखा जा सकता है। गेस्टाल्टवादी यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में मस्तिष्क को वस्तु का प्रत्यक्ष संपूर्णता के साथ होता है न कि छोटे-छोटे टुकड़ों में (जैसा कि लॉक आदि मानते हैं कि मस्तिष्क संवेदन के छोटे-छोटे अंशों को जोड़कर एक सम्पूर्ण वस्तु की रचना करता है)। इसी प्रकार वेदान्त मत के अनुसार भी अन्तःकरण वस्तु का रूप धरता है अतः वस्तु का प्रत्यक्ष सम्पूर्णता के साथ होता है न कि छोटे-छोटे टुकड़ों में।

किन्तु यहाँ गेस्टाल्टवादी मत तथा वेदान्त मत में एक भेद भी है। वेदान मत में जहाँ अन्तःकरण वृत्ति को मन और वस्तु के बीच की प्रक्रिया का परिणाम माना जाता है वहाँ गेस्टाल्टवादी 'गेस्टाल्ट' (प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु) को इस प्रकार की अन्तःक्रिया के परिणाम के रूप में स्वीकार नहीं करते।

पाश्चात्य दर्शन प्रतिमा की जिस प्रकार की व्याख्या करता है उसके आधार पर भी यह समझा जा सकता है कि किस प्रकार अन्तःकरण वृत्ति वस्तु का रूप धरती है। पाश्चात्य जगत में कुछ दार्शनिक जैसे अलेक्जेण्डर, रसेल आदि प्रतिमा को भौतिक स्वीकार करते हैं क्योंकि प्रतिमा एक आकृति होती है तथा यह देशकाल में स्थान ग्रहण करती है। शब्दान्तर से, इस मत के अनुसार प्रतिमा में अनेक ऐसे गुण हैं जो भौतिक वस्तुओं के है। अतएव, प्रतिमा भौतिक है। किन्तु पाश्चात्य जगत में प्रतिमा के संबंध में एक दूसरा मत भी है जिनके अनुसार प्रतिमा मानसिक है क्याकि प्रतिमा में मानसिक वस्तुओं के गुण हैं। इस मत के अनुसार प्रतिमा जिस देशकाल में होती है तथा भौतिक वस्तु जिस देशकाल में होती है, उन दोनों के देशकाल में भेद है क्योंकि प्रतिमा का देशकाल व्यक्तिगत होता है जबकि भौतिक वस्तुओं का देशकाल सार्वजनिक होता है। इस प्रकार प्रतिमा को मानसिक या विषयिनिष्ठ कहने वाले अनेक तत्त्वों के आधार पर उसे मानसिक प्रमाणित करते हैं जबकि दूसरे मत

के समर्थक अपने तर्क के आधार पर उसे भौतिक और वस्तुनिष्ठ प्रमाणित करते हैं।

इन दोनों तर्को से कम-से-कम इतना जरूर सिद्ध होता है कि प्रतिमा न तो पूर्णतः मानसिक है और न ही पूर्णतः अमानसिक, बल्कि यह इन दोनों के बीच की सत्ता है। वेदान्ती जिस अन्तःकरण वृत्ति की बात करते हैं वह भी इस प्रकार की एक सत्ता है जो विशुद्ध चेतना और वस्तु के बीच एक सेतु का कार्य करती है। चेतना प्रवाहित होकर वस्तु की आकृति को ग्रहण करती है (जिसे अन्तःकरण-वृत्ति कहा जाता है)। इस प्रकार विषयि और विषय का संबंध होता है तथा ज्ञान प्राप्त होता है।

नोट

अब तक के समस्त विवेचन से प्रत्यक्षीकरण या अन्तःकरण के दो कार्य स्पष्ट हुए। अन्तःकरण का वस्तु तक प्रवाहित होना तथा अन्तःकरण द्वारा वस्तु का रूप धरना। इसके अतिरिक्त अन्तःकरण के अन्य कार्य भी है तथा कल्पना, निर्णय, प्रत्ययों का निर्माण आदि। ।

(ग) अन्तःकरण वृत्ति और इसकी विषय-वस्तु से आत्मा का संबंध आवि प्रत्यक्षीकरण में आत्मा की भूमिका- प्रत्यक्षीकरण की क्रिया ज्ञाता और ज्ञेय के बीच संबंध स्थापित होने पर ही सम्पन्न होती है। प्रश्न है ज्ञाता और ज्ञेय के बीच के संबंध का स्वरूप क्या है?

इस संबंध के स्वरूप निर्धारण के लिए ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के स्वरूप पर ध्यान देना होगा। विभिन्न वेदान्तियों ने ज्ञाता और ज्ञेय के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा की है। मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती और अप्पय दीक्षित ने इन सभी वर्णनों को तीन कोटियों में आबद्ध किया है। प्रथम कोटि के विचारकों के अनुसार ज्ञाता अर्थात् व्यक्तिगत आत्मा समीम और सान्त है। यह न तो सर्वव्यापी है और न तो विश्व का उपादान हो। दूसरी कोटि के दार्शनिक वे हैं जिनके अनुसार आत्मा सर्वव्यापी तो है पर विश्व का उपादान का कारण नहीं। तीसरी कोटि के दार्शनिकों के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी भी है और विश्व का उपादान कारण भी है।

यहाँ हमें आत्मा के संदर्भ में सर्वव्यापकता, असीमता, सीमता के संप्रत्ययों को ठीक-ठीक समझ लेना होगा। आत्मा के संदर्भ में ससीमता, असीमता, व्यापकता आदि संप्रत्यय स्थान संबंधी नहीं होते। आत्मा को 'सर्वज्ञ' कहने का अर्थ यह है कि आत्मा का विरोधी 'अनात्म जैसा कुछ नहीं है। इसी प्रकार आत्मा को 'असीम' कहने का ज्ञानमीमांसीय अर्थ यह कि आत्मा सर्वज्ञ ही नहीं है, शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही नहीं है वरन् अज्ञान भी इसमें युक्त है।

वेदान्त मत आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत मानता है। वेदान्त मतानुसार माया के कारण असीम, अनन्त, बह्म जीव या अहम् के रूप में भासित होता है। प्रश्न यह है कि इस अभासिक अज्ञान, बंधन या ससीमता का स्वरूप और सीमा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अहम् या जीव या बंधनयुक्त आत्मा के स्वरूप के विवेचन से स्पष्ट होगा।

जीव या बंधनयुक्त आत्मा के विश्लेषण से पहली बात जो सर्वाधिक स्पष्ट है कि वह यह कि बंधनयुक्त आत्मा अनेक वस्तुओं में से एक है, अर्थात इस जीव या अहम् के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी है। 'अहम्' और 'इदम्' सापेक्ष पद हैं। 'अहम्' का होना ही 'इदम्' के होने का और 'इदम् का होना 'अहम्' की सापेक्षता एवं ससीमता का प्रमाण है।

यहाँ ध्यातव्य है कि अहम् और 'इदम्' की सापेक्षता दैशिक एवं कालिक नहीं है। 'लोटा-डोरी' सापेक्ष पद हैं और उनकी सापेक्षता दैशिक एवं कालिक है। यह लोटा है तथा यह डोरी नहीं है' या 'यह लोटा है और यह डोरी है-इस प्रकार के निर्णयों में लोटा और डोरी दोनों ही सविकल्पक ज्ञान की

नोट

विषय-वस्तु होते हैं परन्तु 'अहम्' और 'इदम्' के संबंध में दिए निर्णयों में 'इदम' तो ज्ञात होता है पर 'अहम्' सविकल्पक ज्ञान की विषय-वस्तु नहीं होता। इसे एक उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है। शरीर और आत्मा का संबंध इस प्रकार है कि शरीर के संबंध में यह कहा जाता है कि यह (शरीर) आत्मा नहीं है। यहाँ शरीर' (यह) सविकल्पक ज्ञान की विषय-वस्तु है और दूसरी ओर आत्मा सविकल्पक ज्ञान की वस्तु नहीं। चूंकि 'अहम्' और 'इदम्' का संबंध दैशिक एवं कालिक नहीं होता, अत: 'इदम्' की उपस्थिति 'अहम्' की असीमता में बाधा उत्पन्न नहीं करती। वस्तुत: 'आत्मा' और 'इदम्' के भेद का आधार ही यह है कि आत्मा असीम है। और अन्य वस्तुएँ (इदम्) ससीम। इस प्रकार जीवात्मा ससीम है।

जीवात्मा की असीमता के खंडन के लिए प्राय: यह तर्क दिया जाता है कि व्यावहारिक जीवन में हम 'मैं' और 'तुम' में भेद करते हैं। यह भेद इस बात का द्योतक है कि 'मैं' एक अलग जीवात्मा है तथा 'तुम' एक अलग तथा दोनों ही सापेक्ष है और एक-दूसरे को सीमित करते हैं। किन्तु इस तर्क के विरोध में भी यह कहा जाता है कि मैं और 'तुम' की सापेक्षता दैशिक सापेक्षता नहीं है। अतएव 'तुम' 'मैं' को सीमित नहीं करता। इस मत के अनुसार वस्तुत: 'मैं' और 'तुम' का भेद प्रतिभासिक है। जैसे कि एक ही सूर्य विभिन्न दर्पणों में प्रतिबिम्बित होकर कई दिखता है उसी प्रकार एक ही आत्मा के कई आभास या बिम्ब "मैं" "तुम' और 'वह' आदि हैं। दूसरों के मन के अस्तित्त्व का ज्ञान या 'तुम' का ज्ञान भी 'मैं' और 'तुम' के इसी अभेद के कारण ही होता है।

इस प्रकार दूसरे मत के समर्थक यह प्रमाणित करते हैं कि जीवात्मा सर्वव्यापी है। किन्तु उसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि 'मैं' 'तुम' की उत्पत्ति का उपादान कारण नहीं, अर्थात् जीवात्मा सर्वव्यापी तो है पर विश्व का उपादान कारण नहीं।

तीसरा मत इस दूसरे मत से भी एक कदम आगे है। इस मत के अनुसार ज्ञात आत्मा न मात्र सर्वव्यापी और असीम हैं वरन् ज्ञेय जगत एवं वस्तुजगत का कारण भी है, इसका आधार भी है। ज्ञाता ज्ञेय पर आधारित नहीं, पर ज्ञेय पूर्णत: ज्ञाता सापेक्ष है। ज्ञाता से स्वतंत्र ज्ञेय की सत्ता नहीं।

ऊपर हमने ज्ञाता के स्वरूप से संबंधित वेदान्त के तीन प्रतिनिधि मतों को देखा। अब ज्ञाता के स्वरूप के इसी प्रकाश में हम ज्ञाता और ज्ञेय के संबंध को एवं प्रत्याक्षीकरण में आत्मा की भूमिका को समझने की चेष्टा करेंगे। ये तीनों मत आत्मा अर्थात् ज्ञाता के स्वरूप के संबंध में विभिन्न ध ारणाओं के पोषक हैं अतएव वे ज्ञाता-ज्ञेय संबंधवाट की भी पृथक-पृथक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम मत के अनुसार ज्ञाता ससीम है एवं बाह्य विश्व की सत्ता भी इससे स्वतंत्र है। प्रत्यक्षीकरण में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच जो संबंध स्थापित होता है वह संबंध इस क्षण में बिल्कुल नवीन होता है, अर्थात् यह संबंध प्रत्यक्षीकरण के पूर्व ज्ञाता और ज्ञेय के बीच अस्तित्त्ववान नहीं होता। यह संबंध अन्त:करण के माध्यम से स्थापित होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदान्त तत्त्वमीमांसा के अनुसार सभी ससीम सत्ताएँ आभासिक हैं, परमार्थ नहीं। इस दृष्टि से ज्ञाता अर्थात् ससीम आत्मा और ससीम वस्तुएँ दोनों ही असीम ब्रह्म का प्रतिभास मात्र हैं। अत: इसी मत के अनुसार ज्ञान में जब वस्तु प्रकाशित होती है तो यह प्रकाश ज्ञाता से वस्तु पर नहीं पड़ता वरन् ब्रह्म के प्रकाश से ही वस्तु प्रकाशित होकर ज्ञात होती है। शब्दान्तर से, ज्ञाता को वस्तु का प्रत्यक्ष ब्रह्म के प्रकाश के कारण होता है। यहाँ प्रश्न यह है कि जब एक ही ब्रह्म ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को प्रकाशित करता

है और तत्त्वत: जब ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न है तब ब्रह्म के प्रकाश के कारण ज्ञाता और ज्ञेय का भेद कैसे दिखता है? पुन: व्यवहार जगत में हम कुर्सी और मेज में भेद करते हैं। प्रश्न है कि कुर्सी और मेज यदि तत्त्वत: एक ही हैं तथा इनको प्रकाशित करने वाला प्रकाश भी वही है तो फिर उनमें भेद कैसे परिलक्षित होता है? इन प्रश्नों के उत्तर में इस मत के समर्थक कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय का भेद इसलिए परिलक्षित होता है कि ज्ञाता और ज्ञेय एक ही सत्ता के विकार तो हैं पर ये विकार विभिन्न प्रकार के है। प्रत्यक्षीकरण में जब अन्त:करण इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु तक प्रवाहित होकर वस्तु का रूप धरता है तो उस समय ज्ञाता और ज्ञेय में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से इन वस्तुओं के बीच अभेद होते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत है और ज्ञाता और ज्ञेय के बीच के संबंध के कारण ही ज्ञान सम्पन्न होता है। इस मत के अनुसार तत्त्वत: विभिन्न वस्तुएँ एक ही है तथा अज्ञान के कारण इनके बीच जो विकार होता है वह विकार विभिन्न प्रकार का होता है। फलत: व्यवहारिक दृष्टि से मेज और कुर्सी का, धट और पट का भेद परिलक्षित होता है। वेदान्त परिभाषा में प्रत्यक्ष संबंधी इसी मत का उल्लेख है।

दूसरे मत के अनुसार व्यैक्तिक आत्मा ससीम नहीं है, यह सार्वभौम है। किन्तु यहाँ आत्मा को 'सार्वभौम' कहने का अर्थ यह नहीं है कि सभी वस्तुएँ देशकाल आदि इस व्यक्तिगत आत्मा में ही सन्निहित हैं। जैसे 'गौवत्व' सार्वभौम है किन्तु इस सार्वभौमता का अर्थ मात्र इतना ही है कि इसके अन्तर्गत सभी प्राणियों का समावेश होता है, उसी प्रकार आत्मा को 'सार्वभौम' कहने का भी अर्थ यही है कि अन्त:करण के माध्यम से जिन वस्तुओं का बोध आत्मा को होता है वे सभी वस्तुएँ आत्मा में ही समाविष्ट होती हैं। इस अर्थ में आत्मा की सार्वभौमता की एक अन्य व्याख्या भी की जा सकती है। वह व्याख्या इस प्रकार है–आत्मा सभी वस्तुओं से सदैव भावात्मक या निषेधात्मक रूप में परिचित होती है। यह उन वस्तुओं से भी परिचित होती है जो साक्षात रूप में इनके समक्ष नहीं आतीं। जो वस्तुएँ साक्षात रूप में इसके समक्ष आती है उनके ज्ञान की बात तो स्पष्ट है, किन्तु जो वस्तुएँ साक्षात रूप इसके सामने नहीं आती उनका ज्ञान भी आत्मा को हैख्इसके लिए वेदान्ती प्रमाण देते हैं कि जब कोई वस्तु पहली बार ज्ञाता के सामने आती है तो ज्ञाता को स्मरण होता है कि वह इसके पूर्व इस वस्तु के बारे में नहीं जानता था। ज्ञाता की यह स्मृति, वेदान्त मतानुसार, इस बात का प्रमाण है कि उन क्षणों में भी, जब वस्तु ज्ञाता के समक्ष उपस्थित नहीं थी, ज्ञाता को इसके नहीं होने का ज्ञान था। यही इस बात का प्रमाण है कि जब वस्तु ज्ञाता के समक्ष उपस्थित नहीं रहती है तब भी ज्ञाता को उसकी चेतना रहती है। इस प्रकार ज्ञाता को सदैव वस्तुओं के ज्ञात या अज्ञात होने की चेतना रहती है, या वस्तुएँ सदैव ज्ञात-अज्ञात के रूप में ज्ञाता की चेतना के द्व ारा प्रकाशित होती हैं। इसी अर्थ में व्यैक्तिक आत्मा सार्वभौम है।

इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष में अन्त:करण इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु तक प्रवाहित होकर वस्तु का रूप लेता है। इस प्रक्रिया में आत्मा अन्त:करण से संयुक्त होती है। इस प्रकार आत्मा या ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर एकसूत्रबद्ध होते हैं। इस मत का समर्थन विवरण प्रमेयसंग्रह में मिलता है। तीसरे प्रकार के विचारकों के अनुसार व्यैक्तिक आत्मा असीम है और विश्व की । समस्त वस्तुओं का आधार है। इस प्रकार इस मत के अनुसार ज्ञेय ज्ञाता सापेक्ष है, ज्ञाता पर आश्रित है। प्रश्न है अगर ज्ञेय ज्ञाता पर आश्रित है तो सदैव सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? इसका उत्तर वेदान्ती इस प्रकार देते हैं कि मन में सभी प्रकार के प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों में आपस में निरन्तर विचारों के केन्द्र में

आने के लिए संघर्ष होता रहता है। इसी प्रकार आत्मा में कुछ ऐसी शक्तियाँ भी हैं जो इन प्रत्ययों को छुपाती हैं या विचारों को प्रकाश-केन्द्र में आने से रोकती हैं। यही शक्तियाँ अज्ञान का अधकार पैदा करती हैं। इसी प्रकार सभी तथाकथित बाह्य वस्तुएँ भी आत्मा में है और इन्हीं शक्तियों के कारण सदैव प्रत्यक्षगोचर नहीं होती। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में अन्त:करण इन शक्तियों के द्वारा वस्तु को अज्ञान के अंधकार से हटा कर प्रकाश के केन्द्र में ले आता है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण की क्रिया सम्पन्न होती है।

इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण में ज्ञाता और ज्ञेय के संबंध को स्पष्ट करने वाले ये तीन प्रकार के मत वेदान्त में मिलते हैं। इन तीनों मतों की अपनी कठिनाइयाँ और विशेषताएँ दोनों हीं हैं। अनुभववादी दृष्टिकोण से इन तीनों सिद्धांतों को सामान्य प्राकल्पना की संज्ञा दी जा सकती है।

इन तीनों मतों में भेद के बावजूद इनमें अनेक बिन्दुओं पर साम्य भी हैं। इन समानताओं को इस प्रकार देखा जा सकता है-जीव अथवा व्यैक्तिक आत्मा के संबंध में वेदान्तियों के मत में चाहे जितनी विभिन्नताएँ हों; सभी वेदान्ती एक बिन्दु पर परस्पर सहमत हैं कि प्रत्यक्ष में चेतना 'साक्षी की भूमिका' का निर्वहन करती है। चेतना को यहाँ 'साक्षी' की संज्ञा इसलिए दी जाती है कि चेतना प्रत्यक्ष में किसी सक्रिय भूमिका का निर्वहन नहीं करती वरन् द्रष्टा भाव से प्रत्यक्ष की समस्त प्रक्रिया को और इस क्रम में होने वाले परिवर्तनों को देखती है।

इस भाँति प्रत्यक्ष में अन्त:करण की भूमिका को लेकर भी इन सिद्धांतों में परस्पर समानता देखने को मिलती है। इन सभी सिद्धांतों में परस्पर सहमति इस बात पर है कि प्रत्यक्ष में अन्त:करण वस्त का रूप धरता है। यहाँ चेतना अथवा चित् या विशुद्ध आत्मा या ज्ञाता मूक, निष्क्रिय द्रष्टा मात्र होता है और वस्तु या ज्ञेय एक अध्यास या पारमार्थिक रूप में भ्रम मात्र। अब प्रत्यक्ष में ज्ञाता अथवा चित्त या आत्मा एवं ज्ञेय की भूमिका को लेकर ये जो बिन्दु हमारे सामने आए, इनकी समीक्षा भी अपेक्षित है।

पाश्चात्य विचारधारा को ध्यान में रखें तो पाश्चात्य दार्शनिक 'चेतना' को लेकर कुछ प्रश्न उठाते हैं। विकासवाद मानव जीवन, या उस प्राणी जिसे 'मानव' की संज्ञा दी जाती है, की व्याख्या मात्र एक अत्यधिक विकसित जैविक संरचना के रूप में करता है। इस विचारधारा के अनुसार मानव और प्रोटोजोवा में कोई मौलिक भेद नहीं, वरन् ये दोनों ही विकास के उच्चतम और निम्नतम सोपान हैं। वेदान्त भी प्रोटोजोवा और मानव में तात्त्विक भेद स्वीकार नहीं करता क्योंकि उस मत के अनुसार भी ये सभी ब्रह्म के अध्यास-मात्र हैं। किन्तु वेदान्त और आधुनिक विकासवाद में भेद यह है कि वेदान्त मूल रूप में जिस ब्रह्म या चिरतंन विशुद्ध चौतन्य स्वरूप आत्मा (सच्चिदानन्द) की महत्ता स्वीकार करता है, विकासवाद अपने विकास क्रम में उसे कोई स्थान प्रदान नहीं करता। वास्तववादी रसेल और व्यवहारवादी जेम्स भी जड़ और चेतन में कोई मौलिक भेद नहीं मानते वरन् इनके मत के अनुसार दोनों ही एक नि:स्वभाव तत्व के विभिन्न रूप हैं। वेदान्ती भी ब्रह्म को निर्गुण और नि:स्वभाव ही कहते हैं तथा कहते हैं कि जड़ और चेतन। इस ब्रह्म के ही परिवर्तित रूप हैं। किन्तु, वेदान्तियों और पाश्चात्य मत में यहाँ भी अन्तर है। वेदान्तियों के विशुद्ध चौतन्य स्वरूप 'ब्रह्म' की धारणा तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के नि:स्वभाव तत्त्व की धारणा में भेद हैं। वास्तववादी नि:स्वभाव तत्त्व का न तो स्वरूप निरूपण ही करते हैं और न यह बतला पाने में ही सफल हो पाते हैं कि

क्यों एक ही प्रकार का तत्त्व विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता है? इसके परस्पर संबंधों में भेद का कारण क्या है? जेम्स इस 'निःस्वभाव तत्त्व' का निरूपण 'विशुद्ध अनुभव के रूप में करते हैं। किन्तु जब जेम्स इस 'विशु अनुभव' का स्वरूप निरूपण करने लगते हैं तो वे प्रत्ययवाद के पक्षधर प्रतीत होने लगत हैं। तब वहाँ वेदान्त तथा जेम्स के मत में कोई विशेष भेद नहीं दिखता।

नोट

4.8 प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु

'प्रत्यक्ष' के दो प्रयोग

'प्रत्यक्ष' पद के दो प्रकार के प्रयोग किए जाते हैं- (क) विषय के संदर्भ में (ख) विषय के ज्ञान के संदर्भ में। जब 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग विषय के संदर्भ में किया जाता है तो इसे विषयगत प्रत्यक्ष कहते हैं। वेदान्त के अनुसार विषयगत प्रत्यक्ष मात्र ही संभव होता है जबकि अन्तःकरण इन्द्रिय के माध्यम से वस्तु तक प्रवाहित होकर वस्तु रूप धरता है। वेदान्त के इस मत से स्पष्ट है कि जब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तो अन्तःकरण वस्तु का रूप यथा 'घट' का रूप (आकृति) आदि ग्रहण कर लेता है अर्थात् वस्तुगत प्रत्यक्ष में वस्तु और उसके गुणों का प्रत्यक्ष एक साथ, एक इकाई के रूप में होता है। 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग जब वस्तु के ज्ञान के संदर्भ में किया जाता है तो ज्ञानगत प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी जाती है। ज्ञानगत प्रत्यक्ष की यह विशेषता है कि यह सदैव साक्षात होता है। यहाँ 'प्रत्यक्ष' ज्ञान' को एक विशेष अर्थ में साक्षात ज्ञान' की संज्ञा दी जा रही है। प्रत्यक्ष ज्ञान' को 'साक्षात ज्ञान' कहने का अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी वस्तु 'क' के ज्ञान के लिए किसी अन्य वस्तु 'ख' के ज्ञान को आधार रूप में व्यवहृत नहीं किया जाता है। इसी अर्थ में प्रत्यक्ष ज्ञान 'साक्षात' तथा अनुमान 'असाक्षात' ज्ञान है।

प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु

प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु क्या है? अथवा किस वस्तु को प्रत्यक्ष या साक्षात रूप में जाना जाता है? प्रत्यक्षीकरण संबंधी वेदान्त मत के विश्लेषण के क्रम में एक बात स्पष्ट होती है कि प्रत्यक्षीकरण तभी संभव है जब अन्तःकरण वस्तु तक पहुँचे, अतएव, वेदान्त मत के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु वही है जिस तक अन्तःकरण पहुँचता है। प्रश्न है 'अन्तःकरण किस वस्तु तक पहुँचता है?' इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि 'अन्तःकरण किस वस्तु तक पहुँचता है और किस वस्तु तक नहीं?' उसका कोई आनुभविक प्रमाणीकरण संभव नहीं क्योंकि अन्तःकरण के वस्तु तक पहुँचने से प्रत्यक्ष की क्रिया तो सम्पन्न होती है किन्तु अन्तःकरण का प्रत्यक्ष तो इस क्रिया के द्वारा नहीं होता। अतएव यह कहने में कोई सैद्धांतिक कठिनाई भले ही नहीं हो किन्तु व्यवहारिक कठिनाई अवश्य है कि प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु वही है जिस तक अन्तःकरण पहुँचता है।' स्पष्टतः 'प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर दूसरे प्रकार से ढूँढ़ना पड़ेगा। भारतीय दर्शन में दो प्रकार के प्रत्यक्षीकरण की चर्चा की गई है-(क) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, तथा (ख) सविकल्पक प्रत्यक्ष।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

तत्त्वचिंतामणि में गंगेश ने और सिद्धांतमुक्तावलि में विश्वनाथ ने 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' को 'प्रथम क्षण का ज्ञान' कहा है। यह ज्ञान 'विधेय रहित' या 'गुण रहित' होता है। जैसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

में 'यह घट है' का ज्ञान न होकर घट' का ही ज्ञान होता है। यह ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष के पूर्व का ज्ञान है, अर्थात् बिना निर्विकल्पक के सविकल्पक ज्ञान नहीं होता। यद्यपि, निर्विकल्पक ज्ञान का साक्षात अनुभव कभी नहीं होता ना कभी हमारे अनुभव में ऐसा ज्ञान ही होता है जो मात्र 'घट' का हो। ज्ञान जब भी हमारे अनुभव में आता है 'यह घट है' के रूप में ही आता है तथापि तार्किक रूप से सविकल्पक के पूर्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सिद्ध है।

मीमांसक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ऐसा ज्ञान कहते हैं जो जाना तो जाय पर बतलाया न जा सके, अर्थात् जो प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के परे हो वह निर्विकल्पक है। किन्तु वैयाकरण इस प्रकार के किसी ज्ञान की सत्ता अस्वीकार करते हैं, जो अभिव्यक्ति के परे हो. अतएव इस मत के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मान्य नहीं। भाट्टमीमांसा के प्रणेता कुमारिल इस मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि बालक और गूंगे को ऐसा ज्ञान होता है जो अभिव्यक्ति के परे है। अतएव निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सिद्ध है। पार्थसारथी मिश्र शास्त्रदीपिका में लिखते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु अनिश्चित और अनेकाकार होती है जबकि सविकल्पक में निश्चित, निर्धारित और एक ही आकार में होती है।

बौद्ध मतानुसार मात्र निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष की कोटि में आता है, सविकल्प ज्ञान 'प्रत्यक्ष' है ही नहीं। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु स्वलक्षण है जिसका नामादि नहीं होता। वस्तु के नामादि की योजना परवर्ती क्षणों में अनुमान द्वारा निर्धारित होती है तभी सविकल्पक ज्ञान होता है। अतएव, प्रत्यक्ष सदैव निर्विकल्पक ही होता है। इसके उत्तर में मीमांसकों का तर्क यह है कि अगर प्रथम क्षण का ज्ञान 'निर्विकल्पक' होता है। अर्थात् अगर इस समय वस्तु की कोई निश्चित धारणा नहीं होती तो फिर इसे 'स्वलक्षण कैसे कहा जा सकता है? क्या यह 'स्वलक्षण' ज्ञान की निश्चयात्मकता और शब्दगम्यता को प्रकट नहीं करता? इस प्रकार मीमांसा मतानुसार बौद्धों का यह तर्क उचित नहीं है कि प्रत्यक्ष सदैव निर्विकल्पक ही होता है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को लेकर उठे इन विवादों के बीच अगर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु की बात उठाई जाय तो इस विषय का निर्धारण अत्यन्त कठिन होगा कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु क्या है? क्योंकि अगर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक या वस्तु के निश्चित प्रत्यक्ष के पूर्ववर्ती क्षणों का प्रत्यक्ष है, तो वस्तु के निश्चित प्रत्यक्ष तक पहुँचने के पूर्व वस्तु के बोध के अनेक चरण हो सकते हैं। यह संभव है कि वस्तु के बोध के प्रथम चरण में वस्तु ज्ञाता के समक्ष एक अर्थहीन अव्याख्येय संवेदना के रूप में प्रस्तुत होती हो। द्वितीय चरण में यह संभव है कि वस्त के बोध के साथ कोई अर्थ जुडे पर इस अर्थ या इस नाम की पहचान ज्ञाता को न हो पाए। इसके पश्चात् यह हो सकता है कि वस्तु का आकार और अर्थ आदि सर्वथा स्पष्ट होकर एक निर्णय का रूप तो ले ले पर यह शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति न हो पा रहा हो। तदुपरान्त यह संभव है कि निर्णय शब्दों में व्यक्त हो जाय। पुनः इन सभी चरणों की दो प्रकार की व्याख्या संभव है वास्तववादी एवं प्रत्ययवादी। वास्तववादी मत कि अनुरूप यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण के इन सभी चरणों में जो दिख रहा है वह वस्तु या वस्तु के ही विभिन्न रूप हैं तथा प्रत्ययवादी विचारधारा के अनुरूप यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि इन सभी चरणों में ज्ञाता को जो मिल रहा है वह वस्तु के विभिन्न रूप न होकर ज्ञाता के मन द्वारा आरोपित या ज्ञाता के मन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। अतएव, यहाँ यह निर्धारित कर पाना आसान नहीं कि इनमें से कौन-सी अवस्था निर्विकल्पक

प्रत्यक्ष की है तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु ज्ञाता की मनःप्रसूत वस्तु है या ज्ञाता से भिन्न कोई विषय-सत्ता? बौद्ध मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की जो धारणा मिलती है, उसके अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु 'स्वलक्षण' है। इस मत के अनुसार सामान्य, संबंध आदि मन के द्वारा रचित प्रागनुभविक धारणाएँ हैं जो वस्तु के रूप में मन के द्वारा ही आरोपित की जाती है। नैय्यायिकों का मत इस संबंध में ऐसा है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के समय में ज्ञाता को सामान्य संबंध, गुण आदि का बोध हो जाता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में ऐसी कोई बात संयक्त नहीं होती जो विर्विकल्पक में न हो। न्याय मत के अनुसार सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद मात्र इतना ही है कि निर्विकल्पक में ज्ञाता को इन बातों का स्पष्ट निर्धारण नहीं हो पाता, जबकि सविकल्प में हो जाता है। इस संबंध में मीमांसकों का मत नैय्यायिकों के अधिक निकट है, पर इन दो मतों में भी भेद है। प्रथमतः मीमांसक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता सिद्ध करने के क्रम में इसे गूंगे और नवजात शिशु का प्रत्यक्ष बतलाते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि यह सर्वथा संभव है कि नवजात शिशु अथवा मूक व्यक्ति के मन में अपने प्रत्यक्षों से संबंधित निश्चयात्मक निर्णय तो हों पर शारीरिक अक्षमता के कारण मूक व्यक्ति इस निर्णय को भाषा में अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा हो। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अनिर्वचनीयता शब्दों की सीमाबद्धता के कारण उत्पन्न भाषागत अक्षमता है, जबकि गूंगे के सम्मुख समस्या शारीरिक अक्षमता होती है। इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार निर्विकल्पक और सविकल्पक के बीच का भेद अनिर्वचनीयता का न होकर भाषा संबंधी है। द्वितीयतः नव्य-न्याय के प्रणेता गंगेश के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न तो प्रमा है न अप्रमा क्योंकि इसकी कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं है जबकि मीमांसक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की व्यवहारिक उपयोगिता पर बल देते हुए कहते हैं कि पशु और शिशु के प्रत्यक्ष सविकल्पक न होकर निर्विकल्पक होते हैं तथापि (पशु अथवा शिशु का) व्यवहार भी इसी प्रत्यक्ष पर आधारित होता है।

इस प्रकार नैय्यायिकों की 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' की धारणा पाश्चात्य दार्शनिकों की 'संवेदना' की धारणा से समकक्ष प्रतीत होती है। पाश्चात्य मतानुसार संवेदना अर्थरहित और निर्णय से शून्य एक मानसिक अवस्था है। नैय्यायिकों तथा मीमांसकों की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष संबंधी धारणा में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह भी है कि जहाँ मीमांसक निर्विकल्पक और सविकल्पक को प्रकारात्मक रूप से एक ही कोटि में रखते हैं किन्तु दोनों के बीच भेद स्पष्टता और निश्चितता की मात्रा से करते हैं, वहाँ नैय्यायिक निर्विकल्पक और सविकल्पक के बीच का भेद प्रकारात्मक बतलाते हैं।

वेदान्त मतानुसार 'विषय-विषयी संबंध का ज्ञान' सविकल्पक प्रत्यक्ष है तथा 'विषय-विषयी संबंध बोध से रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है। वेदान्त मतानुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष निर्णय पूर्व की अवस्था नहीं है क्योंकि अनेक ऐसे निर्णय है जिनमें निर्विकल्पक ज्ञान के समस्त लक्षण पाए जाते हैं। इस प्रकार, वेदान्त मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान निर्णयों में व्यक्त भी किए जा सकते हैं। यह वही देवदत्त हैख़इस प्रकार के निर्णय में उद्देश्य और विधेय के बीच विशेष्य-विशेषण का संबंध नहीं है अतएव यह ज्ञान निर्विकल्पक है, किन्तु यह ज्ञान निश्चित भी है तथा निर्णयबद्ध भी है। इस प्रकार वेदान्त मतानुसार जो ज्ञान उद्देश्य-विधेय और विशेष्य-विशेषण के संबंध से युक्त है वह ज्ञान सविकल्पक है अन्यथा निर्विकल्पक, जैसे "यह घट है। यहाँ 'यह' में 'घट' विशेषता का निरूपण है। 'मैं' घट को जानता हूँ।' यहाँ 'मैं' की विशेषता है कि वह घट का ज्ञाता है। इस प्रकार के निर्णय सविकल्पक है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में तादात्म्य बोध होता है। प्रश्न है अगर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तादात्म्य बोध

है तो इसे 'प्रत्यक्ष' की संज्ञा क्यों दी जाय? इसे स्मृति क्यों न कहा जाय? वेदान्ती इसका उत्तर देते हुए कहते है कि यहाँ तादात्मय का ज्ञान न तो स्मृति और न ही अनुमान से होता है यह तो 'साक्षात ज्ञान' है जो विषय के साक्षात्कार से उत्पन्न होता है।

श्रीभाष्य के रचयिता रामानुजाचार्य और शास्त्रदीपिका के प्रणेता पार्थसारथी मिश्रा ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को सत्ता का बोध कहा है। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष के प्रथम चरण में मात्र सत्ता का बोध होता है। तदुपरान्त सविकल्पक प्रत्यक्ष मस्तिष्क की क्रिया का परिणाम है। तत्त्वशुद्धि के लेखक इसके आगे जाकर कहते हैं कि प्रत्यक्ष में मात्र सन्मात्रा या विशद्ध सत्ता का ज्ञान होता है। विशेष का ज्ञान परवर्ती कल्पना पर आधारित है। यह मत बौद्ध मत के समकक्ष है जिसके अनुसार प्रत्यक्ष सदैव निर्विकल्पक होता है जो स्वलक्षण का होता है। यह मत विशुद्ध प्रत्ययवादी है। ।

शांकर या शंकर मत के समर्थक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को 'संबंध-रहित प्रत्यक्ष' के रूप में परिभाषित तो करते हैं परन्तु वे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के सबंध में अन्य मतों का कोई भी उल्लेख नहीं करते। अद्वैत वेदान्ती यह भी नहीं बतलाते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष की पूर्ववर्ती अवस्था है अथवा नहीं? किन्तु शंकर का विरोध बौद्ध मतों से या तत्त्वशुद्धि के प्रणेता आचार्य से तब स्पष्ट परिलक्षित होता है जब शंकर कहते हैं। कि प्रत्येक प्रत्यक्ष में बाह्य वस्तु आदि का बोध होता है। इस प्रकार वेदान्त मतानुसार निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष में भेद पूर्ववर्ती और परवर्ती के आध ार पर न करके विषय-विषयी संबंध के आधार पर किया गया है। इस मत के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष इस संबंध से रहित ज्ञान है तथा सविकल्पक इस संबंध से युक्त ज्ञान है।

सविकल्पक ज्ञान

हम देख आए हैं कि वेदान्त मतानुसार निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष में भेद उनकी विषय-वस्तु के आधार पर किया जा सकता है, न कि पूर्वापर के आधार पर। वेदान्त मतानुसार जिन प्रत्यक्षों में तादत्म्य बोध होता है वे निर्विकल्पक हैं। तादात्म्य बोध जिनमें नहीं होता वे सविकल्पक हैं। इस प्रकार वेदान्त मत मीमांसकों और नैय्यायिकों के उस मत का विरोधी प्रतीत होता है जिसके अनुसार निर्विकल्पक सविकल्पक का पूर्ववर्ती है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रत्यक्ष है। जैन दार्शनिक आचार्य हेमचन्द्र ने सविकल्पक को एकमात्र प्रत्यक्ष स्वीकार करते हुए निर्विकल्पक 'अनध्यवसाय रूप' कहा है।

इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु तादात्म्य है जबकि सविकल्पक की विषयवस्तु तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कई हो सकते हैं। इस प्रकार वेदान्त मतानुसार यह निर्धारित करने के लिए कि 'सविकल्पक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु क्या है?' तादात्म्य के अतिरिक्त प्रत्यक्ष के अनेक उदाहरणों के विषय-वस्तु की जाँच करनी होगी।

काल का प्रत्यक्षीकरण

न्याय- वैशेषिक मानते हैं कि काल का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता क्योंकि इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष मात्र उन्हीं वस्तुओं का होता है जिनकी प्रगटत: कोई आकृति (उदभूत रूपत्व) हो और जो अतिसूक्ष्म आयौम वाले न हों। काल की न तो कोई प्रगट आकृति है और न ही यह स्थूल विमाओं वाला है। अतएव इसका प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं।

मीमांसा और वेदान्त विचारधारा के अनुसार आकृति और आयाम रहित होने के कारण काल को

प्रत्यक्षगोचर न मानना एक भ्रामक विचारधारा है। काल का प्रत्यक्ष हमें होता है। काल के प्रत्यक्षीकरण को अनेक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे-यहाँ घट के वर्तमानत्व का प्रत्यक्षीकरण ही काल का प्रत्यक्षीकरण है। काल के प्रत्यक्षीकरण के कारण ही 'मैं घट को अभी देख रहा हूँ' और 'मैंने कल घट को देखा' में भेद किया जाता है। प्रत्येक ज्ञान काल के ज्ञान से संयुक्त होता है। शब्दानन्तर से वस्तु का ज्ञान सदैव काल की सीमा में बंध कर ही होता है और काल के ज्ञान से संयुक्त होता है। काल का ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष से संभव है, अतएव काल भी प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु है।

न्याय मतानुसार विश्व की समस्त वस्तुएँ काल में ही अवस्थित हैं अतएव प्रश्न है कि काल के अन्तर्गत अवस्थित इन्द्रियाँ काल का प्रत्यक्ष कैसे कर सकती है? चूँकि इन्द्रियाँ काल का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती तथा इन्द्रियों की क्षमता के अभाव में प्रत्यक्ष भी संभव नहीं, अतः काल इन्द्रियातीत एवं प्रत्यक्षतीत है। पाश्चात्य वास्तववादी अलेक्जेण्डर भी इसी मत के समर्थक हैं। अलेक्जेण्डर के मतानुसार काल (और देश) का ज्ञान अन्तःअनुभूति से होता है न कि इन्द्रियानुभूति या इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा। समन्वयवादी काण्ट काल (और देश) को एक ओर तो 'अनुभवातीत' कहते हैं तथा दूसरी ओर इनके प्रत्यक्ष की भी बात करते हैं।

न्याय मतानुसार काल का ज्ञान अनुमानजन्य है। न्याय मत के अनुसार काल दो प्रकार के है-परमार्थ की दृष्टि से महाकाल जो सम्पूर्ण, अविभाज्य और, एक है तथा व्यवहार की दृष्टि से खंड-काल या जो 'अब' 'तब' आदि छोटे-छोटे खंडों में विभाजित प्रतीत होता है। क्षण काल की इकाई है जो सेकेण्ड के 2/45वें भाग के बराबर है।

नैय्यायिक यह मानते हैं कि काल प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु न होकर अनुमान की विषय-वस्तु है। वेदान्ती या मीमांसक नैय्यायिकों के काल संबंधी मत के विरुद्ध कोई तर्क नहीं देते, परन्तु नैय्यायिकों से प्रश्न किया जा सकता है कि अनुमान के लिए भी आधारवाक्य प्रत्यक्ष से ही प्राप्त होते हैं। अतएव, बिना प्रत्यक्ष के काल अनुमानगम्य भी नहीं कहा जा सकता।

संबंध का प्रत्यक्षीकरण

सामान्यतः संबंध आदि के प्रत्यक्षीकरण के संबंध में वेदान्ती न्याय मत का अधिकांशतः समर्थन करते हैं किन्त कहीं-कहीं उनका इन विषयों पर नैय्यायिकों से मतभेद भी है। अतएव यहाँ विषय स्पष्टीकरण के लिए न्याय मत का स्पष्टीकरण एवं इससे वेदान्तियों का मतभेद स्पष्ट करना उचित होगा।

न्याय मतानुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार के हैं-लौकिक और अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष में वस्तु तथा इन्द्रिय के बीच संबंध सामान्य तथा संपूर्ण होता है किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष में वस्तु तथा इन्द्रिय के बीच सामान्य प्रकार का संबंध स्थापित नहीं होता।

न्याय मतानुसार लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय तथा वस्तु के बीच छः प्रकार के सन्निकर्ष या संबंध संभव हैं जिनके कारण छः प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। ये सन्निकर्ष निम्नलिखित हैं-संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय, विशेष्य-विशेषण-भाव।

न्याय मतानुसार इन छः प्रकार के इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से छः प्रकार के विषयों का प्रत्यक्षीकरण होता है-द्रव्य, गुण, द्रव्यत्व (जैसे घटत्व आदि), गुणत्व (पीतत्त्व, नीलत्व आदि), ध्वनि एवं अभाव। वेदान्ती भी प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु के रूप में द्रव्य, गुण, सामान्य (द्रव्यमान और गुणत्व) और ध्वनि

को स्वीकार करते हैं किन्तु वेदान्त मतानुसार अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा न होकर अनुपलब्धि के द्वारा होता है।

वेदान्ती नैय्यायिकों द्वारा प्रदत्त संबंधों के इस वर्गीकरण को भी स्वीकार नहीं करते। वस्तुत: नैय्यायिक एवं वेदान्तियों के द्रव्य, गुण, सामान्य आदि की धारणाओं में मौलिक भेद है। यह भेद इन दो दर्शनों की तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं के भेद पर आधारित है।

न्याय मतानुसार पदार्थ की सात कोटियाँ हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय एवं अभाव। गुण और कर्म द्रव्य में तथा सामान्य विशेषों में अन्तर्निहित होते है। सामान्य और विशेष में तथा द्रव्य एवं गुण तथा कर्म में समवाय का संबंध होता है। वैशेषिक मत के अनुसार संबंध दो प्रकार के हैं-संयोग और समवाय। संयोग दो वस्तुओं के बाह्य संबंध है, यथा वृक्ष और उस पर बैठे पक्षी का संबंध। संयोग इन दो या अधिक विभिन्न पदों (जिनके बीच संबंध स्थापित हो रहा है) का आन्तरिक जुड़ाव नहीं है। समवाय आन्तरिक संबंध है। इसमें दो वस्तुएँ एक दूसरे से अन्तर्निहित होकर जुड़ती हैं। जैसे-अंश से अंशिका का संबंध। इन दोनों प्रकार के संबंधों का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है।

यह न्याय मत समसामयिक पाश्चात्य वास्तववादी रसेल के मत के समकक्ष रखा जा सकता है। नव्य-वास्तववादी संबंधों और सामान्यों को 'सत्' नहीं कहते, पर इन्हें वास्तविक कहते हैं। इसी भाँति न्याय मत में भी सामान्य और समवाय संबंध यद्यपि सत् नहीं है पर इनका अस्तित्त्व है, ये वास्तविक हैं।

किन्तु सत्ता के संबंध में वेदान्त मत न्याय मत से सर्वथा भिन्न है। अद्वैत वेदान्त मतानुसार परमार्थ सत् एक ही है न कि अनेक, जैसा कि नैय्यायिक मानते हैं। वेदान्त मतानुसार यह ठीक है कि व्यवहार जगत में हमें द्रव्य और उसे गुण, गति, कर्म आदि का बोध होता है जिससे सतही तौर पर यह अनुमान नैय्यायिक करते हैं कि द्रव्य की सत्ता अलग है तथा गुण और कर्म आदि की अलग। वेदान्त. मतानुसार कभी भी द्रव्य से अलग गुण का या गुणरहित द्रव्य का प्रत्यक्ष व्यवहार जगत में नहीं होता। इसी भाँति गति किसी वस्तु से संयुक्त होकर ही प्रत्यक्षगोचर होती है। संबंध, जिसे नैय्यायिक 'समवाय' कहते हैं, कि सत्ता भी वस्तु या अपने पदों के अतिरिक्त नहीं है। इसी भाँति विशेष से पृथक सामान्य और सामान्य से पृथक विशेष की सत्ता नहीं। वस्तुत: वेदान्त मतानुसार गुण, कर्म, द्रव्य, समवाय आदि में भेद सत्ता का नहीं वरन् नाम का है। ये सभी एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न नाम है। जिस प्रकार एक ही देवदत्त विभिन्न दृष्टिकोण से कभी ब्राह्मण, कभी पुरूष, कभी पिता, तो कभी पुत्र आदि कह दिया जाता है उसी भाँति एक ही सत् द्रव्य, गुण आदि के विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

संबंध को अलग सत्ता मानने से, वेदान्त मतानुसार, अनन्ततादोष भी उत्पन्न होता है। मान लें कि कोई द्रव्य 'द' और गुण 'ग', 'स' संबंध से जुड़े हैं। किन्तु तब 'द' और 'स' के बीच भी किसी अन्य संबंध की आवश्यकता होगी। मान लें वे संबंध 'क' हैं और तब 'क' और 'द' के बीच भी संबंध आवश्यक होगा। इस प्रकार अनन्त संबंध आवश्यक होंगे और अनन्तता का तार्किक दोष उत्पन्न होगा। बाह्य संबंध की अवधारणा के विरुद्ध इसी प्रकार के तर्क का आश्रय पाश्चात्य दार्शनिक ब्राडले भी लेते हैं।

प्राय: वास्तववादी बाह्य संबंध का आश्रय लेते हैं और प्रत्ययवादी आन्तरिक संबंधवाद का। पाश्चात्य

जगत में वास्तववादी मूर आन्तरिक संबंधवाद के खंडन के लिए इसी प्रतिज्ञप्ति का खंडन पर्याप्त समझते हैं कि सभी संबंध आन्तरिक होते हैं। एक अन्य वास्तववादी पेरी यद्यपि बाह्य संबंधवाद को स्वीकार करते हैं किन्तु वे आन्तरिक संबंधवाद को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार तार्किक उपपत्तियों के बीच आन्तरिक संबंध होता है। रसेल भी सभी संबंधों को बाह्य ही स्वीकार करते हैं पर इस संबंध में रसेल का दृष्टिकोण मर की भाँति मात्र खंडनात्मक या निषेधात्मक नहीं है। वे बाह्य संबंधवाद को स्थापित करने के लिए कुछ तर्क भी देते हैं। यहाँ बाह्य संबंधवाद और आन्तरिक संबंधवाद का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए।

बाह्य संबंधवाद

बाह्य संबंधवाद का एक अर्थ यह हो सकता है कि संबंध उन पदों से स्वतंत्र है। जिनके बीच यह स्थापित हैं, जैसे अगर कोई संबंध 'स' किन्हीं दो वस्तुओं अथवा पदों 'क' और 'ख' के बीच है तो बाह्य संबंध का अर्थ यह होगा कि 'स', 'क' और 'ख' स्वतंत्र है। 'क' और 'ख' से पृथक रहने पर भी या 'क' और 'ख' अथवा 'क' 'ख' के नहीं रहने पर भी संबंध 'स' रहेगा।

'बाह्य संबंध' का एक दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि संबंध 'स' 'क' और 'ख' से अलग होकर अस्तित्त्ववान भले न रहे किन्तु संबंध 'स' 'क' और 'ख' का गुण नहीं है। इस अर्थ में यह 'स' 'क' और 'ख' से स्वतंत्र है अतएव 'क' और 'ख' भी परस्पर स्वतंत्र हैं। बाह्य संबंध वाद की यह व्याख्या अलेक्जेण्डर ने की है।

बाह्य संबंध का एक तीसरा अर्थ यह हो सकता है कि 'स' और 'क' 'ख' से स्वतंत्र तो है पर यह सत् नहीं या इसकी सत्ता नहीं, किन्तु यह वास्तविक है। इसके समर्थक रसेल हैं।

बाह्य संबंधवाद का चौथा अर्थ यह हो सकता है कि 'स' 'क' और 'ख' से स्वतंत्र तो है पर 'स्वतंत्र' होने का अर्थ यह नहीं कि यह स्वतंत्रता भेद का द्योतक है। यह स्वतंत्रता शाब्दिक है। संबंध और इसके पद एक ही वस्तु के दो अलग-अलग नाम हा जैसे एक ही देवदत्त एक दृष्टिकोण से पिता कहलाता है तो दूसरे दृष्टिकोण से पुत्र कहा जाता है। देवदत्त यद्यपि पिता और पुत्र दोनों ही अर्थों से युक्त हैं तथापि ये एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम हैं, उसी प्रकार संबंध और उसके पद भिन्न तो हैं पर इनके अस्तित्त्व में कोई भेद नहीं।

शंकर बाह्य संबंधवाद के उसी चौथे अर्थ के पोषक हैं किन्तु उन्होंने संबंध की जो व्याख्या की है उसके गूढार्थ में जाने पर शंकर बाह्य संबंधवाद की अपेक्षा आन्तरिक संबंधवा के संपोषक अधिक प्रतीत होते हैं।

अब हम कम से बाह्य संबंधवाद के इन चारों अर्था की परीक्षा करेंगे।

बाह्य संबंध की व्याख्या अगर अर्थ (1) में करें तो व्याख्या अनन्तता दोष को जन्म देती है। जैसा कि पीछे हम देख आए हैं अगर 'क' और 'ख' दो पद दो वस्तुएँ है तथा ये दोनों अलग-अलग सत्ताएँ हैं तो इसके बीच संबंध स्थापित करने के लिए किसी सबंध 'स' की आवश्यकता होगी जो 'क' और 'ख' दोनों से स्वतंत्र हो। चूँकि 'स' 'क' और 'ख' दोनो से स्वतंत्र हैं, अतएव 'स' और 'क' तथा 'ख' और 'स' के बीच भी संबंध स्थापित करने वाले किसी अन्य वस्तु 'स' की तथा 'स' की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार 'स,' तथा 'स' एवं 'स,' तथा 'स' के बीच संबंध स्थापित करने के लिए किसी अन्य सत्ता 'स,' तथा 'स,' की भी आवश्यकता होगी। पुनः 'स' और 'स'

के बीच संबंध स्थापित करने वाले किसी 'स, आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनन्त स्वतंत्र संबंधों की आवश्यकता होगी। तब यहाँ अनन्तता का तार्किक दोष उत्पन्न होगा।

बाह्य संबंधवाद के दुसरे अर्थ के अनुसार संबंध अपने पदों से पृथक रूप से अस्तित्ववान तो नहीं किन्तु संबंध अपने पदों का गुण भी नहीं होता। बाह्य संबंधवाद की इस व्याख्या को 'निर्भर अस्तित्त्व' का नाम दिया जा सकता है। इस मत के समर्थकों के अनुसार बाह्य संबंधवाद वैसा ही है जैसा कि वृक्ष के पत्ते का संबंध। पत्ता वृक्ष से स्वतंत्र तो है पर वृक्ष से अलग हटकर अस्तित्त्ववान नहीं रह सकता।

नोट

'संबंध' पद की इस व्याख्या के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि दो पदों और उनके बीच संबंध की तुलना वृक्ष और पत्र से नहीं की जानी चाहिए क्योकि वृक्ष और पत्र दोनों का पृथक-पृथक अनुभव तो ज्ञाता को होता है किन्तु संबंधों का अपने पदों से पृथक अनुभव ज्ञाता को कभी नहीं होता, 'मेज पर पुस्तक है'- यहाँ 'मेज' का अनुभव भी होता है और 'पुस्तक का भी, परन्तु उनसे अलग 'पर' (संबंध) अनुभव ज्ञाता को कभी नहीं होता।

यहाँ मत (2) के समर्थक संबंधों को अपने पदों से स्वतंत्र मानने के लिए एक दूसरा तर्क भी दे सकते है कि अगर संबंध अपने पदों से स्वतंत्र नहीं होता तो 'मेज पर पुस्तक है' और 'पुस्तक पर मेज है' इन दोनों में कोई भेद नहीं होता क्योंकि यहाँ संबंध के पद (संबंधी) दोनों ही स्थितियों में समान है।

किन्तु यहाँ (2) के समर्थकों को यह भी ध्यान देना चाहिए कि 'मेज पर पुस्तक' और 'पुस्तक पर मेज' इन दोनों ही स्थितियों में अगर संबंध के पद 'पुस्तक' एवं 'मेज' समान है तो संबंध भी समान है। अतएव यहाँ दोनों स्थितियों में भेद संबंध के कारण न होकर स्थान के कारण है। इस प्रकार इस तर्क के अनुसार अब हमें दो पद' और 'एक संबंध के अतिरिक्त एक दिशा को भी मानना पड़ रहा है। पुनः दिशा की समस्या सुलझाने के लिए हमें एक पाँचवीं चीज को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार अनन्त चीजों को मानने की स्थिति आ सकती है और हम अनन्तता दोष के शिकार हो सकते हैं। अगर यहाँ (2) के समर्थक यह कहें कि 'दिशा' या 'स्थान' संबंध के अंग हो सकते है तो प्रश्न होगा कि संबंध अपने पदों के अंग क्यों नहीं हो सकते? यहाँ (2) के समर्थक अनन्तता दोष से बचने के लिए यह कह सकते हैं कि संबंधों के किसी पद से जुड़ने के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि संबंधों का यह स्वभाव है कि वे दूसरी वस्तु से स्वभाविक रूप से जुड़ जाते हैं। किन्तु यहाँ भी यह प्रतिप्रश्न किया जा सकता है। कि अगर संबंधों को इस प्रकार की स्वभाविक क्षमता से युक्त स्वीकार किया जा सकता है तो वस्तुओं को ही इस प्रकार की स्वाभाविक क्षमता से युक्त स्वीकार क्यों न किया जाय कि दो पद परस्पर स्वभाविक रूप से एकदूसरे से जुड़ जाते हैं? ऐसी स्थिति में संबंधों की आवश्यकता है? इस प्रकार (2) के अर्थ में बाह्य संबंधवाद संभव नहीं।

बाह्य संबंधवाद की व्याख्या (3) के अनुसार संबंधों की वास्तविकता तो है किन्तु ये सत्ताएँ नहीं है। यह सिद्धान्तः यह स्वीकार करता है कि संबंध अपने पदों की तरह ही वस्तुएँ नहीं बल्कि उनसे भिन्न है। यह सिद्धांत जैसे ही संबंधों को अपने पदों से भिन्न कहता है इस पर व्याख्या (2) के विरुद्ध की गई सभी आपत्तियाँ लागू हो जाती है। चौथे मत के अनुसार संबंध न तो पदों से स्वतंत्र

या पदों पर निर्भर कोई पृथक अस्तित्त्व है, और न ही ये वास्तविकताएँ हैं। इस मत के अनुसार संबंध और पदों में भेद मात्र नाम का है। किन्तु संबंधों के विषय में यदि यह कहा जाता है कि संबंधों और पदों अथवा वस्तुओं में भेद मात्र 'नाम' का है तो इसका अर्थ यह होगा कि संबंध भी प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु है। वस्तुत: वेदान्त भी न्याय की भाँति यह तो स्वीकार करता है कि सामान्य संबंध, गुण आदि प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तुएँ हैं, परन्तु वेदान्त इनकी प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के बारे में नैय्यायिकों से मतभेद रखता है। न्याय विभिन्न वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के लिए छ: प्रकार के सन्निकर्ष (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष) बतलाते हैं जब कि वेदान्त मतानुसार प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष में एक ही प्रकार का सन्निकर्ष कार्य करता है, न कि छ: प्रकार का। इस प्रकार वेदान्त मतानुसार सामान्य, संबंध, गुण आदि एक ही वस्तु या सत्ता के विभिन्न पक्ष हैं और इनका प्रत्यक्षीकरण भी ज्ञाता को एक ही प्रकार से होता है। किन्तु यहाँ वेदान्त मत पर एक आपत्ति की जा सकती है कि अगर सामान्य, गुण, संबंध आदि सभी एक ही वस्तु या सत्ता के विभिन्न पक्ष है और इनका प्रत्यक्षीकरण भी ज्ञाता को एक ही प्रकार से होता है तो एक ही समय में, एक ही साथ सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञाता को क्यों नहीं होता? इसका उत्तर वेदान्ती यह कह देते हैं कि प्रत्यक्षीकरण के लिए मात्र इन्द्रियों से सन्निकर्ष ही पर्याप्त नहीं वरना प्रत्यक्षीकरण के लिए यह आवश्यक है कि अन्त:करण वस्तु का रूप धरे। प्रत्यक्षीकरण के काल में अन्त:करण वस्तु के जिस पक्ष का रूप ध रता है, ज्ञाता को उसी का प्रत्यक्ष होता है, समस्त वस्तुओं का नहीं।

सामान्य का प्रत्यक्षीकरण

सामान्य भी प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु है-ऐसा वेदान्त और न्याय दोनों ही मानते हैं। किन्तु न्याय और वेदान्त की सामान्य और विशेष की अवधारणाओं में पर्याप्त भेद है। न्याय मतानुसार सामान्य और विशेष की शाश्वत सत्ता है तथा ये दोनों परस्पर समवाय के द्वारा सबोधत है। किन्तु वेदान्त मतानुसार सामान्यों की शाश्वत और स्वतंत्र सत्ता नहीं। ये अनेक वशेषों के 'अनुगत धर्म' या 'सामान गुण' है। सामान्य और विशेष में संबंध तादात्म्य का अनेक विशेषों के समान गुणों को एक नाम दिया जाता है, यही नाम 'सामान्य' कहलाते हैं। भारतीय परम्परा में सामान्य विषयक तीन प्रकार के मत पाए जाते हैं।

(क) वास्तववाद

(ख) प्रत्ययवाद

(ग) नामवाद

वास्तववाद का पक्षधर न्याय मत है। इस मत के अनुसार सामान्य की अपनी स्वतंत्र वस्तुगत पारमार्थिक सत्ता है। प्रत्येक सामान्य विशेष में अवस्थित होता है तथा विशेष के प्रत्यक्ष के साथ ही सामान्य का प्रत्यक्ष भी हो जाता है, यथा, 'गों' के प्रत्यक्ष के साथ 'गोत्व' का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार न्याय मतानुसार सामान्य प्रत्यक्ष की विषय वस्तु है।

न्यायमत

द्रव्य सामान्य अथवा जाति का प्रत्यक्ष संयुक्त समकय के द्वारा होगा? गुण-सामान का प्रत्यक्ष संयुक्त समवेस समकय से होता है।

वेदान्ती न्याय के इस वास्तववाद का विरोध करते हैं तथा सामान्य की वस्तुपरक सत्ता का खंडन

नोट

करते हुए सामान्य की 'प्रत्ययमूलक स्थिति' की स्थापना करते हैं। वेदान्त मत के अनुसार अनेक विशेष वस्तुओं की समानता के आधार पर सामान्य की 'अवधारणा' का जन्म होता है। उदाहरणार्थ राम, श्याम, यदु, मोहन के प्रत्यक्ष के द्वारा इन सबों में स्थित समानताओं के कारण 'मनुष्यत्व' की धारणा का निर्माण होता है। वेदान्त मत के अनुसार सामान्य और विशेष के बीच तादात्म्य का संबंध है। इस रूप में सामान्य का ज्ञान भी प्रत्यक्षमूलक ज्ञान है जो सामान्य वस्तु के प्रत्यक्ष के साथ ही सम्पन्न हो जाता है। वेदान्त मत के अनुसार द्रव्य-विषयक सामान्य का ज्ञान 'संयुक्ततादात्म्य' के द्वारा, गुण और कर्म विषयक सामान्य का ज्ञान 'संयुक्ताभिन्नतादात्म्य' के द्वारा तथा ध्वनि-विषयक सामान्य का ज्ञान 'तादात्म्यवभिन्न' के द्वारा वस्तु विशेष के प्रत्यक्ष के साथ ही हो जाता है। श्री सतीशचंद्र चटर्जी के मतानुसार वेदान्तोक्त ये तीन प्रकार के प्रत्यक्ष नैय्यायिकों द्वारा बतलाए दूसरे, तीसरे और पाँचवें प्रकार के 'सन्निकर्ष' के तुल्य हैं।

सामान्य के विषय में बौद्ध 'नामवाद' के समर्थक हैं। बौद्ध मतानुसार सामान्य की न तो वस्तुपरक सत्ता है और न ही प्रत्ययमूलक। यह विशुद्ध 'कल्पना है। गौ कहने का अर्थ 'अ-गौ-नहीं' है। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार सामान्य प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु नहीं।

समानता का प्रत्यक्षीकरण

वेदान्त मतानुसार कुछ स्थितियों में दो वस्तुओं की समानता भी प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु हैं। जैसे इस क्षण में राम की गौ को देखकर पूर्वकाल में देखी गई देवदत्त की गौ को स्मरण करके यह कहा जाय कि श्राम की गौ देवदत्त की गौ के समान है' तो समानता का यह ज्ञान, वेदान्त मतानुसार, प्रत्यक्ष के द्वारा हो रहा है। जबकि कुछ स्थितियों में वेदान्त मतानुसार समानता का ज्ञान उपमान से भी होता है यथा इस क्षण में राम की गौ को देखकर पूर्वकाल में देखी गयी देवदत्त की गौ के स्मरण के उपरान्त देवदत्त की गौ के संबंध में यदि यह निर्णय दिया जाय कि 'देवदत्त की गौ राम की गौ के समान है' तो समानता का यह ज्ञान उपमान द्वारा हुआ है। किन्तु नैय्यायिक सदैव समानता के ज्ञान का साधन उपमान को ही स्वीकार करते हैं।

शांकर वेदान्त के मतानुसार काल, सामान्य, गुण, विशेष ये सभी एक ही वस्तु के अनेक पक्ष हैं। ये सभी प्रत्यक्षीकरण की विषय-वस्तु हैं। कतिपय वेदान्ती, उदाहरणार्थ तत्त्वशुद्धि के प्रणेता, यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष विशुद्ध सन्मात्रा का ही होता है, अन्य किसी वस्तु का नहीं।

ज्ञान का ज्ञान

प्रत्ययवादियों के अनुसार 'ज्ञान' और 'ज्ञान की विषय-वस्तु' में भेद है। 'ज्ञान' का । ज्ञान ज्ञान की विषय-वस्तु के ज्ञान से अलग हैं। साथ ही वस्तु का ज्ञान और ज्ञान का । ज्ञान' दोनों में भी भेद है। पीत रंग के ज्ञान में प्रथमतः 'पीत रंग' का बोध होता है तदुपरांत परवर्ती क्षणों में 'पीत रंग के ज्ञान का बोध होता है। मीमांसा के मतानुसार वस्तु के ज्ञान । का ज्ञान' परवर्ती क्षणों में भी नहीं होता। जिस प्रकार उँगलियों के अग्र भाग से सबका स्पर्श होता है किन्तु उँगलियों के अग्रभाग का स्पर्श किसी से नहीं होता उसी भाँति ज्ञान का । साक्षात बोध भी नहीं होता। 'ज्ञान' का ज्ञान, मीमांसा मतानुसार, अनुमान से होता है। किन्तु वेदान्त मतानुसार ज्ञान स्वत:प्रकाश्य है, अतएव इसका न तो अनुमान हो । सकता है न ही परवर्ती क्षणों द्वारा इसका ज्ञान होता है, जैसा कि नैय्यायिक कहते हैं। जिस । क्षण में पीत रंग का ज्ञान होता है उसी क्षण में 'पीत रंग के ज्ञान का ज्ञान भी हो जाता। है।

मध्वाचार्य के मतानुसार 'पीतरंग' प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु है पर स्वतः 'ज्ञान' प्रत्यक्ष का । विषय नहीं।

4.9 प्रत्यक्ष के प्रकार

जैसा कि हम जानते हैं, भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में न ज्ञानमीमांसीय भेद हैं। तदनुरूप प्रत्यक्ष के वर्गीकरण के विषय में भी इन मतों के बीच आधारभूत भेद देखने को मिलते हैं। आगे क्रमानुसार इन मतों की पृथक-पृथक व्याख्या की जा रही है।

वेदान्त मत

वेदान्त परिभाषा में प्रत्यक्ष के तीन प्रकार के वर्गीकरण बतलाए गए हैं-

(क) सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष,

(ख) जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष,

(ग) इन्द्रियजन्य एवं इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष

सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष - वेदान्त परिभाषा में सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बीच भेद करते हुए कहा गया है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान है तथा निर्विकल्पक संसर्गानवगहिज्ञान है। यहाँ 'वैशिष्ट्यावगाहि' तथा 'संसर्गानवगाहि' का अर्थ समझ लिया जाना चाहिए। 'वैशिष्ट्यावगाहि' का अर्थ है विकल्पयुक्त अथवा विशेष्य-विशेषण युक्त ज्ञान। यह ज्ञान विकल्पयुक्त होता है। इसीलिए इस ज्ञान को सविकल्पक (स + विकल्पक) ज्ञान कहते हैं। जैसे - 'मैं घट को जानता हूँ' अथवा 'यह घट है।' यहाँ ज्ञाता को 'यह विशेष्य में 'घट' विशेषण का ज्ञान हो रहा है अतएव यह ज्ञान सविकल्पक है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष संसर्गानवगाहि ज्ञान है। 'संसर्ग' का अर्थ है 'वैशिष्ट्य'। इस प्रकार वैशिष्ट्य अथवा विकल्प को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तादात्म्य बोधक होता है। जैसे-'यह वही देवदत्त है अथवा "तुम वही हो। यहाँ 'यह' और 'वही देवदत्त' में तादात्म्य है तथा 'तुम' और 'वह' में तादात्म्य है। इस प्रकार का तादात्म्य बोधक ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है।

नव्य-नैय्यायिक भी सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का भेद करते हैं। किन्तु वेदान्त द्वारा कहे निर्विकल्पक और नव्य नैय्यायिकों द्वारा कहें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में मूलतः दो भेद हैं-

1. नव्य न्याय के मतानुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मूक और बधिर के प्रत्यक्ष के समान अभिव्यक्ति से परे होता है जबकि वेदान्त मतानुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी उसी प्रकार वाणी का विषय है जिस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, जैसे 'तत्त्वमसि' अथवा 'सोऽयम् देवतदत्तः।' वेदान्त मतानुसार सविकल्पक और निर्विकल्पक के बीच का भेद अभिव्यक्ति के भेद पर आधारित न होकर विषय के भेद पर आधारित होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष विकल्प अथवा विशेष्य-विशेषण भाव को अपना विषय बनाता है जबकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु तादात्म्यमूलक ज्ञान है।
2. नव्य न्याय के मतानुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रथम क्षण का ज्ञान है तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर का ज्ञान है जबकि वेदान्त मत सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बीच इस प्रकार के कालक्रम के भेद को नहीं मानता।

जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष - वेदान्त परिभाषा में अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष ये प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद किए गए-जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष। वेदान्त मत पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म और जीव का अभेद मानता है किन्तु लौकिक दृष्टि से मायोपाहित ब्रह्म अथवा ईश्वर तथा जीव में भेद है। इस रूप में पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म और जीव के चैतन्य (प्रत्यक्ष) में कोई भेद नहीं किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से जीव के प्रत्यक्ष और ईश्वर के प्रत्यक्ष में भेद है। जीवसाक्षी चौतन्य प्रत्येक आत्मा में भिन्न-भिन्न है। तथा ईश्वरसाक्षी चैतन्य, जो मायोपाहित चौतन्य है, वह एक है।

ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष और जीवसाक्षी प्रत्यक्ष का यह भेद ज्ञानमीमांसीय की अपेक्षा तत्वमीमांसीय दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण दिखता है।

इन्द्रियजन्य और इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष - वेदान्त मत प्रत्यक्ष का एक अन्य वर्गीकण भी प्रस्तुत करता है। वेदान्त मत प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय को अनिवार्य नहीं मानता। इसी आधार पर वेदान्त मत प्रत्यक्ष के इस प्रकार के वर्गीकरण की बात करता है। वेदान्त मत के अनुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार के होते हैं-इन्द्रियजन्य अर्थात् इन्द्रिय की सहायता से उत्पन्न तथा इन्द्रियाजन्य अर्थात् इन्द्रिय की सहायता के बिना उत्पन्न प्रत्यक्ष। वेदान्त मत मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियों को ही इन्द्रियों की कोटि में रखता है तथा मन को इन्द्रिय नहीं मानता। वेदान्त मत के अनुसार सुख-दुख आदि भावों का प्रत्यक्ष अनीन्द्रिय अथवा इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है। जबकि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न प्रत्यक्ष 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा 'इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष' है।

बौद्ध मत

बौद्ध मत भी प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता। बौद्ध मत चार प्रकार के प्रत्यक्षों की बात करता है।-

(क) इन्द्रिय ज्ञान,

(ख) मनोविज्ञान,

(ग) आत्म संवेदन, तथा

(घ) योगिज्ञान।

(क) इन्द्रिय ज्ञान - बाह्यार्थ का समस्त ज्ञान जो इन्द्रियों के माध्यम से चेतना में आता है, बौद्ध मत में, इन्द्रिय ज्ञान कहा जाता है। इन्द्रिय ज्ञान पाँच प्रकार के होते हैं- (क) चक्षुविज्ञान (दृश्य ज्ञान), (ख) श्रोत्र विज्ञान (श्रव्य ज्ञान), (ग) घाणेन्द्रियज विज्ञान (गध का ज्ञान), (घ) कायेन्द्रियज विज्ञान (स्पर्श का ज्ञान), तथा (ङ) रासन विज्ञान (स्वाद का ज्ञान)।

(ख)मनोविज्ञान - धर्मकीर्ति ने 'मनोविज्ञान' की व्याख्या करते हुए कहा है कि अपने विषय के पश्चात्, विषय के सहकारी, समनन्तर प्रत्यय रूप इन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'मनोविज्ञान' कहते हैं।

बौद्ध मत में ज्ञान के चार प्रत्यय अथवा करण माने गये हैं। नेत्र से घट के ज्ञान में पहला घट स्वयं है। इसे (घट को) ज्ञान का आलम्बन प्रत्यय' कहते हैं। घट के इस ज्ञान में दूसरा प्रकाश है क्योंकि प्रकाश के अभाव में चक्षु घट के बोध को ग्रहण नहीं कर सकता इसे 'सहकारी प्रत्यय' कहते हैं। तीसरा प्रत्यय इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय प्रत्यक्ष संभव नहीं। अंधा व्यक्ति चाक्षुष प्रत्यक्ष

को ग्रहण नहीं कर पाता। इन्द्रियों को 'अधिपति प्रत्यय' कहते हैं। चौथा ग्रहण करने अथवा विचार करने की शक्ति है। इस शक्ति के अभाव में इन्द्रिय से गृहित बोध भी ज्ञाता की चेतना तक नहीं पहुँचता, जैसे-सचेतन नहीं होने पर उत्पन्न शब्द को भी व्यक्ति सुन नहीं पाता। सामान्यत: इस ग्रहण शक्ति या विचार शक्ति को 'मन' कहा जाता है। बौद्ध इसे ही 'समनन्तर प्रत्यय' कहते हैं। इसी समनन्तर प्रत्यय रूप ज्ञान को 'मनोविज्ञान' कहते हैं।

मानस प्रत्यक्ष अथवा मनोविज्ञान के इस विवेचन पर दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के मत में भेद देखने को मिलता है। दिग्नाग के अनुसार पदार्थ के प्रति रागादि का जो बोध होता है। उसे ही 'मनोविज्ञान' अथवा 'मानस प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी जाती है। धर्मकीर्ति दिग्नाग के इस मत पर आपत्ति प्रकट करते हुए कहते हैं कि विषय के प्रति रागादि तभी उत्पन्न होते हैं जब विषय का बोध नाम जात्यादि की योजना से युक्त हो। किन्तु नाम जात्यादि की योजना से युक्त ज्ञान को तो प्रत्यक्ष कहा ही नहीं जा सकता अतएव, धर्मकीर्ति के मतानुसार, दिग्नाग प्रदत्त मनोविज्ञान की यह व्याख्या स्वीकार्य नहीं।

इस प्रकार धर्मकीर्ति के मतानुसार नेत्रादि इन्द्रियों से विषय का जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसी को समनतर प्रत्यय बना कर जो प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह मानस प्रत्यक्ष अथवा मनोविज्ञान है।

(ग) आत्म संवेदन - विषय के प्रति सुख-दुख, रागादि, इच्छा का जो अनुभव होता है वह स्वसंवेदन अथवा आत्मसंवेदन कहलाता है। धर्मकीर्ति ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मनोविज्ञान और आत्मसंवेदन के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में विषय के किसी एक पक्ष अथवा अंश का ज्ञान होता है। मानस प्रत्यक्ष में इस 'इन्द्रिय ज्ञान का ज्ञान होता है। किन्तु स्वसंवेदन अथवा आत्म संवेदन में इन दोनों से भिन्न राग-द्वेष, सुख-दुखादि का ज्ञान होता है। न्यायबिंदु में धर्मकीर्ति ने कहा है कि सभी चित्त और चित्त विषयक समस्त बोध आत्म संवेदन हैं।

बौद्ध मत में चित्त, मन और विज्ञान समानार्थक समझे जाते हैं। चित्त से घनिष्ठ रूप संबंद्ध धर्मो को चौत्त' कहा जाता है। चित्त' अथवा विज्ञान को बौद्ध स्वयंप्रकाश मानते हैं। चित्त अथवा विज्ञान प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु है। यह प्रत्यक्ष इन्द्रियरहित होता है। चित्त अपना तथा अपनी समस्त प्रवृत्तियों का स्वयं ज्ञाता है अतएव चित्त और इसके धर्मो (चैत्त) के प्रत्यक्ष को आत्म संवेदन अथवा स्वसंवेदन कहा गया है।

(घ) योगिज्ञान - समाधि अथवा चित्त की समग्रता से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष योगि प्रत्यक्ष है। यह ज्ञान अज्ञात ज्ञापक (पूर्वकाल में न जानी हुई वस्तु को बतलाने वाला) होने के साथ-साथ अविसंवादी भी होता है। यह ज्ञान समाधि द्वारा प्राप्त होता है। किन्तु समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान, योगि प्रत्यक्ष की कोटि में तभी आ सकता है जबकि यह कल्पना रहित हो तथा अर्थक्रिया समर्थ हो। 'प्रमाणवार्तिक' में योगिज्ञान को निर्विकल्पक' कहा गया है। योगिज्ञान को 'भावनामय' भी कहा गया है। मनोरथनन्दी ने 'काम, शोक, भय, उन्माद आदि से मुक्त ज्ञान' को 'भावनामय' ज्ञान कहा है।

न्यायबिंदु में योगिज्ञान को, 'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज' कहा गया है। धर्मोत्तर ने 'भूत' पद का अर्थ 'अदभुत' शब्द से लगाते हुए कहा है कि अदभुत अर्थ के प्रकर्ष तक होने वाले ज्ञान को योगिज्ञान कहते हैं। स्पष्टत: योगिज्ञान अदभुत अथवा विलक्षण ज्ञान है जो प्रकर्ष की सीमा तक (प्राय: सम्पूण f) होता है।

न्याय मत

परम्परागत न्याय मत प्रत्यक्ष को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में परिभाषित करता है। अतएव यहाँ प्रत्यक्ष का वर्गीकरण इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष के आधार पर किया गया है। इस रूप में न्याय मत प्रत्यक्ष के मूलतः दो भेद बतलाता है- (क) लौकिक प्रत्यक्ष, तथा (ख) अलौकिक प्रत्यक्ष।

(क) लौकिक प्रत्यक्ष- साधारणतः जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु ज्ञेय) के साधारण सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, उसे नैय्यायिक 'लौकिक प्रत्यक्ष' की कोटि में रखते हैं। जैसे अग्नि के स्पर्श से उसके ताप का ज्ञान अथवा नेत्रों के द्वारा वस्तु के रंग का ज्ञान आदि।

(ख) अलौकिक प्रत्यक्ष - अधिकांशतः नैय्यायिक प्रत्यक्ष को 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान' के रूप में परिभाषित करने को उत्सुक प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से अलौकिक प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के सन्निकर्ष अथवा संपर्क के द्वारा ही उत्पन्न होता है। किन्तु लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष में भेद यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का वस्तु से साधारण संपर्क होता है, जबकि अलौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय से वस्तु का असाधारण संपर्क होता है। यथा जब अग्नि को छूकर ताप का प्रत्यक्ष होता है तो यह लौकिक प्रत्यक्ष है, किन्तु जब अग्नि को छुए बिना, मात्र इसे देखकर ही ताप को प्रत्यक्ष हो जाय तो यह 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहलाता है।

इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष वह प्रत्यक्ष है जिसमें इन्द्रियाँ अपने इतर विषयों का प्रत्यक्ष करती हैं यथा, घ्राणेन्द्रिय द्वारा स्वाद का प्रत्यक्ष (भोजन से उठ रही सुगंध के द्वारा उसके सुस्वादु होने का ज्ञान), चक्षु द्वारा ताप का प्रत्यक्षं (अग्नि को देखकर इसके ताप का या बर्फ को देखकर उसकी शीतलता का बोध, घास के हरेपन को देखकर उसके मुलायम होने का प्रत्यक्ष) आदि।

लौकिक प्रत्यक्ष के प्रकार

न्याय मत में लौकिक प्रत्यक्ष के दो प्रकार के वर्गीकरण देखने को मिलते हैं। प्रकार भेद के दृष्टि से इस वर्गीकरण को दो अलग-अलग वर्गों में रखा जा सकता है - (क) परम्परागत न्याय मत द्व ारा प्रस्तुत वर्गीकरण, तथा (ख) आधुनिक न्याय मत द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण।

परम्परागत न्याय मत - यह मत लौकिक प्रत्यक्ष के दो रूप बतलाता है- (क) बाह्य और (ख) आन्तरिक या मानस।

बाह्य प्रत्यक्ष - बाह्य प्रत्यक्ष वह लौकिक प्रत्यक्ष है जिसमें पाँच बाह्य इन्द्रियाँ-चक्षुन्द्रिय, न्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय अपने विषयों से सन्निकर्ष स्थापित कर अपने विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान उपस्थित करती हैं। इस रूप में बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष पुनः पाँच प्रकार के हैं।

(क) चाक्षुष - जिससे रूप अथवा रंग का प्रत्यक्ष हो

(ख) श्रोत्र - जिससे ध्वनि का प्रत्यक्ष होता है।

(ग) स्पर्शन - जिससे वस्तु की कठोरता, कोमलता, आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

(घ) रासन - जिससे स्वाद का ज्ञान होता है।

(ङ) घाणज - जिससे गंध का ज्ञान होता है।

मानस प्रत्यक्ष - आन्तरिक अथवा मानस प्रत्यक्ष वह प्रत्यक्ष है जिसमें अन्तन्द्रिय अथवा मन द्वारा आन्तरिक अवस्थाओं का प्रत्यक्ष होता है। न्याय पाँच ज्ञानेन्द्रियों की भाँति मन को भी एक इन्द्रिय मानते हैं। यह बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न है। बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ पंचभूतो से निर्मित होने के कारण अनित्य

है जबकि मन परमाणु निर्मित या निरवयव होने के कारण नित्य है। न्याय मतानुसार बाह्य इन्द्रियाँ पंचभूतों से निर्मित होने के कारण भौतिक हैं जबकि मन अभौतिक। मन के द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है उसे मानस प्रत्यक्ष कहा जाता है। चूंकि मन से आन्तरिक विषयों यथा सुख-दुख, घृणा, राग-विराग आदि का प्रत्यक्ष होता है अत: इस प्रत्यक्ष को आन्तरिक प्रत्यक्ष और मन को अन्तन्द्रिय भी कहा जाता है।

नोट

वेदान्ती सुख, दुख, इच्छा आदि को साक्षात बोध की विषय-वस्तु के रूप में स्वीकार तो करते हैं किन्तु अन्त: प्रत्यक्ष को लेकर नैय्यायिको से वेदान्तियों के पर्याप्त मतभेद है। वेदान्ती मन अथवा अन्त:करण को 'इन्द्रिय' की कोटि में नहीं रखते। वेदान्त मतानुसार प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में अन्त:करण इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु तक प्रवाहित होता है। तथा वस्तु का रूप धारण करता है, किन्तु वेदान्त मतानुसार आन्तरिक प्रत्यक्ष (सुख, दुख आदि के प्रत्यक्ष) में अन्त:करण को किसी बाह्य वस्तु तक जाने की आवश्यकता नहीं होती, अत: आन्तरिक प्रत्यक्ष के लिए किसी इन्द्रिय की भी आवश्यकता नहीं। वेदान्त मतानुसार अंन्त:प्रत्यक्ष में अन्त:करण स्वयं मानसिक वृत्तियों (सुख, दुख आदि) का रूप धारण करता है। इस प्रकार अन्त:प्रत्यक्ष में ज्ञाता को विषय का सीधा प्रत्यक्ष अतिन्द्रिय रूप में होता है। वस्तुत: वेदान्त मतानुसार अन्त:करण वृत्ति और आन्तरिक प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु-दोनों एक ही है।

पुन: न्याय मतानुसार अन्त: प्रत्यक्ष की विषय-वस्तुओं में एक विषय-वस्तु आत्मा भी है। इस प्रकार न्याय मतानुसार आत्मा अन्त: प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु है। नैय्यायिक कहते हैं कि 'मैं सुखी हुँ', 'मैं प्रसन्न हूँ'-जैसे निर्णयों के उद्देश्य के रूप में अन्त: प्रत्यक्ष में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है।

किन्तु वेदान्त यहाँ नैय्यायिकों का विरोध करते हुए कहते हैं कि मैं सुखी हूँ', 'मैं प्रसन्न हूँ' आदि निर्णयों के उद्देश्य के रूप में जिस 'मैं' का प्रत्यक्षीकरण ज्ञाता को होता है, वह विशुद्ध आत्मा का वास्तविक रूप नहीं, वह तो अहंकारमात्र हैं। विशुद्ध आत्मा तो स्वत: प्रकाश्य हैं। इसी ज्ञान स्वरूप आत्मा के ज्ञानालोक से आलोकित होकर समस्त वस्तुएँ ज्ञान का विषय-वस्तु बनती हैं। वेदान्त मतानुसार आत्मा का ज्ञान या आत्मा का प्रत्यक्ष न तो बाह्य प्रत्यक्ष से होता है, न आन्तरिक प्रत्यक्ष से। वस्तुत: वेदान्त मतानुसार आत्मा कभी भी साधारण प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु नहीं है। आत्मा तो स्वयं ज्ञान स्वरूप हैं अत: वहाँ ज्ञाता ज्ञेय का द्वैत भी नहीं है। वेदान्त मत को ठीक-ठीक समझे तो वेदान्त मतानुसार 'ज्ञेय' अथवा ज्ञान की 'विषय-वस्तु' पद आत्मा के संदर्भ में अर्थहीन हैं।

आधुनिक न्याय मत- लौकिक प्रत्यक्ष का एक अन्य वर्गीकरण भी न्याय दर्शन में पाया जाता है। यह वर्गीकरण विशेषत: नव्य नैय्यायिकों को मान्य है। इस मत के अनुसार लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद बतलाए गए है-

- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष
- सविकल्पक प्रत्यक्ष
- प्रत्यभिज्ञा

प्रत्यक्ष का इस प्रकार का वर्गीकरण न तो न्याय मत के प्रणेता गौतम करते हैं न ही वात्स्यायन भाष्य में इन पदों का प्रयोग देखने को मिलता है। परवर्तीकाल में, विशेषत: नव्य नैय्यायिक गंगेशोपाध्याय ने प्रत्यक्ष का इस प्रकार का वर्गीकरण तत्त्वचिंतामणि में प्रस्तुत किया है। गंगेशोपाध्याय के पूर्व केशव मिश्र, जयन्त भट्ट तथा उद्योतकर आदि नैय्यायिक भी यद्यपि लौकिक प्रत्यक्ष के परम्परागत

वर्गीकरण को स्वीकार करते हैं किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा प्रत्यभिज्ञा की चर्चा प्रत्यक्षीकरण के संदर्भ में उन्होंने भी की है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

नोट

गंगेशोपाध्याय ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह प्रत्यक्ष बालक और मूक के प्रत्यक्ष के समान हैं, जिन्हें वस्तु का प्रत्यक्ष तो सामान्य लोगों की ही भाँति होता है, किन्तु वे अपनी अनुभूति को नामादि के पदों में व्यक्त नहीं कर सकते।

दूसरे शब्दों में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह प्रत्यक्ष है जिसमें वस्तु की चेतना बिना किसी गुण धर्म के होती है। नव्य न्याय के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का लक्षण अव्यपदेश्य अर्थात अभिव्यक्ति रहित' या अभिव्यक्ति से परे' होना है।

न्याय मत के परवर्ती टीकाकारों या समीक्षकों ने यह माना है कि यद्यपि महर्षि गौतम या वात्स्यायन प्रत्यक्ष का वर्गीकरण करते हुए सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा नहीं करते तथापि, इन परवर्ती समीक्षकों के मतानुसार न्यायसूत्र में वर्णित प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रयुक्त 'अव्यपदेश्य' पद निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का तथा 'व्यवसायात्मक' पद सविकल्पक प्रत्यक्ष का सूचक है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार न्यायसूत्र की परिभाषा में 'अव्यपदेश' शब्द का प्रयोग निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सूचक है जिसका अर्थ है 'शब्द व्यवहार के अयोग्य। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। शेष दोनों लक्षण 'अव्यभिचारी' तथा 'व्यवसायात्मक' सविकल्पक प्रत्यक्ष के लोधक हैं। नैय्यायिकों के समान सांख्य और भाट्टमीमांसकों ने भी इन्द्रिय और वस्तु के प्रथम क्षण के सन्निकर्ष को 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहा है। वेदान्तियों तथा बौद्धों ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में नैय्यायिकों तथा मीमांसकों से भिन्न मत दिया है। नैय्यायिकों और मीमांसकों ने सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का भेद उनकी विषय-वस्तु के आधार पर नहीं किया है। यह भेद वे पूर्वापर के आधार पर करते हैं। केशव मिश्र के अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें प्रथम क्षण का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' है। वेदन्ती तथा बौद्ध निर्विकल्पक और सविकल्पक का निध रिण उनकी विष्य-वस्तु के आधार पर करते हैं। परम्परागत वेदान्त मत के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान विशुद्ध सत्ता (संमात्रा) का ज्ञान है तथा सविकल्पक किसी वस्तु के गण का एवं अन्य वस्तुओं से उसकी पृथकता का ज्ञान है। वेदान्त तत्त्वमीमांसा के अनुसार विविधता अथवा विकल्प का ज्ञान प्रतिभासिक सत्ता का ज्ञान है। अत: निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान होता है तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में प्रतिभासित सत्ता का ज्ञान होता है। बौद्ध मत भी नामजात्यादि की योजनारहित ज्ञान. (प्रत्यक्ष) को परमार्थ (स्वलक्षण) के ज्ञान का साधन मानता है। इसके विपरीत नव्य वेदान्ती व्यवहारिक दृष्टि से निर्विकल्पक और सविकल्पक का अन्तर करते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्पक संसर्गानवगाहि ज्ञान है। संसर्ग का अर्थ है-विशेष्य-विशेषण संबंध। अत: निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेष्य-विशेषण संबंध का ज्ञान नहीं होता। यह ज्ञान तादात्म्यमूलक होता है जैसे तत्त्वमसि। यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' में तादात्म्य का बोध हो रहा है। सविकल्पक प्रत्यक्ष को 'वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम्' कहा गया है, अर्थात् जिस ज्ञान में विशेष्य-विशेषण संबंध हो जैसे 'अहम घटम् जनामि' (मैं घट को जानता हूँ) वह जान सविकल्पक प्रत्यक्ष है।

इस संदर्भ में बौद्धों ने स्वलक्षण का सिद्धांत दिया है। प्रत्यक्ष से जो वस्तु विशेष का ज्ञान होता है,

जिसमें नाम, सामान्य आदि का ज्ञान नहीं होता है, यह 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' है। बौद्ध मतानुसार यही एक मात्र प्रत्यक्ष का रूप है। धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष स्वलक्षण का होता है। स्वलक्षण का अर्थ है – जिसमें अन्य कुछ लेशमात्र भी न हो। इस प्रकार वैधतः प्रत्यक्ष वही है जिसमें पूर्वानुभव की कोई भूमिका न हो। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में स्पष्ट लिखा है कि समस्त इन्द्रिय प्रत्यक्ष विशेष के बारे में होते हैं। विशेष अनिर्वचनीय है अर्थात् शब्दों में इसका वर्णन नहीं हो सकता।

भारतीय दर्शन में तीसरे प्रकार का मत वैयाकरणों का है जिसके अनुसार सभी प्रकार के ज्ञान के लिए अनिवार्य है कि उसे शब्दों में अभिव्यक्त होना चाहिए। जिसे हम शब्दों में अभिव्यकत नहीं कर सकते, उसे ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। अतः 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' को ज्ञान के किसी भी रूप में स्वीकार करना उचित नहीं है।

बौद्धों का स्वलक्षण संबंधी मत पाश्चात्य इन्द्रियत्तवाद के मत के समान है जिनमें संवेदना और प्रत्यक्षीकरण में भेद किया गया है। अनुभूति द्वारा अव्यवहित रूप में हमें जिसका बोध होता है वह कोई वस्तु, जैसे टेबुल आदि, नहीं है, इन्द्रियदत्त है। हम भौतिक वस्तुओं को नहीं जानते, अपने इन्द्रिय संवेदनों को जानते हैं और मानसिक अभ्यासवश इन्द्रिय संवेदना से भौतिक वस्तुओं का अनुमान करते हैं। इस मत को स्वीकार करने पर कुछ आधारभूत कठिनाइयाँ सामने आती है, जैसे इन्द्रियदत्त क्या है? क्या यह भौतिक वस्तु का अंश है? यदि यह भौतिक वस्तु का अंश है तो यथार्थवाद की समस्त कठिनाइयाँ इन्द्रियदत्तवाद के सम्मुख उपस्थित होती है। दूसरी ओर यदि यह एक मानसिक संरचना है तो इससे अहंमात्रवाद की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियदत्तवादी इन्द्रियदत्त को भाषायी संरचना, तार्किक संरचना अथवा तटस्थ संरचना के रूप में स्थापित करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु कठिनाइयाँ यहाँ भी आड़े आती हैं।

यह समस्या बौद्धों के स्वलक्षणवाद के समक्ष भी आती है। बौद्धों का स्वलक्षणवाद जिस क्षणिकवाद की अनिवार्य परिणति है वह क्षणिकवाद ही प्रथमतः आरोपों से मुक्त नहीं है। स्वलक्षण की तात्त्विक स्थिति पर भी प्रश्नचिह्न उपस्थित किये जाते हैं। पुनः जब स्वतः स्वलक्षण ही सिद्ध नहीं है तो इसके ज्ञान का साधन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी स्वीकार्य सि नहीं होता।

यहाँ प्रश्न यह भी है कि क्या वस्तुतः कोई ऐसा ज्ञान संभव है जो पूर्वानभव से सर्वथा मुक्त कहा जा सके? प्रारंभिक मनोविज्ञान संवेदन और प्रत्यक्ष में भेद करता है। इस भेद के अनुसार संवेदन में वस्तु की चेतना होती है किन्तु इसकी पहचान नहीं होती। संवेदना अर्थपूर्ण हो तो इसे प्रत्यक्षीकरण कहेगे (संवेदन + अर्थ = प्रत्यक्षीकरण)। परन्तु परवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि अर्थहीन संवेदन या शुद्ध संवेदन या संभव नहीं। नव्य-नैय्यायिकों ने भी शुद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की वास्तविक सत्ता पर संदेह प्रकट किया है। उनके अनुसार चेतना में जो ज्ञान प्रस्तुत होता है वह सविकल्पक है तथा उसमें हम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता का अनुमान करते हैं। इस संदर्भ में सर्वपल्ली राधाकृष्णन का मत विचारणीय है। यद्यपि डॉ0 राधाकृष्णन ने नव्य नैय्यायिकों के विचार को असंतोषजनक कहा है, तथापि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अस्तित्त्व तार्किक दृष्टि से सिद्ध है यद्यपि कालकम की दृष्टि से यह सिद्ध संभव नहीं होता। कालक्रम की दृष्टि से गंगेश, सांख्य तथा प्रभाकर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष में भेद करते है। इस प्रकार नैय्यायिकों, सांख्य तथा प्राभाकरों की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की धारणा को

भले ही अस्वीकार कर दिया जाय, वेदान्तियों की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की धारणा में कोई तार्किक दोष नहीं दिखता क्योंकि वे इसे विषय-वस्तु के आधार पर परिभाषित करते हैं।

सविकल्पक प्रत्यक्ष

नोट

नव्य-न्याय, सांख्य एवं मीमांसा के मतानुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर प्रत्यक्ष' हैं। इसमें नाम गुण, आदि से युक्त वस्तु का बोध होता है, जैसे 'यह श्याम है', अथवा 'यह ब्राह्मण' है। यह विशेषण-विशेष्य-विषयक ज्ञान हैं। वेदान्त मत के अनुसार भी सविकल्पक प्रत्यक्ष विशेष्य-विशेषण विषयक ज्ञान है। वेदान्त परिभाषा के अनुसार विकल्प को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। 'विकल्प का अर्थ है विशिष्टता बोध। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान विषय की विशिष्टता बताने वाला ज्ञान है यथा 'मैं घट को जानता हूँ यहाँ 'घट' के 'रूप' विशेषण से विशिष्ट 'घट' ज्ञान को विषय किया जा रहा है।

सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बीच भेद

सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में मुख्यत: निम्नलिखित भेद है-

1. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नामादि रहित होता है यथा जब किसी ज्ञाता 'ज्ञ' को किसी वस्तु 'क' का स्पष्ट बोध तो हो किन्तु 'ज्ञ' को यह ज्ञात नहीं हो कि 'यह क्या है? तो इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहेंगे। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में यद्यपि ज्ञाता के विषय के नाम रूपादि का बोध नहीं होता, किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को संशयात्मक बोध समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। संशय और नर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भेद होता है। यथा- 'यह साँप है, अथवा रस्सी?' यह संशय है। संशय की स्थिति में वस्तु का बोध दो अथवा अधिक प्रकार की नाम रूपादि योजना से युक्त होकर होता है, यथा- (क) 'क्या यह साँप है'?, अथवा (ख) क्या यह रस्सी है? दूसरी ओर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में न तो 'साँप' का बोध होता है न 'रस्सी' का।

2. सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु का बोध नामजात्यादि की चेतना के साथ होता है। यथा- 'यह घट है।' नर्विकल्पक प्रत्यक्ष अनभिलाप्य' या अभिव्यक्ति के परे होता है। इसे गौतम ने न्याय सूत्र में अव्यपदेश' की संज्ञा दी है अर्थात वाणी द्वारा इसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। यह गूंगे के गुड़ की तरह है। दूसरी तरफ सविकल्पक प्रत्यक्ष व्यपदेश्य' होता है, अर्थात् वाणी द्वारा इसकी अभिव्यक्ति संभव है। इस प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान का संप्रेषण संभव होता है।

3. न्याय दर्शन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को 'अव्यवसायात्मक' कहता है। 'अव्यवसायात्मक' कहने का अर्थ यह है कि यह प्रत्यक्ष क्रिया में व्यवहृत किए जाने योग्य नहीं होता।

दूसरी ओर सविकल्पक प्रत्यक्ष 'व्यवसायात्मक' होता है अर्थात् इससे व्यवहार-क्रिया की उत्पत्ति संभव होती है, यथा- 'यह घट है-घट के इस सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा घट का व्यवहार संभव है अर्थात यह जान कर कि "यह घट है, इससे जल संग्रह किया जा सकता है।

बहुधा निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष के इस भेद के विरुद्ध आपत्ति की जाती है। गंगेश ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को शिशु का प्रत्यक्ष अथवा 'शिशु द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष' कहा है। शिशु को वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है किन्तु भाषा का ज्ञान न होने के कारण वह इस प्रत्यक्ष को नाम नहीं दे पाता, अत: शिशु का यह प्रत्यक्ष 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहा जाता है। किन्तु शिशु अपने इस ज्ञान के

आधार पर व्यवहार प्रवृत्त होता है। यथा, शिशु यह नहीं समझता कि 'यह अग्नि है' किन्तु इसे छूने को प्रवृत्त होता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को सदैव अव्यवसायात्मक' कहना उचित नहीं है।

किन्तु निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष के इस भेद के विरुद्ध यह आपत्ति उचित नहीं प्रतीत होती। वस्तुतः शिशु जब अग्नि को देखकर उसका नाम नहीं जानते हुए भी उसे पकड़ने को प्रवृत्त हो उठता है, तो शिशु का यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ शिशु को अग्नि का प्रत्यक्ष नाम की योजना से रहित होकर भले होता है, यहाँ शिशु को अग्नि का प्रत्यक्ष रूपरहित नहीं होता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भाषा के ज्ञान का अभाव नहीं है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कोई वाणीगत या भाषागत समस्या नहीं है। शिशु अपने प्रत्यक्ष को अग्नि का नाम सिर्फ इसलिए नहीं दे पाता कि वह नहीं जानता कि आषा में इस वस्तु को 'अग्नि' कहा जाता है। जैसे कोई अहिंदी भाषी अंग्रेज 'फायर' को 'अग्नि' कहना नहीं जानता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो वह प्रत्यक्ष है जिसमें नाम के साथ-साथ प्रत्यक्षकर्ता को वस्तु के रूप, आकार आदि का बोध भी नहीं होता है।

चूँकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के आकार, नाम, रूप आदि का बोध नहीं होता है, अतः यह प्रत्यक्ष व्यक्ति को कार्य प्रवृत्त नहीं कर पाता है। इस दृष्टि से यह कहना उचित है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, 'अव्यवसायात्मक' होता है अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञाता को कार्यप्रवृत्ति नहीं करता जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष कार्यप्रवृत्ति करता है। किन्तु ध्यातव्य है कि ऐसी स्थिति में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को 'मूक बालक के प्रत्यक्ष की भाँति नहीं कहा जा सकता।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्य या असत्य नहीं होता जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष सत्य या असत्य हो सकता है। यहाँ प्रश्न है कि कब कोई ज्ञान या प्रत्यक्ष 'सत्य' अथवा 'असत्य' होता है? नैय्यायिक ज्ञान की संत्यता की तीन कसौटियाँ बतलाते हैं- (क) प्रवृत्तिसामर्थ्य, (ख) ज्ञानान्तर संवाद, तथा (ग) गुणवत कारण ज्ञान। इनमें प्रवृत्ति सामर्थ्य प्रधान है, ज्ञानान्तर संवाद तथा गुणवत कारण ज्ञान प्रवृत्ति सामर्थ्य के सहयोगी हैं।

प्रवृत्ति सामर्थ्य का अर्थ यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने ज्ञान के आधार पर किसी क्रिया को करने में सक्षम हो जाता हो तब इस ज्ञान को सत्य समझा जाना चाहिए; यथा, 'यह घट है' यह ज्ञान सत्य तब होगा कि जबकि इसमें जल भरा जा सके।

चूँकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के नाम आदि का बोध ज्ञाता को नहीं होता, अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञाता को कार्य-प्रवृत्त भी नहीं करता। चूंकि यह प्रत्यक्ष ज्ञाता को कार्य-प्रवृत्ति ही नहीं करता अतः इस प्रत्यक्ष में प्रवृत्ति-सामर्थ्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति का निर्णय भी संभव नहीं।

अतः सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष सत्य या असत्य हो सकता है जबकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में सत्यता-असत्यता का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष का आधार है। बिना निर्विकल्पक के सविकल्पक प्रत्यक्ष संभव नहीं। इस अर्थ में सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पूर्वापर का संबंध है। इनमें निर्विकल्पक पूर्ववर्ती और सविकल्पक परवर्ती है। ।

वेदान्त मत निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष का भेद विषय-वस्तु के आधार पर करता है।

वेदान्त मत के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तादात्म्य बोधक होता है जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष का विषय विशेष्य-विशेषण ज्ञान है।

प्रत्यभिज्ञा

नोट

पवनभति के आधार पर पूर्वकाल में जानी गई वस्तु का वर्तमान में प्रत्यक्ष होने पर उसे पहचान लिया जाना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। यथा, देवदत्त नामक व्यक्ति यदि पूर्वकाल में वाराणसी में मिला हो और पुनः यदि यही व्यक्ति वर्तमान में पटना में मिले तो पटना में इसे पहचान लेना कि "यह वही देवदत्त है' प्रत्यभिज्ञा कहलाता है।

वेदान्त मत इस प्रकार के ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष की कोटि में रखता है क्योकि इसमे विशेष्य-विशेषण ज्ञान होता है। किन्तु न्याय मतानुसार प्रत्यभिज्ञा और सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भेद है। सविकल्पक अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भूतकाल की कोई भूमिक नहीं होती जबकि प्रत्यभिज्ञा में भूतकाल की भूमिका होती है। भूतकाल और वर्तमान की संवेदना मिलकर ही प्रत्यभिज्ञा का जन्म होता है।

पुनः प्रत्यभिज्ञा स्मृत्ति से भी भिन्न है। स्मृति में बोध की वस्तु ज्ञाता के सम्मुख साक्षात उपस्थित नहीं होती, जैसे मुझे कल ग्रहण किए गए भोजन का स्मरण हो रहा है। यहाँ वर्तमान समय में भोजन मेरे सम्मुख उपस्थित नहीं है। दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा में स्मृति की भूमिका तो निश्चय ही होती है किन्तु यहाँ विषय ज्ञाता के सम्मुख साक्षात उपस्थित होता है, जैसे वाराणसी में देखे गए देवदत्त को पुनः वर्तमान समय में अपने सामने उपस्थित पाकर उत्पन्न हुआ यह बोध कि "यह देवदत्त है।"

अलौकिक प्रत्यक्ष

न्याय मत प्रत्यक्ष को इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान कहते हैं। अतएव प्रत्यक्ष के लिए सदैव यह आवश्यक है कि इन्द्रिय विषय के संपर्क में आए। कभी-कभी इन्द्रिय और अर्थ का यह संबंध असामान्य होता है। इसी प्रकार के असामान्य सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

जब कोई इन्द्रिय अपने विषय से इतर विषय को प्रत्यक्ष का विषय बनाती है तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष को 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है, यथा अग्नि को देखकर (चक्षु के द्वारा) ताप की अनुभूति। यहाँ ताप, सामान्यतः, चक्षु का विषय न होकर स्पर्शेन्द्रिय का विषय होता है। फिर भी चूँकि यहाँ चक्ष ताप को विषय बनाती है, अतः यह अलौकिक प्रत्यक्ष है। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार के हैं - (क) सामान्य लक्षण, (ख) ज्ञान लक्षण तथा (ग) योगज।

(क) सामान्य लक्षण - तत्त्वचिंतामणि और भाषा परिच्छेद के अनुसार हमें व्यक्ति अथवा विशेष का प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् सामान्य का ही प्रत्यक्ष होता है। जिसे हम घट का प्रत्यक्षीकरण' कहते हैं यह वस्तुतः 'घटत्व का प्रत्यक्षीकरण' है जो विशेष घट में परिलक्षित होता है। इस प्रकार इस मत के अनसार एक वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में ही उस वर्ग की समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण निहित है। इस प्रकार किसी विशेष वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में उस वर्ग की समस्त तत्क्षण उपस्थित और अनुपस्थित वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण सन्निहित होता है। उदाहरणार्थ जब घट 'क' का प्रत्यक्षीकरण होता है तो इसमें उपस्थित 'घटत्व' का भी प्रत्यक्षीकरण होता है और 'घटत्व' के प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से 'क' के अतिरिक्त उन समस्त घटों का भी प्रत्यक्षीकरण होता है जो इस समय ज्ञाता के

समक्ष उपस्थित नहीं है, साथ ही घट 'क' के विशेष गुणों का भी प्रत्यक्षीकरण ज्ञाता को होता है। इस प्रकार विशेष के प्रत्यक्ष से ही सामान्य का भी प्रत्यक्ष होता है। इसे ही 'सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष' कहते हैं।

नोट

यहाँ 'व्याप्ति' या 'सामान्य प्रतिज्ञप्तियों के ज्ञान की समस्या का एक अच्छा समाधान हमें प्राप्त होता है। यह एक प्रख्यात दार्शनिक समस्या है कि जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ आग है' जैसे निगमन के आधार वाक्य कैसे प्राप्त किये जाते हैं? अगर यह कहा जाय कि ये वाक्य प्रत्यक्ष से प्राप्त किए जाते हैं, तथा कतिपय विशेष निरीक्षणों के आधार पर प्रकृति समरूपता और कार्यकारण नियम को आधार बनाकर ये सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं, तो यहाँ कई प्रश्न उठते हैं, जैसे, अनुभव तो हमें एक स्थान पर अग्नि और धूम्र का तथा दूसरे और तीसरे स्थान पर अग्नि और धूम्र का होता है किन्तु जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ-वहाँ अग्नि है का अनुभव तो हमें कभी नहीं होता। फिर इस ज्ञान को अनुभवजन्य कैसे कहा जाय? यहाँ यह भी कहना उचित नहीं कि विशेष के निरीक्षण के आधार पर सामान्य का अनुमान किया जाता है क्योकि अनुमान के लिए तो स्वतः सामान्य वाक्य (व्याप्ति) की आवश्यकता होती है। पाश्चात्य दर्शन में कुछ इसी प्रकार की समस्या आगमन की समस्या' के नाम से विख्यात है। न्याय इसका समाधान देते हैं कि इस प्रकार के सामान्य वाक्य अथवा व्याप्ति की स्थापना के लिए एकाधिक उदाहरण के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं होती। मात्र पाकशाला में धूम्र और अग्नि को देखकर (या एक उदाहरण के निरीक्षण से) ही व्याप्ति ज्ञान हो जाता है। उसका कारण यही है कि प्रत्येक विशेष का प्रत्यक्ष अपने भीतर सामान्य के लक्षणों को समाहित करता है, अतएव विशेष के प्रत्यक्ष से ही सामान्य का ज्ञान हो जाता है। शब्दान्तर से न्याय मतानुसार सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के कारण ही इस प्रकार की व्याप्तियों का ज्ञान होता है।

इस प्रकार सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष द्वारा आगमन की समस्या को एक समाधान मिलता है।

(ख) ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष - इस प्रत्यक्ष में वस्तु के किसी ऐसे लक्षण का प्रत्यक्ष होता है जो ज्ञाता के सन्निकर्ष संसर्ग में इस समय नहीं रहती। यथा, एक चंदन के टुकड़े को देखकर उसकी सुगंध का ज्ञान। यहाँ यद्यपि चंदन के टुकड़े और उसकी आकृति आदि से ही ज्ञाता का इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है, उसके सुगंध से नहीं, तथापि भूतकाल में प्रत्यक्ष किए गए उसके सुगंध की स्मृति से वर्तमान में भी उसके सगंध का ज्ञान होता है। इसे ही 'ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष' कहते हैं।

ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा ही नैय्यायिक भ्रम की व्याख्या करते हैं। रज्जु में सर्प के

भ्रम का कारण है कि भूतकाल में जब सर्प का प्रत्यक्ष हुआ तो 'सर्पत्व' का भी प्रत्यक्ष हुआ। वर्तमतान काल में लम्बी लटकती हुई वस्तु में सर्पत्व के ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष के कारण ही रज्जु में सर्प का भ्रम होता है।

वेदान्ती न्याय के ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार ऊपर के उदाहरण में चंदन में सुगंध का ज्ञान अनुमान से होता है न कि प्रत्यक्ष से। जिस प्रकार धूम्र देखकर इस व्याप्ति के आधार पर कि 'जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है', अग्नि का ज्ञान होता है उस प्रकार चंदन की लकड़ी को देखकर सुगंध का ज्ञान इस व्याप्ति पर आधारित है कि 'जहाँ-जहाँ चंदन है वहाँ-वहाँ सुगंध है।'

पुनः वेदान्ती ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष को भ्रम की व्याख्या के लिए अपर्याप्त मानते हैं। वेदान्त मतानुसार

लम्बी लटकती हुई वस्तु को देखकर सर्प की स्मृति की बात तो समझ में आती है परन्तु नैय्यायिक यहाँ यह स्पष्ट नहीं करते कि 'सर्प की स्मृति' 'सर्प के प्रत्यक्ष में कैसे बदलती है? स्मृति और प्रत्यक्ष में भेद हैं। नैय्यायिक ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा भ्रम की व्याख्या करने में इस भेद को भुला देते हैं।

नोट

किन्तु न्याय द्वारा बतलाए गए सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष और ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष की अपनी उपलब्धियाँ हैं। सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष अनुमान के आधार वाक्य या व्याप्ति की समस्या को सुलझाने में सक्षम होता है तथा इसी आधार पर पाश्चात्य दर्शन की आगमन की समस्या का भी समाधान ढूँढ़ा जा सकता है। ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष की उपादेयता यह बतलाने में है कि ज्ञाता के इन्द्रिय सम्पर्क में आए बिना भी कुछ गुणों का साक्षात प्रत्यक्ष हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान इस तथ्य को स्वीकार करता है कि ेपउपसंजपवद की प्रक्रिया में एक वस्तु को देखकर उसके गुणों का तत्काल प्रत्यक्ष ज्ञाता को हो जाता है जैसे चंदन को देखकर बिना उसे सूंघे ही उसकी सुगंध का ज्ञान। यह ज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अव्यवहित और साक्षात होता है। यह ज्ञान स्मृति नहीं वरन् । 'प्रत्यक्ष' होता है।

किन्तु वेदान्ती न्याय के इस मत पर आक्षेप करते हैं कि चंदन की लकड़ी को देखकर उसके सुगंध का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। वेदान्ती प्रश्न करते हैं कि चंदन की लकड़ी को देखकर जिस सुगंध का ज्ञान होता है उसमें और सूंघ कर जिस सुगंध का ज्ञान हुआ है, इन दोनों अनुभूतियों में क्या कोई समानता है? बर्फ को देखकर इसके ठंढेपन के ज्ञान में तथा बर्फ को छूकर हुए उसके ठंढेपन के ज्ञान में भेद हैं। अतएव बर्फ को देखकर उसकी ठंढक का जा ज्ञान होता है वह ज्ञान की अनुभूति नहीं वरन् उस अनुभूति की स्मृति मात्र है। इसी प्रकार पदन की लकड़ी को देखकर उसकी सुगंध का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं, वरन् स्मृति ही है।

(ग) योगज – नैय्यायिक विश्वास करते हैं कि योगी बिना इन्द्रियों की सहायता के दूरस्थ और अप्रत्यक्ष वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। इसे ही वे 'योगज प्रत्यक्ष' या 'योगी प्रत्यक्ष' की संज्ञा देते हैं। न्याय मतानुसार योगी अति सूक्ष्म वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करते हैं।

योगभ्यास की पूर्णता और अपूर्णता के आधार पर इस ज्ञान के दो प्रकार का बतलाया गया है। जो पूर्णत: सिद्ध योगी हैं उन्हें इस प्रकार के ज्ञान के लिए किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए ऐसा ज्ञान शाश्वत और स्वत: सिद्ध होता है। ये व्यक्ति 'युक्त' कहलाते हैं। दूसरी ओर वैसे योगी जो पूर्णत: सिद्ध नहीं है, जिन्हें 'युज्जान' कहा जाता है, उन्हें इस ज्ञान के लिए ध्यानस्थ होने की आवश्यकता पड़ती है।

वेदान्ती योगज प्रत्यक्ष को शास्त्रसम्मत होने के नाते भी स्वीकार करते हैं किन्तु अन्य अलौकिक प्रत्यक्षों को वेदान्ती स्वीकार नहीं करते हैं। भाट्ट मीमांसक भी योगी प्रत्यक्ष की आलोचना करते हैं। वेदान्त और भाट्ट मतानुसार बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष बिना इन्द्रिय के नहीं हो सकता। बौद्ध मत भी योगज प्रत्यक्ष को 'योगी-ज्ञान' के रूप में स्वीकार करते हैं। जैन मत भी केवल ज्ञान के रूप में अतिन्द्रिय ज्ञान को स्वीकार करता है।

भारतीय दर्शन में प्राय: समस्त सम्प्रदाय (लोकायात इसके अपवाद हैं) इस प्रकार के अलौकिक ज्ञान में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार योग या साधना या अभ्यास के द्वारा अलौकिक विषयों का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, अथवा अलौकिक दृष्टि से लौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वेदान्ती जिसे साक्षात्कार' अथवा 'आत्मसाक्षात्कार' की संज्ञा देते हैं वह एक प्रकार का

योगज प्रत्यक्ष है, जिसमें अभ्यास के द्वारा असाधारण विषयों की अनुभूति होती है।

4.10 सारांश

नोट

वस्तुतः प्रत्यक्ष तथा अन्य प्रमाणों के बीच एक बड़ा अन्तर यह है कि प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण या प्रमा पर आधारित नहीं है, जबकि अन्य प्रमाण अंततोगत्वा प्रत्यक्ष पर आधारित हैं। प्रत्यक्षेतर अन्य प्रमाणों की पुष्टि का अंतिम आधार' प्रत्यक्ष ही है जबकि प्रत्यक्ष पर संदेह होने पर संदेह का निराकरण या पुष्टि भी प्रत्यक्ष के द्वारा होती है। स्पष्टतः प्रत्यक्षवादी तो प्रत्यक्ष की महत्ता खुले रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्तःप्रज्ञावादी भी प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर पाते। वे या तो खंडन के लिए विवशतः प्रत्यक्ष की चर्चा करते हैं अथवा वे अन्तःप्रज्ञा को भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष स्वीकार कर प्रत्यक्ष के विवेचन में प्रविष्ट हो जाते हैं। चूँकि प्रत्यक्षवादी और अन्तःप्रज्ञावादीख़्दोनों में से किसी के लिए भी प्रत्यक्ष की अवहेलना संभव नहीं हो पाती, अतः स्पष्टतः, समन्वयवादी, जिनकी जड़ें भी प्रत्यक्षवाद और अन्तःप्रज्ञावाद में आरोपित हैं, प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर पाते। सारांशतः विश्व के प्रत्येक प्रमाणशास्त्र में प्रत्यक्ष संबंधी विवेचन महत्त्वपूर्ण स्थान पाती है।

पाश्चात्य प्रत्यक्षवादियों के अनुसार प्रत्यक्ष का स्थान प्रमाणों के सर्वोपरि है। इसे सर्वोपरि स्वीकार किए जाने के वहाँ दो कारण बतलाए गए हैं। प्रथमतः तो यह कि यह सभी प्रमाणों का मूल है क्योंकि अन्य सभी प्रमाण इसी पर आधारित हैं, तथा द्वितीयतः यह प्रत्यक्ष अन्य सभी प्रमाणों की सत्यता की अंतिम कसौटी है। अनुमानादि अन्य प्रमाणों की सत्यता में जब संदेह होता है तो इसका अंतिम निराकरण प्रत्यक्ष द्वारा ही संभव होता है।

वेदान्त मन अथवा अन्तःकरण के इन्द्रियत्व का बलपूर्वक खंडन करता है। वेदान्त मत के अनुसार अन्तःकरण के इन्द्रियत्व का कोई प्रमाण ही नहीं है। वेदान्त मत प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जब इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होता है तो अन्तःकरण वृत्ति शरीर के बाहर आकर वस्तु का रूप धर लेती है। सुख दुखादि अन्तःकरण के ध र्म हैं तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं है।

वेदान्त मत के अनुसार इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष का विषय नहीं। इन्द्रियों के विषय में अनुमान और श्रुति दो प्रकार के प्रमाण हैं।

वेदान्त मत इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का समर्थन करता है। वेदान्त मत के अनुसार घाण, रसन, और त्वक् अपने स्थान पर स्थित रह कर ही अपने विषयों का संसर्ग प्राप्त करती है जबकि श्रोत्र और चक्षु विषयों के स्थान पर जाकर विषय को प्राप्त करती है।

सांख्य मत प्रत्यक्ष को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में ही स्वीकार करता है। सांख्य मत में इन्द्रियाँ जड़ प्रकृति का रूपान्तरण है। इस रूप में सांख्य मत नैय्यायिकों की भाँति इन्द्रियों को जड़ अथवा भौतिक ही मानता है। सांख्य मत के अनुसार इन्द्रिय का उपादान सात्विक अहंकार है। न्याय मत प्रत्यक्ष को इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान कहते हैं। अतएव प्रत्यक्ष के लिए सदैव यह आवश्यक है कि इन्द्रिय विषय के संपर्क में आए। कभी-कभी इन्द्रिय और अर्थ का यह संबंध असामान्य होता है। इसी प्रकार के असामान्य सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जब कोई इन्द्रिय अपने विषय से इतर विषय को प्रत्यक्ष का विषय बनाती है तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष

को 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है, यथा अग्नि को देखकर (चक्षु के द्वारा) ताप की अनुभूति। यहाँ ताप, सामान्यतः, चक्षु का विषय न होकर स्पर्शेन्द्रिय का विषय होता है। फिर भी चूँकि यहाँ चक्ष ताप को विषय बनाती है, अतः यह अलौकिक प्रत्यक्ष है। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार के हैं - (क) सामान्य लक्षण, (ख) ज्ञान लक्षण तथा (ग) योगज।

नोट

4.11 अभ्यास प्रश्न

1. प्रत्यक्ष विषयक समस्या क्या है?
2. प्रत्यक्ष की परिभाषा क्या हैं?
3. इन्द्रिय, मन और अन्तःकरण पर चर्चा करें।
4. प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण की क्या भूमिका होती है?
5. प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु पर चर्चा करें।
6. प्रत्यक्ष के प्रकार क्या हैं? चर्चा करें।

4.12 संदर्भ ग्रंथ

- ज्ञान का सिद्धांत, सतीशचंद्र चटर्जी, कलकत्ता, 1965
- ज्ञान के छह तरीके, डी. एम. दत्ता, कलकत्ता, 1960
- भारतीय ज्ञानमीमांसा, नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
- ज्ञान की अवधारणा, देवव्रत सेन, कलकत्ता

इकाई–5

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

नोट

संरचना (Structure)

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे :

- भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद की अवधारणा से परिचित होंगे।
- ज्ञान के अर्थतथात्व का परिचय प्राप्त करेंगे। (अयथार्थत्व) व अर्थातथात्व (यथार्थत्व)
- विभिन्न दर्शनों में प्रामाण्य के स्वतस्त्व व परतस्त्व का विश्लेषण करेंगे।

5.2 परिचय

दार्शनिक अध्ययन-क्षेत्र में ज्ञानमीमांसा की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है। भारतीय चिंतन परंपरा में ज्ञान को केन्द्रस्थानीय महत्ता प्राप्त है। भारतीय मानस में ज्ञान की महत्ता का निदर्शन शास्त्रादिकों में पदे-पदे होता है। ज्ञान को सभी व्यवहारों का हेतुरूप कहा गया है – ''सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम्'' (अन्नं भट्टकृत तर्कसंग्रह)। समस्त मानवीय व्यवहार ज्ञानपूर्वक ही होते हैं, दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हम उसी वस्तु का व्यवहार कर सकते है जिसका हमें ज्ञान हो।

बाह्यवस्तुजगदिद्वषयक विभिन्न प्रश्नों व जिज्ञासाओं का समाधान तो ज्ञान के द्वारा होता है परंतु जब स्वयं ज्ञान ही जिज्ञासा का विषयवस्तु बनता है तो यह जिज्ञासा एक जटिल व गूढ़ तार्किक समस्या में रूपांतरित हो जाती है। ज्ञान के स्वरूप निर्धारण की समस्या दर्शन की दुरूहतम व गंभीरतम

समस्याओं में से एक है।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की ग्रहण-प्रक्रिया व विपर्ययादि भ्रम ज्ञान के विश्लेषण के पश्चात यह विचार करना भी अपेक्षित प्रतीत होता है कि किसी ज्ञान की सत्यता का परीक्षण कैसे किया जाये? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रमा अर्थात् सत्यज्ञान के प्रमात्व अर्थात् सत्यत्व व अप्रमा अर्थात् मिथ्याज्ञान के अप्रमात्व अर्थात् मिथ्यात्व का निश्च कैसे किया जाये? ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा यथार्थता का विवेक कैसे हो? ज्ञान को प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक मानने का आधार या कसौटी क्या हो?

भारतीय दर्शनों में प्रामाण्यवाद के अंतर्गत इसी प्रश्न का विचार किया गया है। ज्ञान के प्रामाण्य अर्थात् यथार्थता के कारण के विषय में जो वाद अर्थात् सिद्धांत प्रचलित हुआ वह प्रामाण्यवाद के नाम से अभिहित है। 'प्रामाण्य' शब्द 'प्रमाण' शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है, इसकी व्युत्पत्ति होती है - ''प्रमाणस्य भाव: प्रामाण्यम्'' अर्थात् प्रमाण के भाव को प्रामाण्य कहा जाता है। 'प्रमाण' शब्द करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर प्रमा के असाधारण कारण का बोधक होता है और भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर प्रमिति का बोधक होता है। इस स्थल पर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य में प्रमाण व अप्रमाण की प्रकृति क्रमश: प्रमा तथा अप्रमा शब्द से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होती है। इस प्रकार प्रामाण्य शब्द से प्रमा में रहने वाला प्रमात्व या अर्थतथात्व और अप्रामाण्य शब्द से अप्रमा में रहने वाला अप्रामत्व अथवा अर्थाऽतथात्वरूप ध र्म अभिहित होता है।

इस प्रकार यथार्थत्व को प्रामाण्य तथा अयथार्थत्व को अप्रामाण्य कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जो वस्तु जिस धर्म से युक्त हे उस वस्तु में उसी धर्म का विशेषण रूप से अवगमन होना प्रमात्व या अर्थतथात्व है और उस ज्ञान को यथार्थज्ञान या प्रमा कहा जाता है। उदाहरणार्थ - रजतरूप पदार्थ रजतत्व धर्म से युक्त है अत: रजत में रजतत्व का विशेषणरूप से ज्ञान होना प्रमात्व या अर्थतथात्व है। अत: रजत में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रमा अर्थात् सत्यज्ञान कहलाता है। इसके विपरीत जो वस्तु जिस धर्म से युक्त नहीं है उसमें उस धर्म का विशेषणरूप से ज्ञात होना अप्रमात्व या अर्थाऽतथात्व है और ऐसा ज्ञान अप्रमा कहलाता है। उदाहरणस्वरूप - शुक्तिका में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान अतथाभूत है, अत: अप्रमा अर्थात् मिथ्याज्ञान है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में मूल रूप से दो मत प्राप्त होते हैं - स्वत: प्रामाण्यवाद तथा परत: प्रामाण्यवाद। इसी प्रकार ज्ञान के अप्रामाण्यविषयक मतों को भी मूलत: द्विधा विभाजित किया जाता है - स्वत: अप्रामाण्य तथा परत: अप्रामाण्य। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी स्थापनाओं के अनुसार प्रामाण्यविषयक अवधारणा का विश्लेषण किया है। जिस दार्शनिक सम्प्रदाय की यह स्थापना है कि ज्ञान में उसका प्रामाण्य भी रहता है, उसे स्वत: प्रामाण्यवादी कहा गया है तथा जिस दार्शनिक सम्प्रदाय की यह स्थापना है कि ज्ञान की यथार्थता के लिये किसी अन्य बाह्य तत्व की अपेक्षा होती है, उसे परत: प्रामाण्यवादी कहा गया है। इसी प्रकार का विभाजन ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में भी किया गया है।

पुन: ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य में स्वतस्त्व तथा परतस्त्व का विचार उत्पत्ति व ज्ञप्ति के आधार पर किया जाता है। प्रामाण्यवाद के अंतर्ग ज्ञान के प्रामाण्य के निर्धारण का प्रश्न दो प्रकार से उत्पन्न

होता है - ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है? तथा ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति (ज्ञान/बोध) कैसे होती है? इसी प्रकार अप्रामाण्य के विषय में भी दो प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते हैं - ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है? तथा ज्ञान के अप्रामाण्य की ज्ञप्ति कैसे होती है?

ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य विषयक इन द्विविध प्रश्नों का उत्तर भी द्विविध है - ज्ञान के प्रामाण्य का उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतस्त्व अथवा परतस्त्व निर्धारित किया जाता है तथा ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतस्त्व अथवा परतस्त्व निर्धारित किया जाता है।

ज्ञान के उत्पत्तिगत अर्थात् उत्पत्ति के आधार पर स्वत: प्रामाण्य व स्वत: अप्रामाण्य का तात्पर्य है कि जिस कारण सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी कारण सामग्री से उसके प्रामाण्य व अप्रामाण्य का भी निर्धारण होता है, अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान के ज्ञप्तिगत स्वत: प्रामाण्य व स्वत: अप्रामाण्य का तात्पर्य है कि जिस साधन-सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी साधन-सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। अर्थात् इस दृष्टि से ज्ञान के अंदर ही उसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अवस्थित रहता है, प्रामाण्य के निर्धारण के लिए किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं होती।

ज्ञान के उत्पत्तिगत परत: प्रामाण्य व परत: अप्रामाण्य का आशय है कि जिस कारण-सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उससे भिन्न कारण-सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार ज्ञप्ति (बोध) के आधार पर परत: प्रामाण्य व परत: प्रामाण्य का अर्थ है कि जिस साधन-सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है, उससे भिन्न सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य का ग्रहण होता है। अर्थात् प्रामाण्य या अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु अन्य बाह्य साधन की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ती है।

प्रामाण्यवाद की विवेचना में उपर्युक्त दो प्रविधियों के माध्यम से ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के विषय में विचार किया जाता है। इस आधार पर प्रामाण्यविषयक विवेचन को हम ज्ञान की यथार्थता की कसौटी भी कह सकते हैं।

5.3 भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

भारतीय दर्शन में प्रामाण्य की अवधारणा मूलत: वेदों के प्रामाण्य के प्रश्न पर आधारित होकर ही विकसित हुई है। भारतीय दर्शन परंपरा में आस्तिक व नासित दर्शन के विभेद से दो चिंतन-धारायें समृद्ध हुयी हैं। नास्तिक दर्शनों ने वेद का सर्वत: प्रामाण्य नहीं माना है, जबकि आस्तिक दर्शन वेद को ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार मानते हुये इसकी परम-प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञान के प्रामाण्य से संबंधित मूल प्रश्न यही उपस्थित हुआ कि ''वेद-विहित ज्ञान को सत्य किस आधार पर स्वीकार किया जाये?'' अथवा ''वेद-वाक्य यथार्थज्ञान प्रमा की उपलब्धि कराते हैं - इस विषय के निर्धारण में प्रमाण क्या है?'' इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य का विचार ज्ञान की यथार्थता का विचार कहा जा सकता है।

प्रामाण्य व अप्रामाण्य के स्वतस्त्व व परतस्त्व के निर्धारण में विभिन्न दर्शनों में मतवैषम्य दृष्टिगोचर होता है। इनमें से चार दर्शनों के प्रामाण्य-विचार को विश्लेषकों ने प्रमुखतया आलोचित किया है। ये विचार निम्नलिखित है -

१ स्वतः प्रामाण्य व स्वतः अप्रामाण्य

२ परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य

३ स्वतः अप्रामाण्य व परतः प्रामाण्य

४ स्वतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य

सांख्य दर्शन

न्याय दर्शन

बौद्ध दर्शन

मीमांसा दर्शन

सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य ने अपने ग्रंथ में प्रामाण्यविषयक इन मतों को निम्नलिखित कारिका में संकलित किया है -

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिता

नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः

प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः

प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।

अर्थात् सांख्य दर्शन के आचार्यो ने ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः माना है, नैयायिकों ने प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों को परतः माना है। सौगतों ने अर्थात् बौद्धों ने दूसरे को अर्थात् अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रथम को अर्थात् प्रामाण्य को परतः माना है। वेदवादियों ने अर्थात् मीमांसकों ने प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः माना है।

इन चार वर्गीकरणों में प्रामाण्यवादविषयक भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के मत अनर्भूत हो जाते हैं। यद्यपि जैन आदि दार्शनिक-सम्प्रदायों ने भी प्रामाण्यवाद के विषय में अपने सिद्धांत उपस्थापित किये है, तथापि अध्ययन-अनुशीलन की दृष्टि से उपर्युक्त मतचतुष्टय ही सर्वाधिक प्रचलित रहा है।

5.4 प्रामाण्यवाद की समस्या का उद्‌भव और विकास

भारतीय ज्ञानमीमांसा में प्रामाण्यवाद एक केन्द्रीय विषय के रूप में उपस्थित होता है। यह समस्या मूलतः ज्ञान के प्रामाण्य से संबंधित है। इस विषय से संबंधित मूल प्रश्न यह है कि किस ज्ञान को और किस आधार पर और 'क्यों' प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक घाषित किया जाय?

प्रामाण्यवाद की समस्या का उद्‌भव और विकास

भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य की समस्या वेदों की प्रामाणिकता के प्रश्न से संयुक्त होकर उठती है। भारतीय संस्कृति में आदिकाल से ज्ञान और दर्शन की दो धाराएँ बहीं-ब्राह्मण विचारधारा और श्रमण विचारधारा। इनमें ब्राह्मण परम्परा के पोषक वेद को ही समस्त ज्ञान विज्ञान का आध ार मानते थे जबकि श्रमण परम्परा वेदाधारित नहीं थी। ब्राह्मण परम्परा में एक ऐसा काल भी आया जब भारतीय समाज में कर्मकाण्ड प्रमुख हो उठे। मनुष्य का अभिष्ट स्वर्ग-मात्र माना जाने लगा जिसके निमित्त बहुविध यज्ञों के विधान ब्राह्मणों ने किए। इन यज्ञों में होने वाली पशुबलि तथा अन्य व्यापक घोर-अघोर कर्मकांडों के कारण जैन-बौद्ध आदि श्रमणों ने इनका विरोध किया। इसी समय

न्याय-वैशेषिक और मीमांसा ने इन यज्ञ-याज्ञों का बहुविध समर्थन करते हुए इन समस्त कर्मों को वेद-विहित घोषित किया। यज्ञादि का स्वरूप और यज्ञादि से स्वार्गादि अभिष्ट-फल सिद्धि का प्रमाण ीकरण इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अथवा प्रत्यक्षाधारित अन्य प्रमाणों से संभव नहीं था, अतएव इस ज्ञान का स्रोत प्रमाण वेद ही स्वीकार किए गए। मीमांसाकों ने इन वेदों को अपौरुषेय और देश काल से परे भी घोषित किया। दूसरी ओर श्रमणों ने इन कर्मकांडों और यज्ञादि की बहुविध निंदा करते हुए इन्हें अमानुषिक करार दिया। स्वभावत: ऐसी स्थिति में श्रमणों के लिए वेदों का खंडन आवश्यक हुआ। इसके लिए श्रमण विचारकों ने वेदों की प्रामाणिकता पर ही प्रश्न उपस्थित कर दिए। दूसरी तरफ मीमांसक (जो घोर कर्मकांडी थे) ने वेदों को 'अपौरुषेय' कहते हुए। इन्हें 'स्वत: प्रामाण्य' (अर्थात प्रमाणिकता-अप्रामाणिकता के प्रश्न से परे) घोषित किया। श्रमणों ने वेदों को न तो अप्रामाणिकता के प्रश्नों से मुक्त किया न ही इन्हें 'अपौरुषेय' स्वीकार किया। उनके अनुसार वेदों की प्रमाणिकता और उनके वाक्यों की सत्यता-असत्यता के निर्धारण की कसौटी स्वयं वेद नहीं, वरन वेदों के अतिरिक्त मनुष्य का सहज-स्वाभाविक जीवन, मानवीय प्रकृति तथा व्यवहारिक विश्व का यह सम्पर्ण नैतिक जगत ही है। इस प्रकार श्रमण परम्परा में वेद स्वत: प्रामाण्य न होकर परत: प्रामाण्य हए। इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रामाण्य की समस्या का जन्म हुआ। कालान्तर में इस विषय से संबंधित अनेक सिद्धांत विचारधारा के क्षेत्र में उदित हुए। प्रामाण्य से संबंधित इन समस्त सिद्धांतों को 'प्रामाण्यवाद' का नाम दिया गया है।

स्पष्टत: प्रामाण्यवाद संबंधी समस्त विवेचन का प्रारंभिक बिन्दु शब्द प्रमाण (वेद) ही रही। कालान्तर में इस विवाद नै तर्कशास्त्र के क्षेत्र में व्यापक रूप धारण किया और प्रत्यक्षादि समेत समस्त ज्ञान 'प्रामाण्य' के तराजू में तौले जाने लगा। अब सभी प्रमाणों के स्वतस्त्व और परतस्त्व की चर्चा होने लगी। यह चर्चा उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दोनों ही दृष्टियों से हुई।

भारतीय ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के प्रामाण्य की चर्चा सर्वप्रथम किस आचार्य ने की यह कहना तनिक कठिन है। किन्तु भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास के इतिहास से इस विष्य के विकास के कालक्रम को रेखांकित किया जा सकता है।

इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि मीमांसा के आचार्य कुमारिल भट्ट और बौद्ध आचार्य ध र्मकीर्ति समकालीन थे। मीमांसा मत के आचार्य प्रभाकर मिश्र भी कुमारिल भट्ट के समकालीन ही माने जाते हैं। इस प्रकार कुमारिल और प्रभाकर तथा धर्मकीर्ति के काल लगभग एक ही हैं। धर्मकीर्ति सातवीं शताब्दी में हुए। इस प्रकार कुमारिल और प्रभाकर भी सातवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं। पुन: जैमिनी सूत्र के शाबरभाष्य पर मीमांसा के इन दोनों ख्यातनाम आचार्यों की टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनमें शाबरभाष्य के प्रथम पाद 'तर्कपाद' पर कुमारिल की 'श्लोकवार्तिक' तथा प्रभाकर की 'वृहती' नामक कालजयी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों में प्रामाण्य संबंधी सिद्धांतों का वृहत विवेचन उपलब्ध है।

इसी आधार पर यह समझा जाता है कि वेदों की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम मीमांसा मत के प्रणेता ऋषि जैमिनी ने द्वितीय शताब्दी के अपने ग्रंथ मीमांसासूत्र में प्रामाण्यवाद का बीज वपन किया। शाबरभाष्य में, जिसका काल चौथीख्रपाँचवीं शताब्दी के पूर्व को समझा जाता है, में यही बीज अंकुरित हुआ जिसने सातवीं शताब्दी में कुमारिल और प्रभाकर के चिंतन में विराट् वृक्ष का रूप धारण कर लिया।

जैन न्याय का आदिकाल प्रथम शताब्दी माना जा सकता है। इस काल में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'प्रवचनसार' नामक ग्रंथ में तर्कपूर्ण शैली में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षणों का निरूपण किया। उनके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वाति ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक ग्रंथ में प्रथम शताब्दी में ही ज्ञान विषयक प्रश्नों का विवेचन किया। इसके पश्चात् समन्तभद्र स्वामी (तृतीय शताब्दी) तथा सिद्धसेन दिवाकर (छठी शताब्दी) आदि आचार्यों ने प्रमाण विषयक प्रश्नों का विशद् विवेचन किया। इनके अतिरिक्त जैनन्याय के देदीप्यमान नक्षत्र अकलंक, माणिक्यनन्दी, प्रभाचंद्र आदि ने भी जैन न्याय को समृद्ध किया, किन्त ऐसा समझा जाता है कि जैन न्याय में प्रामाण्यवाद की समस्या का वाधिक प्रकृष्ट उल्लेख आचार्य हेमचंद्र सूरि ने 'प्रमाणमीमांसा' नामक ग्रंथ में किया। इस । का काल बारहवीं शताब्दी समझा जाता है।

यद्यपि यह समझा जाता है कि बौद्ध न्याय का प्रथम प्रस्फुटन दिग्नाग के ग्रंथों में हुआ किन्तु इस संबंध में एक बड़ा सत्य यह भी है कि दिग्नामग के भी पूर्व वसूबंधु के अभिधर्मकोश में प्रमाण ाों का अति संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। इसके पूर्व पिटक ग्रंथों में भी 'विज्ञान' की चर्चा मिलती है जिसे कतिपय विद्वान बौद्ध ज्ञानमीमांसा का प्रछन्न विवेचन बतलाते हैं। सुत्तपिटक (दीघनिकाय, जिसका काल 490 ई. पू. समझा जाता है) के ब्रह्मकाल सूत्र में 'तार्किक ब्राह्मणों (तक्की)' के उल्लेख मिलते हैं जिससे यह निश्चय किया जा सकता है कि पिटक काल तक बौद्ध विचारक तर्क अथवा ज्ञानमीमांसा को निकृष्ट दृष्टि से ही देखते थे। तथापि इसी काल के मज्झिमनिकाय के अनुमान सुत्त में, खुद्दक निकाय के उदान में, विनयपिटक के परिवार में ज्ञानमीमांसीय विवेचन के सूत्र प्रछन्न रूप से मिलते हैं। बौद्ध न्याय के जनक के रूप में ख्यात दिग्नाग (पाँचवीं शताब्दी) के ख्यातिलब्ध ग्रंथ 'प्रमाण समुच्चय' का मूल संस्कृत पाठ यद्यपि आज पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं है तथापि इसके उपलब्ध तिब्बतीय पाठ से ऐसा ज्ञात होता है कि तर्क और ज्ञानमीमांसा के इस लब्ध प्रतिष्ठ ग्रंथ में प्रामाण्यवाद का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसा समझा जाता है कि बौद्ध नैय्यायिकों में सर्वप्रथम धर्मकीर्ति (सातवीं शताब्दी) ने अपने ग्रंथ प्रमाणवार्तिक में 'प्रामाण्य' शब्द का उल्लेख किया है। प्रमाणवार्तिक के टीकाकार मनोरथनन्दी ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए 'प्रामाण्य' पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। वस्तुत: बौद्ध वांङ्गमय में प्रामाण्यवाद पूर्ण प्रस्फुटन शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह और कमलशील के तत्त्वसंग्रह पंजिका में हुआ है।

न्यायादर्शन का प्रारंभ ही ज्ञानमीमांसा एवं तर्कशास्त्र के साथ होता है। इस सम्प्रदाय का प्रारंभ गौतम के न्याय सूत्र से माना जाता है। परवर्ती काल (300 ईस्वी) में वात्स्यायन ने इस पर भाष्य लिखा। इस ग्रंथ में प्रमा और प्रमाण विषयक गूढ़ विवेचन पाये जाते है किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य की चर्चा यहाँ भी उपेक्षित है। न्याय दर्शन में प्रामाण्यवाद का बीज रूप उल्लेख सर्वप्रथम उद्योतकर ने छठी शताब्दी के लगभग किया। 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ इत्यादि भाष्य वचन की व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने कहा कि जब कोई प्रमाता प्रमाण से अर्थ का निश्चय करके किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति सफल होती है किन्तु जब प्रमाणाभास के द्वारा अर्थ का निश्चय करके व्यक्ति प्रवृत्त होता है तब यह प्रवृत्ति असफल होती है। नवीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका में न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक के उपरोक्त अंश की व्याख्या करते हुए ज्ञान के प्रामाण्यख्रअप्रामाण्य का अपेक्षाकृत स्पष्ट विवेचन किया। परवर्ती काल में जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में प्रामाण्यवाद का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया। गंगेशपाध्याय के अवतरण के साथ

नोट

नव्य-न्याय के उदित होने पर न्यायशास्त्र में प्रामाण्यवाद की ओर से गूढ़ विवेचनाएँ प्रस्तुत की गईं। तत्त्वचिंतामणि में स्वयं गंगेशोपाध्याय ने प्रामाण्य की गूढ़ विवेचना प्रस्तुत की। आगे चलकर नव्य न्याय की दो शाखाएँ हुई-(1) मैथिल शाखा और (2) नवद्वीप शाखा। रघुनाथ शिरोमणि (1500 ईस्वी) ने तत्त्वचिंतामणि पर 'दधिचि' नामक टीका लिखी जिस पर व्याख्या करते हुए गदाधर भट्टाचार्य (1700 ईस्वी) ने प्रामाण्यवाद के विवेचन को इसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया। इस विवेचन में चमत्कारिक शब्दावली का प्रयोग है जिसके कारण इस विवेचन पर अस्पष्टता के आरोप लगते आ रहे हैं। यह समझा जाता है कि न्याय दर्शन के समस्त ग्रंथों में प्रामाण्य का सर्वाधिक स्पष्ट विवेचन जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में किया है।

वैशेषिक सम्प्रदाय को न मात्र अति प्राचीन वरन कुछ अर्थों में न्याय के पूर्ववर्ती अंग के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। बौद्ध परम्परा में इसकी प्राचीनता का उल्लेख करते हुए आर्यदेव के शतशास्त्र के टीकाकार चीनी विचारक, चत्मान ने वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक का नाम उलूक बतलाते हुए इनका काल आठ सौ ई. पू. घोषित किया है। साधारणतः वैशेषिक सूत्र को वैशेषिक दर्शन का प्रारंभिक ग्रंथ माना जाता है जिसके रचयिता कणाद ऋषि है। कणाद का काल 300 ई. पू. समझा जाता है। वैशेषिक सूत्र में यद्यपि प्रामाण्यवाद का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता किन्तु वेदों की प्रमाणि ाकता के संदर्भ में यहाँ 'प्रामाण्य' शब्द का व्यवहार हुआ है-'तद्‌चनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (वैशेषिक सूत्र 1/1/3) डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार वैशेषिक सुत्र पर सर्वाधिक प्राचीन 'रावणभाष्य' है जो आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध भाष्यों में सर्वाधिक प्राचीन प्रशस्तपाद भाष्य है। इस भाष्य के रचनाकाल को लेकर विवाद है कि यह न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य की अपेक्षा अधिाक प्राचीन है अथवा नही। प्रशस्तपाद भाष्य में भी प्रामाण्यवाद का कोई विस्तृत अथवा प्रासंगिक विवरण नहीं मिलता। किन्तु प्रशस्तपाद भाष्य की जो टीका श्रीधर ने लिखी उसमें प्रमाण्यवाद का विस्तृत विवेचन मिलता है, यद्यपि यह विवेचन जयन्त कृत न्यायमंजरी के विवेचन से इतर है।

षड् दर्शन में कपिल मुनि के सांख्य दर्शन को सर्वाधिक प्राचीन समझा जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ सांख्यकारिका है। सांख्यकारिका की कई टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें ज्ञान विषयक विवेचन पाये जाते है किन्तु प्रामाण्य विषयक विवेचन का यहाँ कोई स्थान नहीं दिया गया। है। तथापि इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मध्वाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में सांख्य को स्पष्टतः स्वतः प्रामाण्यवादी घोषित किया है। संभवतः सांख्यों के सत्कार्यवादी होने के कारण ही उन्हें स्वतः प्रामाण्यवादी घोषित किया गया है। अन्यत्र वाचस्पति मिश्र ने वेदों का स्वतः प्रामाण्य बतलाते हुए लिखा है ''तृच्च स्वतःप्रमाणम् अपौरूषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाऽऽशंका-विनिर्मुक्तयेर्युक्तं भवति।''

वेदान्त दर्शन के परम्परागत ग्रंथों में प्रमाणमीमांसा 'न' के बराबर पाई जाती है किन्तु नव्य वेदान्ती प्रमाणमीमांसा में प्रवृत होते हैं। धर्मराजध्वरीन्द्र कृत वेदान्त परिभाषा में प्रामाण्यवाद का अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

'प्रामाण्य' का अर्थ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय दर्शन में प्रामाण्वाद की समस्या वेदों अथवा वेद वाक्यों की प्रामाणिकता संबंधी प्रश्नों से प्रारंभ हुई। यह प्रश्न मूलतः इस प्रकार का था कि ''वेद वाक्यों की यथार्थता का आधार क्या है?" अथवा "वेद वाक्यों को सत्य क्यों स्वीकार किया जाय?'' अथवा

'वेद वाक्यों के पक्ष में क्या प्रमाण उपलब्ध हैं।'' स्पष्टत: 'प्रामाण्य' शब्द के दो अर्थ हुए हैं - (1) प्रमाणयुक्त होना' (प्रमाणिक होना), तथा (2) सत्य अथवा यथार्थ होना। भारतीय ज्ञानमीमांसा में यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा के तीन संघटक स्वीकार किए गए-प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता। यहाँ यथार्थ ज्ञान को प्रमा' कहा गया तथा जो ज्ञान प्रमाणयुक्त नहीं है वह ज्ञान 'प्रमा' की कोटि से बहिष्कृत होता है। इस प्रकार ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न ज्ञान की 'यथार्थता' का प्रश्न है। यही कारण है कि भारतीय ज्ञानमीमांसा में ज्ञान प्राप्ति के साधन (प्रमाण) निरूपण के साथ-साथ ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) और अयथार्थता (अप्रामाण्य) की भी विशद विवेचनाएँ हुई।

5.5 स्वत: और परत: प्रामाण्यवाद

भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य विषयक मूलत: दो प्रकार के मत मिलते हैं- स्वत: प्रमाण्यवाद और परत: प्रामाण्यवाद। पुन: प्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व पर मुख्यत उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दो दृष्टियों से विचार किया गया है। उत्पत्ति की दृष्टि से स्वत: प्रामाण्यवाद का अर्थ प्रामाण्य विषयक वह सिद्धांत है जिसके अनुसार जिस कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी कारण से ज्ञान की प्रमाणिकता भी उत्पन्न होती है। इस प्रकार ज्ञान के भीतर ही उसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अन्तर्भूत होता है। ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतस्त्व का अर्थ है कि जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी साधन से ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण भी संभव है।

साधारण शब्दों में कहें तो प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति का प्रश्न ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान की कसौटी के प्रश्नों के तुल्य है। इन दो प्रश्नों के भेद को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लें मुझे ऐसा बोध रहा है कि मेरी ज्ञानमीमांसा की पुस्तक इस कमरे में नहीं है। मेरा यह ज्ञान कि 'मेरी ज्ञानमीमांसा की पुस्तक इस कमरे में नहीं है।' तभी और सिर्फ तभी सत्य होगा जबकि वस्तुत: मेरी ज्ञानमीमांसा की पुस्तक इस कमरे में नही हो, किन्तु इस बात की जाँच कि 'मेरी ज्ञानमीमांसा की पुस्तक इस कमरे में नहीं है' इस प्रकार संभव हो सकती है कि मैंने देखा कि मेरी पुस्तक टेबुल पर नहीं है, अलमारी में नहीं है.... तथा इस ज्ञान को सत्य पाया कि मेरी ज्ञानमीमांसा की पुस्तक इस कमरे में नहीं है। उपरोक्त ज्ञान की सत्यता की यह कसौटी पुस्तक के कमरे में उपस्थित होने या नहीं होने से भिन्न है। यह सर्वथा संभव है कि पुस्तक इस कमरे में है किन्तु मैं इस तथ्य की ठीक-ठीक जाँच नहीं कर पा रही होऊँ अथवा पुस्तक के किसी कारणवश ढूँढ़ नहीं पा रही होऊँ।

कुछ अन्य दार्शनिकों ने कार्य विषयक स्वतस्त्व का भी उल्लेख किया है। इस मत के अनुसार ज्ञान अपने अर्थबोधन रूप कार्य में स्वयं ही समर्थ होता है, यह अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता। कुमारिल के अनुसार जिस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है कि उसी से उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है और जिस ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य में प्रामाण्य स्वत: ही सिद्ध होता है।

इसके विपरीत परत: प्रामाण्यवाद प्रामाण्य विषयक वह मत है जिसके अनुसार ज्ञान उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य तीनों में ही पराश्रित होता है। परत: प्रामाण्यवादी नैय्यायिकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से की जाती है किन्तु उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणवतकारण भाव से होती है। इस प्रकार होता है। ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है

और ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति सामर्थ्य से होता है।

प्रामाण्य विषयक चार मत

मध्वाचार्य ने अपने ग्रंथ सर्वदर्शन संग्रह में भारतीय दर्शनोक्त प्रामाण्यवाद को चार कोटियों में बाँटते हुए लिखा है-

नोट

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: सांख्या समाश्रिता:
नैय्यायिकास्ते परत:, सौगताश्चरमं स्वत:
प्रथमं परत: प्राहु:, प्रामाण्यं वेदवादिन:
प्रमाणत्व स्वत: प्राहु: परतश्चाप्रमाणताम्।''

इस प्रकार मध्वाचार्य के अनुसार भारतीय दार्शनिकों के प्रामाण्य विषयक मतों को वा वर्गों में रखा जा सकता है-

1) प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक स्वतस्त्ववाद - यह मत सांख्या का है जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति और ज्ञाप्ति दोनों ही विषयों को लेकर स्वतस्त्ववादी है। सांख्य मत के अनुसार उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दोनों ही दृष्टियों से ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता स्वयंभू और स्वत: प्रकाश्य है। आधुनिक तर्कशास्त्र की शब्दावली में कहें तो सांख्य मतानुसार सत्यता और असत्यता निर्णयों के स्वाभाविक लक्षण है और निर्णयों में ही अन्तर्भूत होते हैं। इस प्रकार किसी विशेष निर्णय की सत्यता-असत्यता की जाँच उस निर्णय विशेष के परे अन्य निर्णय द्वारा संभव नहीं। सांख्य मतानुसार विषय के बोध के साथ ही बोध में सत्यता अथवा असत्यता उत्पन्न होते हैं और ज्ञान की सत्यता-असत्यता का बोध भी ज्ञाता को स्वयं ज्ञाता के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रदान नहीं कर सकता। कौन-सा ज्ञान यथार्थ है और कौन ज्ञान अयथार्थ है-इसका एकमात्र निर्णायक स्वयं ज्ञाता ही है। सांख्य तत्त्वमीमांसा के अनुसार सभी विषयों का ज्ञाता अथवा प्रमाता पुरुष ही है जो अपने चौतन्य स्वरूप के कारण प्रमा और अप्रमा रूप ज्ञान के भेद को स्वयं ही जान जाता है।

2) प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक परतस्त्ववाद - यह मत नैय्यायिकों का है नैय्यायिक पूर्णत: परत: प्रामाण्यवादी है अर्थात् न्याय मतानुसार किसी भी ज्ञान का प्रमााण्य उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दोनों ही दृष्टियों से स्वत: इस ज्ञान के परे किसी अन्य ज्ञान अथवा उपाधियों पर आश्रित होता है। न्याय मतानुसार ज्ञान प्रमा अथवा अप्रमा रूप हो सकता है। ज्ञाता के भीतर ज्ञान अथवा विषय के बोध की उत्पत्ति के लिए कुछ बाह्य कारक उत्तरदायी होते हैं। जब ज्ञान गुणवत कारणों के द्वारा उत्पन्न होता है तो यह प्रमा रूप होता है और जब ज्ञान की उत्पत्ति में गुणवत-कारण-दोष होता है तो ज्ञान अप्रामाण्ययुक्त अथवा अप्रमा रूप होता है। इसी प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण भी ज्ञानान्तर संवाद अथवा प्रवृत्तिसामर्थ्य के द्वारा होता है।

आधुनिक तर्कशास्त्र की शब्दावली में कहें तो न्याय मतानुसार जिन बाह्य उपाधियों पर विषय का बोध आश्रित होता है वे बाह्य उपाधियाँ यदि यथेष्ट हैं अथवा दोषपूर्ण नहीं है तो ज्ञान सत्य होगा अन्यथा असत्य होगा, उदाहरणार्थ, यदि ज्ञाता पाण्डुरोग से ग्रसित नहीं हो तो पीले रंग का उसका अवबोध यथार्थ है और यदि पाण्डुरोग से ग्रसित है तो पीले रंग का अवबोध अयथार्थ, (भ्रमात्मक) है। इसी भाँति किसी ज्ञान 'प' की कसौटी भी 'प' से भिन्न है, यथा यह जल है', यह ज्ञान तभी

सत्य होगा जबकि इससे प्यास बुझ सके।

3) प्रामाण्य के विषय में स्वतस्त्ववादी और अप्रामाण्य के विषय में परतस्त्ववादी – यह मत मीमांसकों और वेदान्तियों का है। मध्वाचार्य के अनुसार वेदान्ती प्रामाण्य के संबंध में स्वत: प्रामाण्यवादी है और अप्रामाण्य के विषय में परत:वाद का समर्थन करते है। मीमांसा तथा वेदान्त मत के अनुसार सत्यता ज्ञान का स्वाभाविक लक्षण है अत: अपने मूल रूप में प्रत्येव, ज्ञान सत्य है किन्तु कुछ बाह्य कारणों (मायादि) से ज्ञान में अयथार्थता अथवा अप्रमात्व उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान की यथार्थता अथवा प्रामाण्य का ग्रहण (ज्ञाप्ति) भी स्वत: ही होता है। किन्तु अप्रामाण्य (अयथार्थता) की परीक्षा ज्ञान से परे अन्यत्र जाकर करनी होती है।

4) प्रामाण्य के विषय में परतस्त्ववादी और अप्रामाण्य के विषय में स्वतत्ववादी – इस मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अपनी उत्पत्ति में तो दोषपूर्ण (अप्रागण्य) ही होता है किन्तु साधना आदि के द्वारा ज्ञाता ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न कर लेता है। इसी प्रकार प्रामाण्य का ग्रहण (ज्ञाप्ति) भी कुछ बाह्य कारणों पर आधारित होता है किन्तु अप्रामाण्य की ज्ञाप्ति स्वत: ही हो जाती है।

मध्वाचार्य यह मानते हैं कि यह इस मत के समर्थक सौगत (बौद्ध) है। प्राय: जैन प्रमाण मीमांसकों को भी इसी श्रेणी में रखा जाता है। किन्तु विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो यह मानता है कि बौद्ध और जैन प्रामाण्यवाद के संदर्भ में अनियमावादी है, अर्थात् बौद्ध और जैन मतानुसार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दोनों ही दृष्टियों से कहीं तो स्वत: होता है और कहीं परत:।

5.6 विविध दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रामाण्यवाद की उद्भावना

सांख्य मत

सांख्य स्वत: प्रामाण्यवादी हैं। सांख्य मतानुसार उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दोनों ही दृष्टियों से ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वभावत: अन्तर्भूत होते हैं।

सांख्य का स्वत: प्रामाण्यवाद सांख्य सत्कार्यवाद और व्यवहारिक ज्ञान की प्रकाशिका व्यवहारिक बुद्धि की धारणा की अनिवार्य परिणति है। सांख्य सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य बीज रूप में अपने कारण में उपस्थित रहता है। इसका अनिवार्य परिणाम सांख्य ज्ञानतमीमांसा के क्षेत्र में यह होता है कि यदि ज्ञान सत्य है अथवा ज्ञान असत्य है (कार्य) तो यह सत्यता अथवा असत्यता अनिवार्यत: ज्ञान (कारण) में ही विद्यमान होगा। यही सांख्यों का उत्पत्ति विषयक प्रामाण्यवाद हैं।

ज्ञाप्ति की दृष्टि से भी सांख्य स्वत: प्रामाण्यवाद का दृढ़ आश्रय लेते हैं, अर्थात् ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का ग्रहण भी ज्ञान के ग्रहण अथवा बोध की उत्पत्ति के साथ ही हो जाता है। सांख्य के इस प्रामाण्यवाद का मूल सांख्य के विकासवाद विषयक सिद्धांत में छुपा है। सांख्य विकासवाद के अनुसार महत् अथवा बुद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूपान्तरण है। प्रकृति के त्रिगुण गात्मक स्वरूप के कारण स्वभावत: बुद्धि भी त्रिगुणात्मिकता ही है। इस बुद्धि में सत्व, रजस और तमस तीनों ही उपस्थित हैं। पुन: सांख्य मतानुसार ज्ञान बुद्धि की वृत्ति है अर्थात् बुद्धि ही ज्ञान का रूप धरती है। उदाहरणार्थ घट के बोध में बुद्धि ही घट का रूप धारण करती है। इस अवस्था में बुद्धि के तीनों गुण-सत्व, रजस और तमस-साम्यवस्था में नहीं होते, अर्थात् कभी सत्व की प्रधानता

होती है, कभी रजस की, तो कभी तमस की। जब ज्ञान में सत्व प्रधान होता है तो ज्ञान प्रामाण्य होता है, जब तमस प्रधान होता है तो ज्ञान अप्रामाण्य होता है और जब रजस की प्रधानता होती है तो ज्ञान संदिग्ध हो उठता है। बुद्धि में सत्व, रजस और तमस तीनों गुण सदैव विद्यमान होते है अतएव प्रत्येक ज्ञान सदैव प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों होता है।

नोट

सांख्य प्रामाण्यवाद की कठिनाई यहीं से प्रारंभ होती है। प्रश्न है कि क्या प्रत्येक ज्ञान का सदैव एक ही साथ प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही हो सकना संभव है ?

यह प्रश्न 'प्रामाण्य' और 'अप्रामाण्य' के कुछ और अधिक सावधान विवेचन की अपेक्षा रखता है। यहाँ प्रश्न यह होगा कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य का परस्पर संबंध कैसा है? यदि दोनों के बीच का संबंध विपरीत हो तो ये दोनों कछ स्थितियों में साथ-साथ रह सकते हैं, अर्थात् कुछ स्थितियों में एक ही ज्ञान का एक ही साथ प्रामाण्य और अप्रामाण्य युक्त होना संभव है किन्तु यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य के बीच का संबंध व्याघातक है तो इनके बीच कभी भी संगति संभव नहीं होगी।

साधारणत: 'अप्रामाण्य' का अर्थ प्रामाण्य का अभाव' से लगाया जाता है। भाव और अभाव में प्राय: व्याघात का संबंध ही स्वीकार किया जाता है। यदि भाव और अभाव में वस्तुत: व्याघात का संबंध हो तो, इस प्रकार किसी भी ज्ञान का एक ही साथ प्रामाण्य और अप्रामाण्य युक्त होगा तर्कत: असंभव है।

तथापि सांख्य ज्ञान को एक ही साथ प्रामाण्य और अप्रामाण्य युक्त स्वीकार करते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य मत में तर्कदोष है।

किन्तु उस दोष का निराकरण भी संभव दिखता है। भारतीय ज्ञानमीमांसा में अभाव विषयक विशद् विवेचन देखने को मिलती हैं। बौद्धों के अभाव विषयक विवेचन पर दृष्टिपात करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भाव और अभाव का संबंध व्याघात का न होकर परस्पर-परिपूरक का है। पाश्चायत्य दार्शनिक ब्राडले ने भी भाव और निषेध को एक ही सत्ता के दो पक्षों के रूप में देखा है। भावात्मक और निषेधात्मक प्रतिज्ञप्तियों के संबंध की तुलना करें तो भी भाव और निषेध परस्पर बहिष्कारक की अपेक्षा परस्पर परिपूरक की ही भूमिका का अधिक निवर्हन करते प्रतीत होते हैं। वस्तुत: सावध ानीपूर्वक विवेचन करने पर भाव और निषेध विपरीत भले प्रतीत हो, व्याघाती नहीं प्रतीत होते। यदि भाव और निषेध व्याघाती होते तो भ्रम असंभव होता क्योंकि भ्रम में एक क्षण में जिस वस्तु का बोध भाव के रूप में होता है (साँप के बोध का भाव) दूसरे क्षण में उसी वस्तु का बोध (साँप के बोध का अभाव) अभाव रूप होता है। यदि रज्जु-सर्प के ज्ञान में एक ही साथ वस्तु के बोध का भाव और अभाव उपस्थित नहीं होते तो परवर्ती क्षण में वहाँ सर्प के बोध का अभाव अथवा रज्जु के बोध का उदय भी संभव नहीं था। इस प्रकार सांख्य सत्कार्यवाद के अनुसार ज्ञान में भाव और अभाव (प्रामाण्य और अप्रामाण्य) का एक साथ उपस्थित रहना न सिर्फ संभव दिखता है वरन तकर्सिद्ध भी निश्चित होता है।

समकालीन पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा पर यदि दृष्टिपात करें तो भी आनुभविक दृष्टि से सत्य और असत्य (यथार्थता और अयथार्थता-प्रामाण्य और अप्रामाण्य) दोनों व्याघाती की अपेक्षा विपरीत ही प्रमाणि ात होते हैं। यदि ये दोनों व्याघाती होते तो एक बार किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्य प्रमाणित हो जाने पर व्याघात के नियम से हम इस बात के लिए सदैव के लिए निश्चित हो जाते कि यह प्रतिज्ञप्ति सत्य

है और इस रूप में अशोध्य है। उदाहरणार्थ, काली बिल्ली का काली नहीं होना व्याघातक है अतएव एक बार 'काली बिल्ली' को स्वीकार करने पर उसका 'काली नहीं होना अनिवार्य रूप से अस्वीकार कर दिया जाता है। इसी भाँति यदि हम कुछ जाँच के पश्चात् इस कलम को लाल स्वीकार कर लेते हैं तो फिर व्याघात के नियम से इस ज्ञान को अशोध्य हो जाना चाहिए था। किन्तु हम जानते हैं कि आनुभाविक कथन अथवा आनुभविक ज्ञान सदैव संभावित ही होते हैं, अनिवार्य नहीं। वस्तुत: किसी भी व्यावहारिक ज्ञान को सत्य स्वीकार करने पर भी उसके असत्य होने की संभावना बनी रहती है। सांख्य भी अपनी यह समस्त विवेचना व्यवहारिक ज्ञान के संदर्भ में ही करते हैं। अतएव सांख्य के इस कथन में कोई दोष नहीं दिखता कि ज्ञान सदैव प्रामाण्य और अप्रामाण्ययुक्त होता है। वस्तुत: सांख्य का अभिप्राय मात्र इतना है कि व्यवहारिक ज्ञान कभी भी अशोध्य नहीं होता।

नोट

सांख्य प्रामाण्यवाद सांख्य सत्कार्यवाद की अनिवार्य परिणति है। सांख्य सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में उपस्थित होता है। इसी आधार पर सांख्य वाद के समर्थक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वत: ज्ञान में ही नहीं होंगे तो इनका प्रकाशन भी संभव नहीं होगा क्योंकि सत्कार्यवान के अनुसार कार्य तो कारण का प्रकाशनमात्र होता है।

परत: प्रामाण्यवादी नैय्यायिक सांख्य के इस मत का कड़ा विरोध करते है। उपका विरोध सत्कार्यवाद के मूल सिद्धांत से ही है। उनके अनुसार यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में निहीत है तो इससे न मात्र कार्य कारण का भेद खंडित होता है वरन् कारणता की अवधारणा भी खंडित होती है क्योंकि कारणता एक प्रकार का संबंध है और संबंध सदैव दो या दो से अधिक संबंधियों (पद) की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार परत: प्रामाण्यवादी सांख्य प्रामाण्यवाद की अवधारणा के मूल को खंडित करने का प्रयास करते है।

पुन: जैसा कि भारतीय दर्शन में सर्वत्र पाया जाता है कि किसी भी सम्प्रदाय की ज्ञानमीमांसा उसकी तत्त्वमीमांसा से अवियोज्य होती है, सांख्य प्रमाणण्यवाद भी सांख्य की तत्त्वमीमांसा (पुरुष और प्रकृति के द्वैत तथा इनके संबंधों के कारण उद्भूत विकासवाद) पर आधारित है। यही कारण है कि सांख्य समस्त व्यवहारिक जगत और उसके समस्त ज्ञान को बुद्धि का विपर्यय-मात्र मानते हैं। ऐसी स्थिति में, जबकि ज्ञान बुद्धि का विपर्यय-मात्र है, ज्ञान का प्रामाण्य भी ज्ञाता की बुद्धि पर ही आश्रित सिद्ध होता है। इसी अर्थ में सांख्य ज्ञानमीमांसा में ज्ञान, यथार्थता अथवा सत्य को 'स्वत:प्रकाशय' कहा जाता है।

स्वभावत: सांख्य प्रामाण्यवाद मत के विरोधियों का अंतिम प्रहार सांख्य तत्त्वमीमांसा पर ही होता है जो तत्त्वमीमांसा परतस्त्ववादियों की तत्त्वमीमांसा से सर्वथा भिन्न है।

न्याय मत

प्रामाण्यवाद के दूसरे छोर पर न्याय मत खड़ा है जिसके अनुसार उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दोनों ही दृष्टियों से ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही कुछ बाह्य कारकों पर आधारित होते हैं। यही न्याय का परत:प्रामाण्यवाद है। अपनी तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा में न्याय वास्तववाद के समर्थक हैं। तत्त्वमीमांसीय रूप से वास्तववाद बाह्य जगत की यथार्थ सत्ता में विश्वास करता है। यह वास्तववाद जब ज्ञानमीमांसा में प्रविष्ट होता है तो यह ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत भी स्वीकार करता है। अपने इसी वास्तववाद को असंगति से बचाते हुए न्याय सांख्यों की प्रत्ययवादी ज्ञानमीमांसा के विपरीत वास्तववादी

ज्ञानमीमांसा की स्थापना करते हुए ज्ञाता से स्वतंत्र एक वस्तुजगत के वस्तुपरक ज्ञान की बात करने लगते हैं। न्याय मतानुसार ज्ञान कुछ बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है। जब ये बाह्य कारक गुणवत् होते हैं तो ज्ञान प्रामाण्ययुक्त होता है और जब ये बाह्य कारक गुणवत दोष से ग्रस्त होते हैं तो ज्ञान अप्रामाण्य होता है। शब्दान्तर से, उत्पत्ति विषयक न्याय प्रामाण्यवाद के अनुसार जिस कारण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है (ज्ञान के सामान्यकरण) उसी कारण से प्रामाण्य अप्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती। प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य ज्ञान के विशिष्ट गुण है। यथा, प्रत्यक्ष में ज्ञान की उत्पत्ति का सामान्य करण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष है किन्तु इस कारण ज्ञान मात्र का उदय होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमा रूप भी हो सकता है और अप्रमा रूप भी हो सकता है। ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञान के इस सामान्य करण के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट करण भी संयुक्त होते हैं, यथा रंग के प्रत्यक्ष में रंग का इन्द्रिय से संपर्क प्रत्यक्ष ज्ञान का सामान्यकरण है किन्तु प्रकाश की यथेष्टता, चक्षुदोष का अभाव आदि इस प्रत्यक्ष विशिष्ट करण हैं। इन विशिष्ट करणों को नैय्यायिकों ने 'गुणवत कारण' की संज्ञा दी है। ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के लिए यही विशिष्ट कारण अथवा गृणवत कारण उत्तरदायी होते है।

विशिष्ट करणों के दोषपूर्ण होने से अथवा गुणवत कारण दोष से से ज्ञान अप्रामाण्य होता है तथा विशिष्ट करणों के निर्दोष होने अथवा गुणवत कारण भाव से ज्ञान प्रामाण्य हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति तथा प्रामाण्य की उत्पत्ति दोनों पृथक हैं। यही उत्पत्ति की दृष्टि से न्याय का परतः प्रामाण्यवाद है।

न्याय मतानुसार ज्ञाप्ति की दृष्टि से भी ज्ञान और प्रामाण्य का ग्रहण पृथक-पृथक होता है। ज्ञान की ज्ञाप्ति ज्ञान की उत्पत्ति के ही साथ होती है किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञाप्ति इसके अनन्तर होती है। यथा 'पीत वस्तु' के ज्ञान के साथ ही वस्तु के पीत होने के बोध' का बोध प्राप्त हो जाता है (ज्ञान की ज्ञाप्ति) किन्तु पीत वर्ण का यह ज्ञान प्रामाण्य (यथार्थ) है अथवा अप्रामाण्य (अयथार्थ), इसका ज्ञान कुछ अनन्तर परीक्षणों की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार न्याय मतानुसार ज्ञान की ज्ञाप्ति तो स्वतः है किन्तु प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की ज्ञाप्ति परतः है।

ज्ञान के प्रामाण्य का परीक्षण (ज्ञाप्ति) न्याय मतानुसार तीन प्रकार से संभव है- (1) प्रवृत्ति सामर्थ्य, (2) ज्ञानांतर संवाद, तथा (3) गुणवंत कारण ज्ञान।

प्रवृत्ति सामर्थ्य - न्याय मत के अनुसार विषय के बोध के साथ ज्ञाता में ज्ञान विषयक अथवा बोध-विषयक एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि यह बोध अथवा ज्ञान इस प्रवृत्ति के पोषण में समर्थ है तो ज्ञान को प्रवृति सामर्थ्य युक्त कहा जाता है। यथा, घट के बोध से ज्ञाता के भीतर इस घट में जल संग्रह करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि ज्ञाता वस्तुतः इस घट में जल संग्रह कर सके तो ज्ञान को प्रवृत्ति सामर्थ्य युक्त और इस कारण से प्रमाण युक्त (यथार्थ) स्वीकार किया जा सकता है।

ज्ञानांतर संवाद - अनेक ज्ञान ऐसे हैं जिनका प्रामाण्य ग्रहण प्रवृत्ति सामर्थ्य से नहीं होता। ऐसे ज्ञान का प्रामण्य ग्रहण ज्ञानांतर संवाद से होता है। यदि कोई ज्ञान 'क' किसी अन्य ज्ञान 'ख' से संवाद रखता है तो इस प्रकार के संवाद अथवा संगति को ज्ञानांतर संवाद की संज्ञा दी जाती है। यथा, देवदत्त नदी पर जल लाने गया हैख्रइस ज्ञान की पुष्टि इस ज्ञान से होती है कि देवदत्त इस समय घर में उपस्थित नहीं है।

गुणवत कारण ज्ञान – ज्ञान की उत्पत्ति में दो प्रकार के कारण प्रयुक्त होते हैं–सामान्य करण और विशिष्ट करण। यदि ज्ञान के विशिष्ट करण दोषपूर्ण सिद्ध होते हैं। तो ज्ञान अप्रामाण्य होता है और यदि ज्ञान के विशिष्ट करण गुणवत सिद्ध होते हैं तो ज्ञान प्रामाण्य होता है, यथा पीत शंख का ज्ञान पाण्डु रोग प्रसित चक्षु के दोष (विशिष्ट करण दोष) के कारण होता है अत: यह ज्ञान अप्रामाण्य है।

नोट

न्याय द्वारा स्वत: प्रामाण्यवाद का निराकरण (न्यायमंजरी पर आधारित)

जैसा कि प्रामाण्यवाद की समस्या के उद्‌भव और विकास के क्रम में हम देख चुके है, न्याय प्रामाण्यवाद का सर्वाधिक विशद् विवेचन जयन्त कृत न्यायमंजरी में मिलता है, अतएव प्रस्तुत संदर्भ का हमारा अगला विवेचन मूलत: जयन्त कृत न्यायमंजरी पर आधारित है। न्यायमंजरी में जयन्त भट्ट ने सांख्य के स्वत: प्रामाण्यवाद और अप्रामाण्यवाद, मीमांसकों के स्वत: प्रामाण्यवाद और बौद्धों के स्वत: अप्रामाण्यवाद का विस्तृत विवेचन और खंडन प्रस्तुत किया है। मीमांसकों, विशेषत: कुमारिल भट्ट, के स्वत: प्रामाण्यवाद का जैसा विशद् वर्णन जयन्त भट्ट ने अपने प्रामाण्यवाद के पूर्वपक्ष के रूप में किया है वैसा वर्णन स्वयं कुमारिल भट्ट ने भी अपने प्रामाण्यवाद का नहीं किया है।

अस्तु, स्वत: प्रामाण्यवाद के खंडन के क्रम में जयन्त भट्ट ने प्रथमत: सांख्यों के प्रामाण्यवाद का, विशेषत: ज्ञाप्ति, विषयक प्रामाण्यवाद का, खंडन किया है। सांख्य प्रामाण्यवाद का खंडन करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि ज्ञान के प्रमाण तथा अप्रामार्ण्य को स्वत: (ज्ञान में ही अन्तर्भूत) मानने में दोष हैं क्योंकि यदि ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान में ही अन्तर्भूत हैं तो शुक्ति में रजत के ज्ञान को प्रामाण्य मानना चाहिए अथवा अप्रामाण्य? यदि यह ज्ञान प्रमा रूप (यथार्थ) है तो यह परवर्ती बोध (यह रजत है) से संवाद क्यों नहीं रखता ? और यदि शुक्ति में रजत का ज्ञान अप्रमा रूप (अप्रामाण्य) है तो फिर इस ज्ञान में प्रवृत्ति (रजत को प्राप्त करने का प्रयास आदि) क्यो होती है।

जयन्त भट्ट के अनुसार उपर्युक्त युक्ति से ही बौद्धों के स्वत: अप्रामाण्यवाद का भी खंडन हो जाता है। जयन्त भट्ट कहते हैं कि यदि अप्रामाण्य की ज्ञाप्ति को स्वत: माना जाय तो यह मानना होग कि ज्ञाता को ज्ञान की अयथार्थता (अप्रामाण्य) का निश्चय स्वत: हो जाता है। जयन्त भट्ट प्रश्न करते है कि यदि ज्ञाता को ज्ञान के अप्रामाण्य का बोध स्वत ही होता हो तो फिर ज्ञाता की प्रवृत्ति मिथ्या ज्ञान में क्यों होती है?

जयन्त भट्ट के इस तर्क में बल दिखता है। शुक्ति रजत की स्थिति में ज्ञाता को जब शुक्ति में रजत का बोध होता है तो वह उसे पाने के लिए प्रवृत्त होता है, किन्तु यह रजत नहीं है अथवा यह 'यह शुक्ति है' जैसी अयथार्थता (अप्रामाण्य) का ज्ञान ज्ञाता को प्रवृति के अनन्तर ही अन्य प्रमाण ाों से होता है। स्पष्टत: अप्रामाण्य का बोध (ज्ञाप्ति) ज्ञान की ज्ञाप्ति (विषय की ज्ञाप्ति) से भिन्न है। इस प्रकार जयन्त भट्ट के अनुसार अप्रामाण्य का स्वस्त्व खंडित होता है।

मीमांसकों के स्वत: प्रामाण्यवाद के खंडन के क्रम में जयन्त प्रथमत: प्रामाण्य की स्वत: ज्ञाप्ति का खंडन करते हैं। यहाँ जयन्त का प्रश्न है कि 'स्वत: प्रामाण्य' पद का अर्थ क्या है ? क्या, (1) प्रमाण का प्रामाण्य स्वत: होता है, अथवा (2) प्रमाण स्वत: ही अपने प्रामाण्य को ग्रहण करता है? इन दो विकल्पों में जब विकल्प (2) की जाँच करते हैं तो पाते हैं कि प्रमाण स्वयं अपने प्रामाण्य का ग्रहण नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय का अवबोध इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, यथा नील रंग के ज्ञान में नीले रंग का बोध नीले रंग (विषय अथवा अर्थ) के इन्द्रिय सन्निकर्ष

से उत्पन्न होता है, किन्तु नीले रंग का यह बोध सत्य है–इसका ज्ञान (प्रामाण्य बोध) कैसे होता है? मीमांसा मतानुसार यह बोध प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं क्योंकि यदि प्रत्यक्ष से ज्ञान का ही ग्रहण नहीं होता तो उसके प्रामाण्य का ग्रहण प्रत्यक्ष से कैसे होगा ? यहाँ तक कि ज्ञातता रूप जो ज्ञान की फल है उसके साथ भी इन्द्रिय सन्निकर्ष संभव नहीं क्योंकि यह ज्ञातता तो स्वयं सवेदना ही है। अत: ज्ञातता का ग्रहण भी इन्द्रियों से संभव नहीं। ज्ञातता के यथार्थ्य का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष से भी संभव नही? क्योंकि 'नील' के अनुभव के पश्चात 'नील का यह अनुभव यथार्थ है, इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता है।18 तथापि, यदि किसी प्रकार हम यह मान ही लें कि 'नील' का यह अनुभव यथार्थ है' यह बोध 'नील' के बोध के परवर्ती प्रत्यक्ष से होता है तो इससे स्वत: प्रामाण्यवाद स्वयं खंडित हो जाता है तथा विकल्प (1) भी खण्डि होता है।

पुन: जयन्त भट्ट के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा भी संभव नहीं क्योंकि अनुमान के लिए किसी लिंग की आवश्यकता होती है, किन्तु 'नील रंग का यह बोध यथार्थ है' इस ज्ञान के लिए कोई लिंग भी उपलब्ध नहीं होता।

पुन: जयन्त भट्ट के अनुसार यदि नील रंग के संवेदन अथवा बोध को नील रंग के बोध की यथार्थता का प्रमाण माना जाय तो इससे भ्रम और ज्ञान- (अप्रमा और प्रमा) का भेद नष्ट होगा तथा शुक्ति में रजत के ज्ञान को भी प्रमाणिक मानना होगा।

मीमांसा मत का उल्लेख करते हुए पुन: जयन्त भट्ट कहते हैं कि यदि यह कहा जाय के भ्रम और यथार्थ का भेद बाधकता और अबाधकता का भेद है (अर्थात भ्रमात्मक ज्ञान अपने परवर्ती ज्ञान तथा बाधित होता है जबकि यथार्थ ज्ञान बाधकत्व दोष से रहित होता है) तो मीमांसकों के इस कथन से भी प्रामाण्य भी ज्ञाप्ति का स्वतस्त्व खंडित ही होता है। क्योंकि परवर्ती ज्ञान (अबाधितत्व) के द्वारा पुष्ट होने से प्रामाण्य की ज्ञाप्ति परत: ही सिद्ध होती है।

पुन: जयन्त प्रामाण्य की उत्पत्ति के स्वतस्त्व का भी खंडन प्रस्तुत करते हैं। पूर्वपक्ष के खंडन को प्रारंभ करते हुए जयन्त ने स्वत: प्रामाण्य' शब्द के दो अर्थ बतलाए। उनमें से दूसरा अर्थ ज्ञाप्ति विषयक स्वत: प्रामाण्यवाद को स्पष्ट करता है, जिसका खंडन ऊपर की विधि से जयन्त करते हैं तथा उन दो अर्थों में से पहला अर्थ उत्पत्ति विषयक स्वत: प्रामाण्यवाद को प्रकट करता है। उत्पत्ति विषयक स्वत: प्रामाण्यवाद का खंडन करते हुए जयन्त कहते हैं कि चूंकि कार्य की उत्पत्ति कारण के अध ीन हुआ करती है और चूँकि प्रामाण्य भी एक कार्य है अतएव इसकी उत्पत्ति भी किसी-न-किसी कारण के अधीन होगी। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य की उत्पत्ति को स्वत: कैसे कहा जा सकता है ? यहाँ यदि मीमांसक यह कहें कि प्रामाण्य की उत्पत्ति के कारण और ज्ञान की उत्पत्ति के कारण दोनों समान ही है। तब इस कथन में भी दोष होगा क्योंकि कार्य दो प्रकार के होते हैं सम्यक् और असम्यक। इनमें गुणयुक्त कारणों से सम्यक् कार्य की उत्पत्ति होती है तथा दोषयुक्त कारणों से असम्यक् कार्यों की उत्पत्ति होती है। प्रामाण्य सम्यक् कार्य है अतएव इसकी उत्पत्ति गुणवत। कारण यथा सम्यक् नेत्रादि से ही हो सकती है। इस प्रकार चूँकि प्रमाण अपनी उत्पत्ति के लिए गुणवत कारणों पर निर्भर है, अतएव इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति का स्वतस्त्व खंडित होता है ।

जैन ज्ञानमीमांसा

जैन ज्ञानमीमांसा का प्रारंभ पहली शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द के उद्‌भव के साथ जोड़ कर देखा

जाता है। समझा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन दर्शन के इतिहास में पहली बार अपने प्रवचन सार नामक ग्रंथ में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का निरूपण तर्कपूर्ण शैली में किया। आचार्य कन्दकुन्द के अनन्तर लगभग इसी काल में (100 ईस्वी) में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसत्र में ज्ञान विषयक विवेचन प्रस्तुत किए। तदनन्तर तृतीय शताब्दी में समन्तभद्र स्वामी तथा सिद्धसेन दिवाकर ने छठी शताब्दी में प्रमाणों की विशद् चर्चा की।

जैन प्रमाणमीमांसा में सर्वप्रथम शान्ति आचार्य ने न्यायसूत्रवार्तिक वृत्ति में प्रामाण्यवाद का विवेचन किया है। प्रामाण्यवाद का अपेक्षाकृत विशद् विवचेन आठवीं शताब्दी के जैन तार्किक अकलंक ने भी किया है। किन्तु प्रामाण्य विषयक सिद्धांत का स्पष्ट विवेचन संभवत: विद्यानन्द ने आठवीं शताब्दी में प्रमाण परीक्षा नामक ग्रंथ में किया। लगभग इसी काल में माणिक्यनन्दी ने भी अपने 'परीक्षामुख' नामक ग्रंथ में प्रामाण्यवाद का जिक्र किया। प्रभाचंद्र (इनका काल अनिश्चित है, किन्तु ये जयन्त भट्ट के परवर्ती हैं क्योंकि इनके ग्रंथ न्यायकुमुदचन्द्र में जयन्त भट्ट के न्यायमंजरी के मतों का खंडन मिलता है। संभवत: इनका काल 900 से 1150 ईस्वी के बीच का है) ने न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमल मार्तण्ड में प्रामाण्यवाद का जो विवेचन किया, परवर्ती जैन आचार्यों ने इसी विवेचन को आधार बनाकर जैन प्रामाण्यवाद का निरूपण किया है। उत्तरकालीन आचार्यों ने 1200 ईस्वी में हेमचन्द्र सूरि ने प्रामाण्यवाद का अत्यन्त सजीव एवं गूढ़ विवेचन अपने ग्रंथ प्रमाणमीमांसा में किया।

हेमचन्द्र सूरि ने कुछ स्थितियों में प्रामाण्य को स्वत: तथा कुछ स्थितियों में परत: स्वीकार किया है। यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र के प्रामाण्य विषयक विश्लेषण में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का निरूपण नहीं किया गया है अपितु केवल प्रामाण्य के ही स्वत: और परत: होने का निर्देश वहाँ मिलता है तथापि जैन दर्शन के अन्य ग्रंथों से यह विदित होता है के जैन सिद्धांत के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वत: और परत: हुआ करते है। देवसूरि (1200 ईस्वी) ने प्रमाणनजतत्त्वालोकालंकार नामक ग्रंथ में कहा कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही उत्पत्ति में परत: होते हैं किन्तु ज्ञाप्ति में कही स्वत: और कहीं परत: होते है। (तदुभयमुत्पत्तौ परत: एवं ज्ञाप्तौ तु स्वत: परतश्चेति-प्रमाणनज 1/21)

हेमचन्द्र सूरि का प्रामाण्य विषयक विवेचन - हेमचन्द्र सूरि के अनुसार निम्नलिखित प्रकार के ज्ञान के प्रामाण्य का विनिश्चय स्वत: होता है-

(क) अर्थक्रिया ज्ञान, तथा अभ्यासदशा सम्पन्न ज्ञान

(ख) अनुमान

पुन: हेमचन्द्र सूरि के अनुसार निम्नलिखित प्रकार के ज्ञान के प्रामाण्य का विनिश्चय परत: होता है ।

(ग) अनभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान

(घ) शाब्द ज्ञान

(क) अर्थक्रिया ज्ञान तथा अभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान का स्वत:प्रामाण्य - हेमचन्द्र सूरि के अनुसार अभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान तथा अर्थक्रिया ज्ञान के प्रमाण्य का विनिश्चय स्वत: ही होता है, जैसे अपने करतल का ज्ञान। हम बार-बार अपने करतल को देखने के लिए अभ्यस्त होते हैं, अतएव 'यह मेरा करतल है'- इस प्रकार के ज्ञान को किसी अन्य प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं होती। इसी भाँति जब जल में स्नान-पान आदि से पिपासा की शांति हो जाती है तो इस प्रकार के अर्थक्रिया सम्पन्न ज्ञान का प्रामाण्य भी स्वत: ही समझना चाहिए।

प्रश्न है कि अर्थक्रिया ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य क्यों मानना चाहिए? यहाँ मीमासंक यह शंका उत्पन्न करते हैं कि अर्थक्रिया ज्ञान भी स्वतः प्रामाण्य नहीं हो सकता क्योकि बहुधा स्वप्न में भी अर्थक्रिया ज्ञान होता है।

नोट

मीमांसकों की इस शंकार का उत्तर देते हुए न्यायकुमुदचंद्र में कहा गया है कि यद्यपि जाग्रत अवस्था में भी बिना पदार्थ के अर्थक्रिया का ज्ञान होता है, यथा शुक्ति रजत के ज्ञान में, तथापि इस स्थिति में अर्थक्रिया ज्ञान का विसंवाद उपस्थित नहीं होता। पुनः, प्रभाचंद्र के अनुसार, प्रामाण्य का विचार सदैव जाग्रत अवस्था के आधार पर ही किया जाता है। बुद्धिमान मनुष्य को जाग्रत और स्वप्न दशा के भेद का बोध तो सामान्य बुद्धि से ही हो जाता है। पुनः, यदि स्वप्न दशा के दृष्टांत को लेकर समस्त ज्ञान को भी निरावलम्ब निराधार माना जाय तब तो बाह्यार्थ का ही निराकरण स्वीकार करना होगा। बाह्यार्थ के इस निराकरण के पश्चात् तो प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रश्न ही निरर्थक है।

(ख) अनुमान का स्वतःप्रामाण्य - जैन मतानुसार अनुमान स्वतःप्रामाण्य है क्योंकि अनुमान अविनाभावी (अव्यभिचारित, नियत) लिग आदि से उत्पन्न होता है। लिंग अथवा व्यावक अथवा साध्य के अभाव उपस्थित नहीं हो सकता। इस प्रकार नियत हेतु से होने के कारण अनुमान का प्रामाण्य स्वतः ही सिद्ध है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन तार्किक आधुनिक पाश्चात्य तार्किकों की भाँति आधारवाक्य (व्याप्ति तथा हेतु) तथा निष्कर्ष (निगमन) के बीच अपादान का संबंध मानते हैं तथा व्याप्ति पर आध ारित निगमन को तर्कसिद्ध मानते हैं। किन्तु यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारतीय तार्किक न तो पाश्चात्य ताकिंकों की भाँति आनुभविक संभावना और तार्किक संभावना का भेद मानते हैं और न ही आकारिक और वास्तविक सत्यता जैसे किसी भेद की ही चर्चा भारतीय दर्शन में मिलती है। अतएव यद्यपि प्रथम दृष्ट्या जैन तार्किकों के अनुमान विषयक प्रामाण्य का मत पाश्चात्य दार्शनिक के तुल्य प्रतीत होता है तथापि दोनों मतों की मान्यताओं, प्रस्थापनाओं और सिद्धियों में मूलभूत भेद को याद रखना होगा।

(ग) अनभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान का परतःप्रामाण्य - जैन मतानुसार जो ज्ञान अनभ्यासदशासम्पन्न नहीं होता, उस ज्ञान के प्रामाण्य का विनिश्चय परतः होता है। अनभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान के प्रामाण्य के ग्रहण के तीन साधनों का उल्लेख हेमचन्द्र सूरि ने किया है-

1. तद्विषयक संवाद ज्ञान - किसी ज्ञान के संवादी ज्ञान से उक्त ज्ञान का प्रामाण्य गृहित होता है, यथा जब किसी व्यक्ति को सुनकर यह ज्ञात होता है कि यह वीणा का स्वर है तथा तदनन्तर नेत्र ज्ञान से (देखकर) वीणा का ज्ञान प्राप्त होता है तो इस अनन्तर के नेत्र ज्ञान से पूर्व के श्रोत ज्ञान का प्रामाण्य गृहित हो जाता है।

2. अर्थक्रिया ज्ञान - विषय के ज्ञान से ज्ञाता में एक विशेष प्रवृत्ति का उदय होता है। यदि इस प्रवृत्ति अथवा अर्थक्रिया की सिद्धि उस ज्ञान-विशेष से होती है तो ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है, यथा जल के ज्ञान से उससे स्नान पान की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि जल से स्नान-पान संभव हो (अर्थक्रिया की सिद्धि) तो जल के ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

3. अर्थ के अविनाभावी अन्य पदार्थ का ज्ञान - ज्ञान में जिस विषय का बोध ज्ञाता का हो रहा है यदि उससे संबंधित अन्य विषयों (पदार्थों) का भी बोध हो तो उससे ज्ञान का भी प्रामाण्य सनिश्चित

होता है, यथा जल का ज्ञान होने पर यदि उसके साथ-साथ कमल, जलपक्षी आदि का भी ज्ञान हो तो इसे जल के ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

नोट

मीमांसा मतानुसार ज्ञान के प्रामाण्य को परतः मानने से अनावस्था दोष उत्पन्न होता है। मीमांसकों की इस शंका का उत्तर देते हुए जैन दार्शनिक कहते हैं कि अनभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान को परतः मानने से अनावस्था दोष नहीं होता क्योंकि तद्विषयक संवाद ज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान तथा अर्थ के अविनाभावी अन्य पदार्थ का ज्ञान-ये तीनों ही स्वतः प्रामाण्य है।

प्रामाण्य की ज्ञाप्ति का साधन अर्थक्रिया को स्वीकार करने के विरुद्ध दो आपतियाँ की जाती हैं-प्रथमतः इस प्रकार तो मणि की प्रभा में जो मणि का ज्ञान होता है, उसे भी प्रमाण्य मानना होगा, तथा द्वितीयतः, खोटे सिक्के में इस प्रकार की बुद्धि कि 'यह सिक्का है, भी प्रामाण्य होने लगेगी।

प्रभाचंद्र के अनुसार यह शंका ठीक नहीं क्योंकि प्रथम स्थिति में (मणिप्रभा की स्थिति में) वातायान में स्थित मणि की प्रभा में मणि का ज्ञान होता है और अन्दर के प्रकोष्ठ में विद्यमान मणि के विषय में अर्थक्रिया ज्ञान होता है। इस प्रकार भिन्न देश में दो वस्तुओं (मणिप्रभा और मणि) और दो विषयों से संबंधित इन दो ज्ञानों में संवाद कैसे संभव होगा? इसी भाँति खोटे सिक्के के प्रसंग में यदि यह ज्ञान होता है कि 'यह सिक्का है अथवा 'यह खोटा सिक्का है' तो इसमें कोई दोष नहीं, किंतु यदि इसमें यह ज्ञान हो कि यह 'खरा सिक्का है' तो यह ज्ञान दोषपूर्ण होगा क्योंकि इससे अर्थक्रिया सिद्धि नहीं होगी (सिक्के का पूरा मूल्य प्राप्त नहीं होगा)।

इस प्रकार जैन मतानुसार अनभ्यासदशा प्राप्त ज्ञान का परतः प्रामाण्य सिद्ध होता है।

(घ) शाब्द ज्ञान का परतः प्रामाण्य - हेमचन्द्र सूरि के अनुसार शब्द ज्ञान दो प्रकार के होते हैं- (क) दृष्टार्थक, और (ख) अदृष्टार्थक। इस दोनों का परतः प्रामाण्य निम्न प्रकार हैं-

दृष्टार्थक - जिस शब्द का अर्थ बोध लौकिक होता है, वह शब्द ज्ञान दृष्टार्थक है। ऐसे शब्द का अपने अर्थ से नियत संबंध नहीं होता अर्थात् कभी तो इस शब्द के अनुकूल वस्तुस्थिति उत्पन्न होती है अथवा कभी नहीं भी होती। अतएव दृष्टार्थक शब्द ज्ञान की प्रामाणिकता का ग्रहण अन्य ज्ञान से इसके संवाद के द्वारा होता है, यथा, किसी मनुष्य 'क' ने किसी दूसरे मनुष्य 'ख' से सुना कि 'वन में सिंह है', इस ज्ञान की यथार्थता का निश्चय स्वतः नहीं होता वरन् जब 'क' वन में जाकर सिंह को देखता है अथवा सिंह की गर्जना सुनता है तभी 'ख' द्वारा किए गए कथन के प्रामाण्य का निश्चय हो पाता है। इस प्रकार दृष्टार्थक ज्ञान का प्रामाण्य परतः है।

अदृष्टार्थक शब्द - जिस शब्द ज्ञान का अर्थ बोध लौकिक न होकर पारलौकिक होता है वह शाब्द ज्ञान अदृष्टार्थक शब्द कहलाता है। साधारणतः आस्तिक सम्प्रदाय इस प्रकार के शाब्द ज्ञान को आप्त वचन की संज्ञा देते हैं। मीमांसा मतानुसार आप्त वचन होने से यह ज्ञान स्वतः प्रामाण्य होता है। जैन मतानुसार इस प्रकार के शब्द ज्ञान के प्रामाण्य का विनिश्चय भी परतः ही होता है क्योंकि आप्त पुरुष का वचन परत :प्रामाण्य होता है। यथा किसी वक्ता ने चंद्रग्रहण विषयक कोई वाक्य (दृष्टार्थक शब्द) कहा। इस वाक्य का प्रामाण्य तद्विषयक ज्ञान के संवाद से सिद्ध होता है। इस प्रकार उक्त वक्ता के अनेक दृष्टार्थक शब्दों की प्रामाण्य सिद्धि के उपरान्त ही इस पुरुष को 'आप्त' तथा उसके वचन को 'आप्त वचन' की संज्ञा दी जाती। है। तदनन्तर यदि यह आप्त पुरुष कोई अदृष्टार्थक शब्द कहता है तो आप्त होने के कारण से उसका शब्द प्रामाण्य मान लिया जाता

है। अतएव, जैन मतानुसार अदृष्टार्थक स्वतः नहीं, परतः प्रामाण्य ही सिद्ध होते हैं।

वेदों के प्रामाण्य का खंडन – जैन दार्शनिक शांति आचार्य ने न्यायसूत्रवात्तिकवृत्ति में बाधरहित ज्ञान को 'प्रामाण्य' को कहा है।33 उनके अनुसार अबाधितत्त्व से ही दृष्टार्थ विषयक ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है। बाध ज्ञान के द्वारा ही संशय और भ्रांति आदि का निराकरण हो जाता है तथा संशय और भ्रांति आदि के निराकृत हो जाने पर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चिय हो जाता है।

शांति आचार्य ने बाधकभाव के आधार पर वेद प्रामाण्य का खंडन किया है। शांति आचार्य के अनुसार वेद और ईश्वर आदि प्रामाण्य (प्रमा रूप) नहीं है क्योंकि उनका खंडन (बाध) संभव है। किन्तु इसके साथ ही शांति आचार्य ने शब्दों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए कहा है कि तत्त्वेवत्ता अर्हत प्रामाण्य हैं क्योंकि उनके शब्द आबाधित है। मीमांसक वेदों को इसलिए प्रामाण्य मानते हैं कि उनके मतानुसार वेद अपौरुषेय हैं, किन्तु शांति आचार्य वदा का अपारुषेयता का खंडन करते हुए कहते हैं कि जब दो वस्त्रों में समानता होती है तो समझा जाता है कि दोनों वस्त्र एक ही प्रकार के सूत्र से निर्मित हैं, इसी प्रकार वेद वाक्यों में जैन आदि के शास्त्रों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। अतः वेद वाक्यों कों जैन आदि के शास्त्रों की भाँति पौरुषेय ही स्वीकार किया जाना चाहिए। पुनः शान्ति आचार्य के मतानुसार वेदों की अपौरुषेयता के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण नहीं मिलते। यदि किसी भाँति वेदों को अपौरुषेय मान भी लिया जाय तो भी अपौरूषेय होने से उनका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य कारण के गुणों पर निर्भर करता है। चूँकि वेद अपौरूषेय हैं अतएव वे 'अकारण' भी सिद्ध होते है और इस प्रकार अकारण' सिद्ध होने से उनमें कारण के गुणों का भी अभाव सिद्ध होता है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक वेदों के स्वतः प्रामाण्य का खंडन करते हैं।

उपसंहार – इस प्रकार जैन मतानुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य उत्पत्ति की दृष्टि से सदैव परतः होते हैं किन्तु ज्ञाप्ति की दृष्टि से स्वतः और परतः दोनों होते हैं। अभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान, अनुमान और अंतक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की ज्ञाप्ति स्वतः है जबकि अनभ्यासदशासम्पन्न ज्ञान तथा शाब्द ज्ञान के प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों की ज्ञाप्ति परतः है।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी है स्पष्टतः इनकी ज्ञानमीमांसा को भी अनेकान्तवादी होना चाहिए। अनेकान्तवादी दृष्टि से तो एक ही ज्ञान को किसी दृष्टि से प्रामाण्य और किसी दृष्टि से अप्रामाण्य सिद्ध होना चाहिए। किन्तु जैन प्रामाणमीमांसा तो निश्चित रूप से ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य को निर्धारित करने के प्रति उत्सुक प्रतीत होता है। प्रश्न है इस प्रकार के ज्ञानमीमांसा की संगति जैन तत्त्वमीमांसा से कैसे बैठ सकती है?

जैन दार्शनिक विद्यानन्द ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि वस्तुतः किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सांकर्य हुआ करता है,39 यथा, नेत्रादि दोष से द्विचन्द्र की प्रतीति होती है किन्तु द्विचन्द्र की यह प्रतीति प्रामाण्य और अप्रामाण्य से एक साथ संयुक्त है। यहाँ चन्द्र की प्रतीति (वस्तु) तो प्रामाण्य है किन्तु द्वि (संख्या) की प्रतीति अप्रामाण्य है।

ऐसी स्थिति में जैन दार्शनिकों के सम्मुख प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य अप्रामाण्य का सांकर्य विद्यमान है तो एक ज्ञान को प्रामाणिक और दूसरे को अप्रामाणिक की संज्ञा क्यों दी जाय ? अकलंक ने इसका कारण (आधार) संवादिता को बतलाया है। अकलंक के अनुसार जिस

ज्ञान में संवादिता अधिक होती है इस ज्ञान को प्रामाण्य और जिसमें विसंवाद अधिक होता है उसे अप्रामाण्य कहा जाता है। यथा, कस्तूरी आदि द्रव्यों में अन्य गुणों की अपेक्षा गंधगुण की मात्रा अधिक होने के कारण उसे गन्धद्रव की संज्ञा दी जाती है तथा पृथ्वी में अन्य गुणों की अपेक्षा गंध गुण की प्रधानता होने के कारण इसे 'गधवती पृथ्वी' की संज्ञा दी जाती है, उसी प्रकार विसंवाद की अपेक्षां संवाद के आधिक्य के कारण ज्ञान को प्रामाण्य अन्यथा अप्रामाण्य कह दिया जाता है।

मीमांसा मत

पूर्वमीमांसा दर्शन के आदिग्रंथ के रूप में जैमिनी की मीमांसा सूत्र को स्वीकार किया जाता है। इस ग्रंथ में यद्यपि वेदों की प्रामाणिकता के प्रश्न को अनपेक्षित बतलाया गया है। यहां प्रामाण्य की समस्या का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। शाबरभाष्य में वेदी की प्रमाणिकता के प्रश्न की अपेक्षाकृत अधिक विवेचन की गई है और बतलाया गया है कि वेद ही धर्म में निरपेक्ष प्रमाण हैं। इस रूप में मीमांसा दर्शन में स्वत: प्रामाण्यवाद और परत: प्रामाण्यवाद के बीज निरूपित मिलते हैं। मीमांसा सूत्र में कहा गया कि प्रयत्न से अन्वेषण करने पर भी यदि ज्ञान में दोष न दिखलाई दे तो ज्ञान को यथार्थ समझा जाता है तथा कारण दोषयुक्त ज्ञान तथा वह ज्ञान जिसके विषय में बाधकता का बोध हो, अयथार्थ ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार शाबरभाष्य के अनुसार वह ज्ञान जिसमें कारण दोष हो और जो बाधकता युक्त है, अप्रामाण्य है तथा शेष ज्ञान प्रामाण्य है।

तदनन्तर शाबरभाष्य पर मीमांसा मत के दोनों प्रसिद्ध आचार्यों कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र ने टीकाएँ लिखी। इन दोनों ही टीकाओं में प्रामाण्यवाद विषयक विराट विवेचनाएँ उपलब्ध हैं।

कुमारिल भट्ट का मत

कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रामाण्य स्वत: होता है और अप्रामाण्यत परत:। कुमारित भट्ट उत्पत्ति, ज्ञाप्ति और कार्य-तीनों में ही स्वत: प्रामाण्यवाद के समर्थक हैं। अपने मत की सिद्धि उन्होंने 'लोकवार्त्तिक में विस्तारपूर्वक की है। जैसा कि भारतीय दार्शनिकों को विधि है, 'लोकवार्त्तिक में कुमारिल भट्ट ने पूर्वपक्ष (विरोधी मत का खंडन) तथा उत्तर पक्ष (स्वमत का मंडन) दोनों ही विधियों से अपने स्वत: प्रामाण्यवाद और परत: अप्रामाण्यवाद की सिद्धि की है।

पूर्वपक्ष - पूर्वपक्ष अथवा खंडन पक्ष में कुमारिल भट्ट ने प्रामाण्यवाद विषयक विरोधी मतों की परीक्षा की है ताकि इस बात को निश्चित किया जा सके कि प्रामण्य स्वत: होता है अथवा यह परत: होता है।

सांख्य मत का उल्लेख करते हुए कुमारिल भट्ट कहते हैं कि कुछ दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वत: होते हैं क्योंकि यदि ज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य स्वत: उपस्थित न हो तो फिर ज्ञान में किसी की भाँति उसकी दृढ़ भावना नहीं की जा सकती (क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार अभाव से भाव की उत्पत्ति संभव नहीं)। इसी भाँति कुछ अन्य विचारक (न्यायमत), जो यह मानते हैं कि गुणवत कारण से उत्पन्न ज्ञान प्रामाण्य होता है तथा गुणवत कारण दोष से उत्पन्न ज्ञान अप्रामाण्य होता है, ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को ही परत: मानते हैं।

कुमारिल भट्ट 'लोकवार्तिक के आगामी सूत्र में सांख्य और न्याय मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य तो परस्पर विरोधी होते हैं अत: इन्हें एक ही साथ ज्ञान में स्वभाव रूप उपस्थित कैसे माना जा सकता है? ऐसा मानने से तो व्याघात का दोष उत्पन्न होगा। इसी प्रकार

यदि प्रामाण्य अप्रामाण्य को परत: माना जाय, (जैसा कि नैय्या मानते हैं) तो इससे ज्ञान प्रामाण्य, अप्रामाण्य के गुणों से शून्य, नि:स्वभाव सिद्ध होगा।

नोट

अपने पूर्वपक्ष के क्रम में कुमारिल बौद्ध मत का खंडन भी प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध भी नैय्यायिकों की ही भाँति ज्ञान के प्रामाण्य को परत: कहते हैं क्योंकि इस मत के अनुसार प्रामाण्य करण के गुणों से उत्पन्न होता है तथा इस प्रामाण्य का ग्रहण, गुण, संवाद, अर्थक्रिया ज्ञान आदि से होने के कारण ज्ञाप्ति की दृष्टि से भी प्रामाण्य परत: ही होता है, जबकि अप्रामाण्य ज्ञान का स्वाभाविक लक्षण है। बौद्ध मतानुसार अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है अत: वह कारण दोष अथवा अन्य किसी भी प्रकार से उत्पन्न हो ही नहीं सकता (क्योंकि अभाव की उत्पत्ति संभव नहीं)। इस बौद्ध मत का खंडन करते हुए कुमारिल कहते हैं कि प्रामाण्य को सदैव स्वत: ही समझना चाहिए क्योंकि यदि ज्ञान में स्वत: यथाथ होने की शक्ति नहीं है तो वह शक्ति अन्य किसी के भी द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसी भाँति मीमांसा मतानुसार अप्रामाण्य को भी स्वत: मानने में दोष है। कुमारिल कहते हैं कि यह कहना उचित नहीं कि अप्रामाण्य अभाव रूप है। कुमारिल मतानुसार अप्रामाण्य तीन प्रकार के होते हैं–मिथ्या ज्ञान, अज्ञान और संशय। इनमें से मिथ्याज्ञान और संशय तो भाव रूप है। पुन: अज्ञान ज्ञान का अभाव है जो ज्ञान के कारण के अभाव से संभव होता है। अत: अप्रामाण्य का परत: होना सिद्ध है, इसका स्वतस्त्व असिद्ध है।

उत्तर पक्ष– पूर्वपक्ष के इस खंडन के पश्चात् कुमारिल उत्तर पक्ष अर्थात मंडन पक्ष में प्रविष्ट होते हैं। इस पक्ष के अन्तर्गत कुमारिल ने यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि ज्ञान का प्रामाण्य उत्पत्ति, ज्ञाप्ति और कार्य तीनों ही दृष्टियों से स्वत: है तथा इसी भाँति अप्रामाण्य तीनों ही दृष्टियों से परत: होता है।

उत्पत्ति विषयक स्वत: प्रामाण्यवाद – श्लोकवार्तिक की कारिका 1/1/2/47 में कुमारिल भट्ट ने ज्ञान के प्रामाण्य को स्वत: उद्भूत कहा है–

''स्वत: सर्वप्रामाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्ति: कर्तुमन्येन शक्यते।।''

अर्थात् सभी प्रमाणों (ज्ञानों) का प्रामाण्य स्वत: ही समझना चाहिए। यदि ज्ञान में स्वयं यथार्थ होने की शक्ति नहीं है तो वह अन्य किसी भी प्रकार से यथार्थ नहीं हो सकेगा।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए पार्थसारथी मिश्र ने बतलाया है कि यदि ज्ञान में यथार्थ होने की शक्ति स्वत: उद्भूत नहीं है तो किसी अन्य कारण से इसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। पार्थसारथी मिश्र तथा कुमारिल भट्ट का यह तर्क अपने मूल में मीमासंकों के सत्कार्यवाद को छुपाए हुए है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति अन्तर्निहित होती है। इसी रूप में कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान होता है। सत्कार्यवादी इस मत के प्रबल पक्षधर हैं कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस तर्क से यदि ज्ञान में प्रामाण्य का अभाव है तो फिर यह किसी भी प्रकार से ज्ञान में उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

पार्थसारथी मिश्र अपनी व्याख्या में आगे कहते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य के अभाव में तो समस्त चराचर अज्ञान के अंधकार से आवृत्त हो जाएग। फिर नैय्यायिक अथवा बौद्ध आदि अपने परत: प्रामाण्यवाद की भी किस प्रकार सिद्धि कर सकेंगे ?

मीमांसा मत के अनुसार जिस कारण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी कारण से उसके प्रामाण्य की भी उत्पत्ति हो जाती है। मीमांसक अपनी ज्ञानमीमांसा में यथार्थवादी हैं। उनके मत के अनुसार प्रत्येक बोध अपने आप में यथार्थ है। इस प्रकार मीमांसा मतानुसार अर्थ की बोधकता के कारण अथवा विषय बोध उत्पन्न करने के कारण प्रत्येक ज्ञान प्रामाण्य है।

यहाँ मीमांसा मत पर यह आक्षेप किया जाता है कि यदि मात्र विषय बोध के कारण प्रत्येक ज्ञान प्रामाण्य होगा तब तो स्वप्न तथा यथार्थ का भेद मिट जाएगा क्योंकि स्वप्न में भी विषय बोध होता है।

इस समस्या का समाधान करते हुए भाट्टोम्बेक ने 'बोधात्मकत्व' में प्रामाण्य का एक और लक्षण जोड़ दिया है-'अर्थ संवादित्व।' अर्थ अथवा ज्ञान के विषय का बाधित न होना अर्थ संवादित्व है। उम्बेक के मतानुसार चूँकि बोधात्मकत्व प्रमा और अप्रमा दोनों में विद्यमान होता है अत: प्रामाण्य के लिए बोध का अबाधित अथवा संवादी होना आवश्यक है। अर्थसंवादित्व को बोधात्मकत्व से जोड़ देने से मीमांसकों के स्वत: प्रामण्यवाद की भी रक्षा होती है और परत: अप्रामाण्यवाद की भी। इस दृष्टि से जब तक ज्ञान के विषय का बाध न हो, वह प्रामाण्य है और जब उसका बाध हो जाता है (अन्य कारणों से) तब वह अप्रामाण्य समझा जाना चाहिए।

यहाँ 'अर्थ विसंवाद' के अर्थ को भी सावधानीपूर्वक समझ लिया जाना चाहिए। हमारे ज्ञान अथवा बोध के विषय देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। यथा, इस समय मेरे ज्ञान का विषय 'पुस्तक' है तथा परवर्ती काल में मेरे ज्ञान का विषय 'कलम' हो जाता है। विषय के इस अन्तर को 'अर्थ विसंवाद' नहीं समझा जाना चाहिए। 'अर्थविसंवा का सही अर्थ है 'एक ही विषय का भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न बोध। यथा, इस क्षण में लम्बी लटकी हुई वस्तु में मुझे रज्जु का बोध हो रहा है तथा परवर्ती क्षण में मुझे इसी लम्बी लटकती वस्तु में सर्प का बोध हो तो इसे 'अर्थ विसंवाद' कहा जाएगा। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि प्रथम क्षण के रज्जु और परवर्ती काल के सर्प के बोध में से किस ज्ञान को प्रामाण्य माना जाय?

इस प्रश्न पर भाट्ट उम्बेक मौन है, किन्तु रामानुजाचार्य ने प्रमा का जो लक्षण 'व्यवहार अविसंवाद' के रूप में बतलाया है, उससे इस शंका का एक समाधान मिलता है- 'व्यवहार के द्वारा।

रामानुजाचार्य प्रदत्त इस समाधान को स्वीकार करने में भी कठिनाई हैं। रामानुजाचार्य का व्यवहार अविसंवाद' जैन, बौद्ध तथा नैय्यायिकों के अर्थक्रिया ज्ञान की तरह प्रतीत होता है। यह अर्थक्रिया ज्ञान या तो स्वत: सिद्ध हो सकता है, अथवा परत: सिद्ध। बौद्ध और न्याय मत अर्थक्रिया ज्ञान के आधार पर ज्ञान के प्रामाण्य को परत: सिद्ध करते हैं। अतएव यदि अर्थक्रिया विषयक बौद्ध अथवा न्याय मत का समर्थन करें तो इस प्रकार व्यवहार अविसंवाद को स्वीकार करने से मीमांसकों का स्वत: प्रामाण्यवाद खंडित होगा। जैन दार्शनिक, जैसा कि जैन प्रामाण्यवाद की विवेचना के क्रम में हम देख आए हैं, अर्थक्रिया ज्ञान को स्वत: प्रामाण्य मानते हैं। किन्तु 'लोकवार्तिक में कुमारिल ने स्वयं अर्थक्रिया ज्ञान को परत: सिद्ध कहा है तथा इसे अनावस्था दोष से ग्रस्त भी बतलाया है। इस प्रकार हम पुन: भाट्टोम्बेक के सम्मुख उपस्थित मूल प्रश्न पर आते हैं कि प्रथम क्षण के रज्जु और परवर्ती क्षण के सर्प में बोध में से किस ज्ञान को 'प्रामाण्य' माना जाय?

इस प्रश्न का समाधान श्लोकवार्तिक के आधार पर किया जा सकता है- "एक हो विषय में साक्षात् रूप से विपरीत ज्ञान होने पर पहले ज्ञान की अप्रमाणिकता सिद्ध होती है क्योंकि पहले ज्ञान को

बाधित किए बिना उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं। इस प्रकार जब रज्जु का ज्ञान सर्प के ज्ञान से बाधित हो जाता है तो रज्जु का ज्ञान अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

नोट

यहाँ यह 'ंका की जा सकती है कि यहाँ तो प्रामाण्य पुनः परतः ही हुआ अर्थात् प्रथम क्षण के ज्ञान कि "यह रज्जु है अथवा सर्प?श -इस ज्ञान की सिद्धि परवर्ती ज्ञान यह सर्प हैश के द्वारा हुई। किन्तु मीमांसा मत के संदर्भ में यह 'ंका दो कारणों से अनुचित है। प्रथमतः तो यह कि जब परवर्ती ज्ञान से पूर्ववर्ती ज्ञान बाधित होता है तो इसे परवर्ती ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होने की अपेक्षा पूर्ववर्ती ज्ञान का अप्रामाण्य सिद्ध होता है। मीमांसा मतानुसार अप्रामाण्य तो परतः है ही, अतएव इससे मीमांसा मत की पुष्टि ही होती है। द्वितीयतः ज्ञान कभी भी 'यह रज्जु है अथवा सर्प? - के रूप में नहीं होता। 'यह रज्जु है अथवा सर्प?' - यह ज्ञान नहीं, संशय है। ज्ञान सदैव या तो यह रज्जु है' के रूप में होगा अथवा 'यह सर्प है, के रूप में होगा। यहाँ दोनों ज्ञान विषय का बोध करा रहे हैं, अतः मीमांसा मत के अनुसार, दोनों ही ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है किन्तु चूंकि पूर्ववर्ती ज्ञान परवर्ती ज्ञान से बाधित हो जाता है अतएव यहाँ पूर्ववर्ती ज्ञान का अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

न्याय मतानसुार इन्द्रियों के गुणों के द्वारा ही ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, अन्यथा ज्ञान अपने स्वरूप में प्रामाण्य अप्रामाण्य से परे होता है। नैय्यायिको के इस मत का खंडन करते हुए मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान में प्रामाण्य तो स्वतः ही उत्पन्न होता है (अर्थात प्रामाण्य ज्ञान का स्वरूपगत लक्षण हैं) किन्तु इन्द्रियादि के दोष के कारण ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। जब इन्द्रियादि में दोष का अभाव होता है तो ज्ञान स्वभाविक रूप से प्रामाण्य ही होता है। मीमांसा मतानुसार यदि गुणों के निमित्त से ही ज्ञान में यथार्थता हुआ करती तो कामला रोग से युक्त नेत्र द्वारा प्राप्त बोध 'शंख पीला है' अंश रूप में भी सत्य नहीं होता जबकि यहाँ ज्ञानोत्पादक सामान सामग्री से उत्पन्न शंख का बोध प्रामाण्य है किन्तु पित्त दोष के कारण शंख में पीतता की प्रतीति अप्रामाण्य है।

ज्ञाति विषयक स्वतः प्रामाण्यवाद - मीमांसक प्रामाण्य की ज्ञाप्ति को भी स्वतः ही मानते है। मीमांसा मतानसार संशय के अतिरिक्त समस्त ज्ञान के सत्य होने का निश्चय ज्ञान के निश्चय के साथ ही हो जाता है। श्लोकवार्त्तिक में कहा गया है कि किसी वस्तु का ज्ञान न होने पर दोष के अभाव आदि को नहीं खोजा जाता और दोषों का ज्ञान न होने मात्र से अनायास ही ज्ञान की अयथार्थता निवृत्त हो जाती है, इसीलिए अर्थ का बोधक होने मात्र से प्रत्येक ज्ञान प्रामाण्य है।6। प्रामाण्य के ग्रहण में कारण के गुणों के ज्ञान की उपयोगिता नहीं है, अपितु गुणों के ज्ञान से दोषों का अभाव सिद्ध है। दोषों के अभाव से बाधक ज्ञान तथा कारण दोष की निवृत्ति होती है। यदि पूर्वपक्षी शंका करें कि गुणों के आधार पर दोषों के अभाव का ज्ञान मानने पर अनावस्था दोष होगा तो, कुमारिल भट्ट के अनुसार, यह शंका अनुचित है क्योंकि गुणों के आधार पर प्रामाण्य की ज्ञाप्ति नहीं होती अपितु गुण अपनी उपस्थिति मात्र से ही दोषों के अभाव को सुनिश्चित करते हैं और इस प्रकार ज्ञान का स्वभाविक प्रामाण्य बना रहता है।

इस प्रकार मीमांसा मतानुसार जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी साधन से उसके अप्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।

यहां यह आपत्ति उठायी जा सकती है जिस प्रकार ज्ञान के साथ उसके प्रामाण्य का बोध होने से ज्ञान स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है ठीक उसी प्रकार यदि ज्ञान के साथ उसके प्रमाण्य का बोध न उत्पन्न

हो तो उसे स्वत:अप्रामाण्य भी कहा जाना चाहिए। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए पार्थसारथी मिश्र कहते हैं कि ज्ञान का उदय जैसे ही होता है, सर्वथा स्वाभाविक रूप में उसके प्रामाण्य की ज्ञाप्ति का भी उदय हो जाता है। ज्ञान के अप्रामाण्य का बोध तो सदैव अनन्तर कारणों से ही होता है। अतएव जिस प्रकार ज्ञान का स्वत:प्रामाण्य सिद्ध है उसी प्रकार ज्ञान का परत: अप्रामाण्य भी सिद्ध हैं।

ज्ञातता – प्रामाण्य की ज्ञाप्ति के संबंध में भाट्ट मीमांसा में 'ज्ञातता' नामक एक संप्रत्यय का उदय हुआ है। भारतीय दर्शन में अन्य किसी भी सम्प्रदाय में 'ज्ञातता' की अवधारणा नहीं पाई जाती। प्रश्न है कि ज्ञातता क्या है ? मीमांसा मतानुसार 'ज्ञातता' एक गुण है जिसके आधार पर ज्ञान और प्रामाण्य की ज्ञाप्ति होती है।

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वत: प्रकाशित नहीं है अपितु ज्ञान केवल विषय को ही प्रकाशित करता है, स्वयं ज्ञान को नही। इस मत के पीछे मीमांसकों का मुख्य तर्क यह है कि एक वस्तु ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों नहीं हो सकती। ज्ञान का मुख्य कार्य विषय को प्रकाशित करना है अत: इस दृष्टि से ज्ञान ज्ञाता है। पुन: ज्ञाता होने के कारण ज्ञान ज्ञेय नहीं हो सकता।

यहाँ प्रश्न है कि यदि ज्ञान ज्ञेय (ज्ञान की विषय-वस्तु) नहीं है तो प्रश्न है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मीमांसक कहते है कि ज्ञान का ज्ञान अपरोक्ष रूप से अध र्पित्ति द्वारा होता है और उसी अर्थपत्ति से प्रामाण्य का भी बोध हो जाता है।

प्रश्न है अर्थापत्ति से किस प्रकार 'ज्ञान का ज्ञान' होता है? इसका उत्तर देते हुए भाट्ट मीमासंक कहते हैं कि जिस प्रकार पकाने पर चावल में 'पाकता' नामक गुण का उदय हो जाता है और उस गुण को जानकर हम चावल के पकने का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार जब कोई विषय ज्ञान में प्रकाशित होता है तो हम पाते हैं कि पहले यह विषय अज्ञात था और अब ज्ञात हुआ। विषय में यह परिवर्तन, जिसने इसे 'अज्ञात' से 'ज्ञात' की कोटि में ला दिया, ज्ञान में किसी नए गुण की उत्पत्ति का बोधक है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार ज्ञान में उत्पन्न इसी गुण का नाम 'ज्ञातता' है।

इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों के अनुसार 'ज्ञात अर्थ (विषय) के धर्म का नाम 'ज्ञातता' है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि विषय में ज्ञातता' का यह नया गुण क्यों उत्पन्न हुआ? इसका उत्तर होगा कि यह विषय ज्ञात हुआ अतएव इसमें ज्ञातता का गुण आया।' इस प्रकार ज्ञातता के आधार पर अर्थापत्ति के द्वारा भाट्ट मीमांसक प्रामाण्य की ज्ञाप्ति और ज्ञान की ज्ञाप्ति की व्याख्या करते हैं।

भाट्ट मीमांसा में ज्ञातता की इस अवधारणा का उदय कुमारिल भट्ट के पश्चात् हुआ है। श्लोकवार्त्तिक में ज्ञातता की अवधारणा के स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। जैमिनी सूत्र में भी 'ज्ञान के ज्ञान के विषय में कोई चर्चा नहीं मिलती। शाबरभाष्य में यह कहा गया है कि विषय बोध के उपरांत ज्ञान का ज्ञान होता है। शाबरभाष्य के अनुसार ज्ञान का ज्ञान अनुमान से होता है। शाबरभाष्य के अनुसार अर्थ के अज्ञात रहते कोई भी व्यक्ति ज्ञान का ग्रहण नहीं करता, अर्थ के ज्ञात होने पर अनुमान से ज्ञान का ग्रहण होता है। पहले किसी अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है तदनन्तर इस ज्ञान का बोध होता है।

इस प्रकार शाबरभाष्य में स्पष्ट कहा गया है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष बोध नहीं होता, अपितु इसका ग्रहण अनुमान से होता है। किन्तु इस अनुमान के स्वरूप अथवा इसकी प्रक्रिया की व्याख्या शाबरभाष्य में नहीं मिलती। पार्थसारथी मिश्र ने न्याय रत्नाकर नामक टीका में यह प्रतिपादित किया है कि ज्ञान का ज्ञान अर्थापत्ति अथवा अनुमान से होता है। शास्त्रदीपिका में बलपूर्वक यह स्थापना की गई है

कि ज्ञान अनुमेय है। यहाँ पार्थसारथी मिश्र ने यह भी बतलाया है कि इस अनुमान की प्रविधि क्या है। उनके इस विवेचन में ज्ञातता का स्वरूप कुछ अधिक ही स्पष्ट हुआ है, यद्यपि उन्होंने 'ज्ञातता' पद का प्रयोग कहीं नहीं किया है।

नोट

'ज्ञान के ज्ञान' की चर्चा करते हुए पार्थसारथी मिश्र कहते हैं कि ज्ञान सकर्मक क्रिया है। अर्थ अथवा विषय ज्ञान की क्रिया का कर्म है। जिस प्रकार पाक आदि क्रिया तण्डुल आदि में फल (विक्लित्तः = गलना) उत्पन्न करती है उसी प्रकार ज्ञान की क्रिया अपने कर्म में कुछ फल (ज्ञातता) उत्पन्न करती हैं। इस फल (ज्ञातता) के द्वारा ही अपरोक्ष रूप (अनुमान अथवा अर्थापत्ति) से 'ज्ञान का ज्ञान' होता है।

'ज्ञातता की यह अवधारणा भारतीय ज्ञानमीमांसा में अन्यत्र नहीं पाई जाती। स्पष्टतः अन्य विचारकों ने ज्ञातता की इस अवधारणा के विरुद्ध आपत्तियाँ उपस्थित की हैं। ज्ञातता कर अवधारणा के विरुद्ध आपत्ति उपस्थित करते हुए कहा गया है कि यदि यह मान लिया जाय कि ज्ञान की क्रिया के द्व ारा विषय अथवा अर्थ में 'ज्ञातता' नामक फल (गुण) उत्पन्न होता है तो फिर इस प्रकार भूत तथा भविष्य के विषय का ज्ञान असंभव हो जाएगा क्योंकि भूत तथा भविष्य विषयक ज्ञान में ज्ञाता के सम्मुख विषय उपस्थित नहीं होता तथा जो विषय उपस्थित नहीं उसमें कोई धर्म कैसे उत्पन्न किया जा सकता है।

इस आपत्ति का निराकरण करते हुए मीमांसक कहते हैं कि जिस प्रकार 'विगत दिनों में यह दसवाँ दिन था'-इस प्रकार की संख्या की प्रतीति होती है उसी प्रकार भूत और भविष्यत विषयक ज्ञान में भी प्रकाशन रूप धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है। इस तथ्य को प्रमाण के आधार पर स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार मीमांसा मतानुसार ज्ञातता द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है और उसी के द्वारा ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। किन्तु ग्रहण के पूर्व भी ज्ञान में स्वतः रूपेण प्रामाण्य उपस्थित होता है। ज्ञान का मूल कार्य है अर्थबोधकता, जो प्रामाण्य की ज्ञाप्ति के बिना भी संभव होता है। ज्ञान में प्रारंभिक तो विषय-बोध ही है, प्रामाण्य बोध तो उसके अनन्तर उपस्थित होता है।

कार्य विषयक स्वतः प्रामाण्यवाद - ''प्रमाण अपने कार्य में निरपेक्ष होता है'' - श्लोकवार्त्तिक में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। श्लोकवार्तिक के अनुसार वस्तुएँ अपनी उत्पत्ति के लिए कारण की अपेक्षा रखती हैं, कार्य के लिए नहीं। उत्पत्ति के उपरान्त वस्तुएँ अपने स्वभाव से ही कार्य में प्रवृत्त होती है। इस प्रकार प्रामाण्य का अपने कार्य में स्वतस्त्व सिद्ध है।

मीमांसा का परतः अप्रामाण्यवाद - मीमांसा मत के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य उत्पत्ति, ज्ञाप्ति और कार्य तीनों ही दृष्टियों से स्वतः है किन्तु ज्ञान का अप्रामाण्य अपनी कार्य ज्ञाप्ति और उत्पत्ति की तीनों ही दृष्टियों से परतः है।

मीमांसा मतानुसार विषय का बोध ही ज्ञान है और ज्ञान की स्वतः प्रामाण्यता के कारण विषय का प्रत्येक बोध (ज्ञान) प्रामाण्य होता है किन्तु जब अन्य प्रकार से इस विषय का बाध होता है तो इस बाधित विषय के कारण ज्ञान अप्रामाण्य हो जाता है। यही प्रामाण्य का परतस्त्व है।

मीमांसा मतानुसार ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति इन्द्रियदोषादि के कारण अर्थात् बाह्य कारणों से होती है। यही मीमांसा का उत्पत्ति विषयक परतः अप्रामाण्यवाद है।

पुन: इस अप्रामाण्य का ज्ञान (ज्ञाप्ति) भी परवर्ती कारणों यथा, बाधकत्व, विसंवाद आदि से होता है अत: अप्रामाण्य अपनी ज्ञाप्ति में भी परत: ही है। यही मीमांसा का ज्ञाप्ति विषयक परत:अप्रामाण्यवाद है।

नोट

मीमांसा मतानुसार ज्ञान के अप्रामाण्य का अर्थ है 'गृहीत भाव का अन्यथाभाव'। पुन: अर्थ के तथाभाव के समान अन्यथाभाव का ग्रहण स्वयं नहीं होता, यथा, यह घट है- इस बोध में प्रामाण्य स्वत: है किन्तु जब परवर्ती बोध यह हो कि 'यह पट है' तो इससे पूर्ववर्ती ज्ञान का बोध होता है। इसे ही गृहीत भाव का अन्यथाभाव कहते हैं। यह अन्यथाभाव, जो अप्रामाण्य का ज्ञापक है, उसका बोध परत: अर्थात परवर्ती बोध से ही संभव होता है। अतएव अप्रामाण्य अथवा अन्यथाभाव की ज्ञाप्ति परत: है।

'लोकवार्त्तिक के अनुसार अप्रामाण्य तीन प्रकार के हैं-(1) मिथ्याज्ञान, (2) अज्ञान, और (3) संशय। इनमें से मिथ्याज्ञान और संशय भाव रूप हैं तथा इनकी उत्पत्ति दोषयुक्त हेतु से होती है। किन्तु इनमें से अज्ञान अभाव रूप है अत: इसकी उत्पत्ति संभव नहीं। अत: अज्ञान का कोई हेतु नहीं। वस्तुत: ज्ञान का कारण न होने से ही अज्ञान संभव होता है। यही अप्रामाण्य का उत्पत्ति विषयक परतस्त्ववाद है।

प्रभाकर का मत

प्रभाकर मत भी स्वत: प्रामाण्यवाद का समर्थक है। प्रभाकर मत के अनुसार ज्ञान दो प्रकार के हैं-अनुभव और स्मृति। इनमें प्रत्येक अनुभव यथार्थ और इस प्रकार प्रत्येक अनुमान प्रामाण्य है तथा प्रत्येक स्मृति अयथार्थ अथवा अप्रामाण्य है। चूंकि प्रत्येक अनुभव यथार्थ है अतएव उसमें शंका का स्थान ही नहीं है और जब शंका का स्थान ही नहीं है तो उसके प्रामाण्य के ग्रहण अथवा निश्चय के लिए संवाद, कारण दोषाभाव आदि की भी कोई आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार प्रभाकर मत के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञाप्ति और उत्पति दोनों का ही स्वतस्त्व सिद्ध है।

यहाँ प्रभाकर मीमांसकों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब प्रत्येक अनुभव प्रामाण्य है तो शुक्ति-रजत के अनुभव को भी प्रामाण्य मानना होगा, किन्तु शुक्ति-रजत के ज्ञान को प्रामाण्य मानने से तो भ्रम और यथार्थ का भेद नष्ट होगा।

इस प्रश्न के उत्तर में प्रभाकर कहते हैं कि शुक्ति-रजत का ज्ञान भी सर्वथा अयथार्थ नहीं। शुक्ति-रजत (शुक्ति में यह बोध कि यह रजत है) में इदन्ता (इदम् = यह) का जो बोध है वह अनुभूति रूप प्रमा है और रजत का जो बोध है वह स्मृति रूप अप्रमा है। इस प्रकार शुक्ति रजत में इदन्ता का ज्ञान यथार्थ है तथा रजत का ज्ञान अयथार्थ। यहाँ स्मृति रूप जो रजत का ज्ञान है वही भ्रान्ति ज्ञान है क्योंकि वह अनुभव के व्यवहार (प्रवृत्ति) का प्रवर्तक है। 'रजत' के ज्ञान के कारण ज्ञाता रजत को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है जिस प्रवृत्ति में वह असफल होता है। इस प्रकार रजत के बोध (अप्रामाण्य) का परतस्त्व सिद्ध होता है।

मीमांसा मतानुसार शुक्तिख्ररजत के ज्ञान का कारण 'विवेकाग्रह' है अर्थात् प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का विवेक (भेद) न कर पाने के कारण शुक्ति-रजत के बोध की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार मीमांसा मतानुसार प्रत्येक ज्ञान स्वत:स्फूर्त रूप से प्रामाण्य और प्रवृत्ति विसंवादादि के कारण (परत:) अप्रामाण्य है।

उपसंहार-इस प्रकार मीमांसक प्रामाण्य को स्वत: और अप्रामाण्य को परत: सिद्ध करते हैं। मीमांसा का प्रामाण्य विषयक यह विवेचन मौलिक और सर्वाधिक प्राचीन समझा जाता है। मीमांसकों ने वेदों का स्वत: प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए ही प्रामाण्य विषयक ये मतंव्य प्रकट किये हैं। किन्तु वेद

विरोधी दार्शनिकों यथा श्रमणों ने वेदों की अपौरुषेयता का खंडन करते हुए बलपूर्वक मीमांसकों के स्वत: प्रमाण्यवाद का खंडन किया है और इस रूप में वेदों की प्रमाणिकता का भी खंडन किया है।

बौद्ध मत

नोट

बौद्ध प्रमाणमीमांसा का उदय दिग्नाग (500 ईस्वी) के प्रमाणसमुच्चय के साथ माना जाता है। दिग्नाग के पूर्व वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्य वसूबंधु ने भी अपने अभिधर्म कोश में प्रमाणों का विवेचन प्रारंभ किया था, किन्त यह विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है। दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय का मूल संस्कृत पाठ अब यद्यपि लुप्त हो चुका है किन्तु उसके तिब्बती पाठ में प्रामाण्यवाद विषयक विश्लेषण नहीं मिलता। दिग्नाग के परवर्ती बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति की सुप्रसिद्ध रचनाओ-प्रमाणवात्तिक और न्यायाबिंदु में भी प्रामाण्यवाद विषयक कोई प्रकृष्ट विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि इस ग्रंथ का मूल प्रश्न प्रमा और अप्रमा विषयक ही है। तथापि धर्मकीर्ति ने बौद्धों के प्रामाण्य विषयक मंतव्य का संकेत प्रमाण ावार्त्तिक में दिया है-

'स्वरूपस्य स्वतो गति:
प्रामाण्यं व्यवहारेण।"

-(प्रमाणवार्त्तिक परिच्छेद 1/6-7)

अर्थात् ''ज्ञान अपने स्वरूप का ग्रहण स्वयं ही करता है, किन्तु उसके प्रामाण्य की ज्ञाप्ति व्यवहार से होती है।'' यहाँ यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि बौद्धों का प्रमा विषयक मंतव्य प्रमा को व्यवहार केन्द्रित बतलाया है- "प्रामाण्यामविसंवादीज्ञानमर्थक्रियास्थिति: (प्रमाणवात्तिक 1/3)।

प्रमाणवार्तिक के वृत्तिकार मनोरथनन्दी ने अपनी वृत्ति में प्रामाणवार्तिक के प्रामाण्यविषयक मंतव्य को कुछ और अधिक स्पष्ट किया। इस प्रकार यह कहा जाना चाहिए कि बौद्ध प्रामाण्यवाद का बीज वपन धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक में होता है जिसका अंकुरण मनोरथनन्दी वृत्ति में हुआ और जिसका चरम प्रस्फुटन शांतरक्षित के तत्त्वसंग्रह और कमलशील के तत्त्वसंग्रहपंजिका में हुआ है।

तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने प्रामाण्य विषयक चारों मतों-स्वत: प्रामाण्यवाद, परत:प्रामाण्यवाद तथा स्वत:अप्रामाण्य और परत:अप्रामाण्यवाद का उल्लेख करते हुए मीमांसकों के स्वत:प्रामाण्यवाद और परत:अप्रामाण्यवाद की विस्तृत विवेचना की है तथा मीमांसा मत का बलपूर्वक खंडन किया है। शान्तरक्षित ने मीमांसा के प्रामाण्य विषयक मत का जितना स्पष्ट और सरल उल्लेख अपने तत्त्वसंग्रह में किया है उतना स्पष्ट और सरल उल्लेख कुमारिल भट्ट ने अपने 'लोकवार्तिक में भी नहीं किया है। अतएव भाट्ट मीमांसकों के प्रामाण्य विषयक मंतव्य को ठीक-ठीक समझने के लिए 'लोकवार्तिक के साथ शांतरक्षित के तत्त्वसंग्रह का अध्ययन भी अत्यन्त आवश्यक है।

बौद्ध न्याय का प्रामाण्य विषयक सिद्धांत - मध्वाचार्य के अनुसार बौद्ध प्रामाण्य को परत: और अप्रामाण्य को स्वत: मानते हैं।75 मध्यवाचार्य के इस मत से अनेक विद्वान सहमत नही हैं। बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि प्रामाण्य की दृष्टि से बौद्ध अनियमवाद के समर्थक हैं। बौद्ध शांतरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में स्पष्ट लिखा है कि बौद्धों को प्रामाण्य विषयक अनियम ही अभिष्ट है। बौद्ध मतानुसार कुछ ज्ञान, यथा, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, योगी-ज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान, अभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा अनुमान का प्रामाण्य स्वत: होता है। तथा कुछ अन्य ज्ञान, यथा, वेदोत्पन्न ज्ञान, अनभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा ऐसा ज्ञान, जिसकी अर्थक्रिया सिद्ध नहीं है, परत: प्रामाण्य है। कमलशील ने तत्त्वसंग्रहपंजिका में बौद्धों के

अनियमवाद का उल्लेख करते हुए कहा है कि प्रामाण्य कहीं तो स्वत: है, कहीं परत:, इसी भाँति अप्रामाण्य भी कहीं स्वत: है, कहीं परत:। इस प्रकार, कमलशील के मतानुसार, प्रामाण्य-अप्रामाण्य के स्वतस्व और परतस्त्व विषयक मात्र चार ही पक्ष नहीं है, वरन् वहाँ एक पाँचवां पक्ष अनियमवाद का भी पक्ष है, जो बौद्धों का अभिष्ट है।"

नोट

इस प्रकार प्रामाण्य के विषय में बौद्धों द्वारा अनियमवाद की पक्षधरता सिद्ध है, तथापि बौद्ध कभी ज्ञान को 'स्वत:' और कभी 'परत:' प्रामाण्य मानते हैं, अतएव स्वत:प्रामाण्यवाद' से बौद्धों का क्या अभिप्राय है-इसे समझ लेना भी आवश्यक है।

उत्पत्ति विषयक प्रामाण्यवाद - जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, प्रामाण्य की समस्या पर उत्पत्ति और ज्ञाप्ति की दो दृष्टियों से विचार किया गया है। उत्पत्ति की दृष्टि से बौद्ध प्रामाण्य की उत्पत्ति को न तो स्वत: मानते हैं, न परत:, न उभयत:। बौद्ध मत वस्तुत:, अनुत्पादवाद का समर्थक है। इस मत के अनुसार ''हेतु प्रत्ययों की अपेक्षा करके ही सकल भावो (पदार्थों) की उत्पत्ति होती है।'' आचार्य चंद्रकीर्ति कहते हैं कि इस नियम को प्रकाशित कर भगवान् ने भावों की उत्पत्ति के संबंध में वादियों के विभिन्न सिद्धांतों अहेतुभाव, एकहेतवाद, विषमहेतुवाद आदि का निराकरण किया है-इसलिए विभिन्न वादियों का स्वकृतत्त्व, परकृतत्त्व, स्वपरोभयकृतत्त्व का सिद्धांत निषिद्ध हो जाता है। इन वादों के निरोध से वस्तुत: पदार्थों का सांवृत्त (अयथार्थ) रूप उभाषित होता है और यह सिद्ध होता है कि आर्ष ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावत: अनुत्पन्न है।'' आचार्य नागार्जुन पदार्थों की उत्पत्ति किसी तरह नहीं मानते। उनके मत में वस्तुएँ न तो स्वत: उत्पन्न होती हैं, न परत: न उभयत:। पदार्थों के विषय में सांख्य स्वत: उत्पादवादी है। सांख्यों के स्वत: उत्पादवाद का खंडन करते हुए चंद्रकीर्ति कहते हैं कि किसी भी उपपत्ति से सांख्य का स्वत: उत्पादवाद संभव नहीं। जो वस्तु स्वरूप से विद्यमान है उसकी पुन: उत्पत्ति निष्प्रयोजन है। यदि जात स्वरूप का ही जन्म मानें तो वस्तुओं का कभी भी विनाश संभव नहीं होगा। इसी भाँति वस्तुओं के परत:उत्पाटवाद का खंडन करते हुए बौद्ध कहते हैं कि भावों को परत: उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि पर का अभाव है। मध्यमकावतार में चंद्रकीर्ति ने कहा है कि यदि अन्य से अन्य उत्पन्न हो तो ज्वाला से भी अंधकार उत्पन्न होना चाहिए और सब से सब का जन्म होना चाहिए। अतएव परत:उत्पादवाद तो असिद्ध है। पुन: बौद्ध मतानसार, उभयत: भी पदार्थों की उत्पत्ति संभव नहीं क्योंकि जब पृथक-पृथक (स्वत: तथा परत:) दोनों में भावों की उत्पत्ति का सामर्थ्य नहीं तो सम्मिलन में भी यह सामर्थ्य कहाँ से आएगा ? पुन: भावों का अहेतुत: भी उत्पाद संभव नहीं, क्योंकि यदि भावों (पदार्थों) की उत्पत्ति अहैतुकी मानें तो इससे कार्याकारण भाव का विरोध होगा। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार सभी पदार्थों का अनुत्पन्न योग ही सिद्ध है। पुन: यदि सभी पदार्थ अनुत्पन्न हैं तो ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुत्पन्न ही समझा जाना चाहिए। अतएव बौद्ध मतानुसार यह स्वीकार करने के पर्याप्त कारण है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति न तो स्वत: है, न परत: है, न उभयत: और न ही यह अहैतुकी है। प्रामाण्य की ज्ञाप्ति - प्रामाण्य की ज्ञाप्ति के विषय में बौद्ध मत परतस्त्ववादी है। बौद्धों ने बलपूर्वक प्रामाण्य के स्वत: ज्ञाप्ति विषयक सांख्य और मीमांसा मत का खंडन किया है।

मीमांसा मत (श्लोकवर्त्तिक) के आधार पर शांतरक्षित इस प्रश्न के कल उत्तर भी सुझाते हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. प्रमाणों के भीतर प्रमेय का बोध आदि ज्ञान के भीतर अपना प्रामाण्य ग्रहण करने, (दृष्टव्य श्लोकवार्त्तिका 1/1/2/47) की निश्चित शक्ति होती है क्योंकि यदि किसी वस्तु में यह नहीं शक्ति है तो यह अन्य किसी भी वस्तु से यह शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकेगी।

2. ज्ञान का प्रामाण्य निरपेक्ष है। यह निरपेक्षता इस अर्थ में है कि प्रामाण्य अपनी ज्ञाप्ति अथवा सिद्धि के लिए किसी भी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। यदि यह किसी दूसरे की अपेक्षा रखे (परतः हो) तो इससे अनावस्था दोष उत्पन्न होगा।

नोट

इनमें से प्रथम उत्तर (उत्तर 1) की चर्चा करते हुए बौद्ध प्रश्न करते हैं कि 'प्रमाणों के भीतर अपना प्रामाण्य ग्रहण करने की स्वाभाविक शक्ति है-इस कथन में 'स्वाभाविक शक्ति' का क्या अभिप्राय है?-

1. क्या यह शक्ति नित्य और निर्हेतुक हैं इसीलिए 'स्वाभाविक है ?

अथवा

2. क्या वह शक्ति अनित्य है तथा ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो जाती है और इस रूप में उसे अपनी उत्पत्ति के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती-इस रूप में वह 'स्वाभाविक है ?

बौद्ध मतानुसार इन दो बिन्दुओं में से विकल्प (1) को स्वीकार करने पर पुनः चार विकल्प उत्पन्न होते हैं-

(क) क्या वह नित्य शक्ति प्रमाणों से भिन्न है ?

(ख) क्या वह नित्य शक्ति प्रमाणों से अभिन्न है ?

(ग) क्या वह नित्य शक्ति प्रमाणों से भिन्न है और अभिन्न भी है ?

(घ) क्या वह नित्य शक्ति न तो प्रमाणों से भिन्न है और न प्रमाणों से अभिन्न है ?

बौद्ध मतानुसार इनमें से विकल्प (क) की संगति मीमांसा मत से नहीं है क्योंकि मीमांसक अनेक बार यह कह चुके हैं कि सभी पदार्थों की शक्ति उनसे अभिन्न है क्योंकि वस्तु का जो स्वरूप इष्ट कार्य करने में समर्थ हो वही उसकी शक्ति' कहलाता है। यदि पदार्थ और उसकी शक्ति में एकात्मकता का अभाव हो (दोनों अभिन्न न हों) तो वस्तु का अर्थक्रियाकारित्व भी संभव नहीं होगा।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रमाणों के भीतर प्रामाण्य ग्रहण की शक्ति प्रमाण से अभिन्न है। किन्तु इससे विकल्प (2) भी खंडित होता है कि प्रमाणों के भीतर प्रामाण्य ग्रहण की शक्ति नित्य है क्योंकि कोई भी पदार्थ यहाँ नित्य नहीं है। बौद्ध मतानुसार प्रत्येक पदार्थ हेतु से उत्पन्न है इस प्रकार प्रमाण भी हेतु से ही उत्पन्न समझे जाने चाहिए। यदि प्रमाणों की हेतुरहित माना जाय तो या तो वे सदा ही होंगे अथवा सदा ही नहीं होंगे। किन्तु प्रमाणों का स्वरूप ऐसा नहीं है। वे समय के अधीन उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। अतएव, पदार्थों और इस रूप में प्रमाणों को भी अहैतुकी नहीं कहा जा सकता। प्रमाणों का उदय (ज्ञान का उदय) सदैव सर्वत्र न होकर यदा-कदा ही होता है-यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से सिद्ध है, अतएव, यह कहना कि प्रमाण और इस रूप में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञाप्ति प्रमाणों की स्वाभाविक शक्ति है, उचित नहीं।

इस प्रकार बौद्ध मतानुसार विकल्प (ख) भी खंडित होता है।

विकल्प (ग) को खंडित करते हुए बौद्ध कहते है कि यदि शक्ति प्रमाणों से भिन्न है तो वह अभिन्न नहीं हो सकती और यदि वह शक्ति प्रामाणों से अभिन्न है तो भिन्न नहीं होगी, इस रूप में

विकल्प (ग) भी स्वीकृत करने योग्य नहीं है। इसी प्रकार विकल्प (घ) भी स्वीकृत करने योग्य नहीं है क्योकि अभिन्न और भिन्न एक साथ संभव नहीं, अतएव विकल्प (घ) को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

नोट

इस प्रकार बौद्ध शांतरक्षित के अनुसार विकल्प (1) एक निरर्थक वक्तव्य है। पुनः विकल्प (2) में शांतरक्षित सिद्ध-साधनता दोष दिखलाने की चेष्टा करते हुए कहते है कि 'जब मीमांसक यह कहते हैं कि 'जिस हेतु से प्रमाण उत्पन्न होते हैं उसी हेतु से उनका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है तो यहाँ मीमांसक कोई भी नई बात नहीं कहते क्योंकि सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं और जब वे अपने करण से उत्पन्न होते हैं तो उत्पत्ति के पश्चात् उनमें किसी अन्य शक्ति का आधान नहीं किया जा सकता क्योंकि वे तो उत्पन्न होने के साथ ही नष्ट होते हैं अतएव परवर्ती क्षण में उनमें (जो पदार्थ नष्ट हो चुका है) किसी शक्ति का आधान कैसे संभव होगा? अत: इस पर तो विवाद संभव ही नहीं है कि किसी भी ज्ञान में यह प्रामाण्य स्वाभाविक रूप में स्थित होता है, तथापि, बौद्ध मतानुसार इससे ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि इस प्रामाण्य की ज्ञाप्ति परतः है।

इस प्रकार बौद्ध मतानुसार ज्ञान में प्रामाण्य-शक्ति तो स्वभावत: स्थित है किन्तु इस प्रामाण्य का ग्रहण स्वत: न होकर सदैव परतः ही होता है। बौद्ध मतानुसार ज्ञान के प्रामाण्य का विनिश्चय अर्थक्रियावाद अथवा हेतु शुद्धि ज्ञान से होता है, ज्ञान के स्वरूप मात्र या अनुभव मात्र से यह प्रामाण्य बोध कदापि संभव नहीं। यदि केवल मात्र अनुभव से ही ज्ञान की प्रामाणिकता का बोध होता तो यह एक केशापाश है-इस प्रकार का स्पष्टत: भासित होने वाला ज्ञान भी प्रामाणिक हो जाता। किन्तु यह ज्ञान प्रामाणिकता नहीं क्योंकि यहाँ अनेक केश (अनेकत्व) एक केशपाश (एकत्व) के रूप में भासित हो रहे हैं।

इस प्रकार बौद्ध मतानुसार प्रामाण्य का निविश्चय अर्थक्रिया ज्ञान और कारण शुद्धि ज्ञान से होता है।

अर्थक्रियावाद के विरुद्ध मीमांसकों की आपत्तियाँ और बौद्धों द्वारा उनका निराकरण - अर्थक्रिया ज्ञान के विरुद्ध मीमांसकों ने मुख्यत: तीन ओपत्तियाँ प्रस्तुत की है जिनका वर्णन शांतरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में इस प्रकार किया है-

(1) अर्थक्रिया ज्ञान में अनावस्था दोष होता है।

(2) अर्थक्रिया ज्ञान में इतरेतराश्रय दोष होता है।

(3) अर्थक्रिया ज्ञान में स्वत: प्रामाण्य नहीं है।

शांतरक्षित ने निम्नलिखित प्रकार से मीमांसकों की आपत्तियों का वर्णन करते हुए इन शंका के समाध ान का प्रयत्न भी किया है-

1) अर्थक्रियां ज्ञान में अनावस्था दोष - बौद्ध ज्ञाप्ति विषयक परत प्रामीण्यवाद के समर्थक है। इस परतः प्रामाण्यवाद के विरुद्ध आपत्ति करते हुए मीमांसक कहते है कि प्रमाण्य को परत: कहते से अनावस्था दोष उत्पन्न होता है क्योंकि जिस प्रकार प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए द्वितीय ज्ञान की प्रामाणिकता की आवश्यकता होती है उसी प्रकार द्वितीय ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए तृतीय ज्ञान की आवश्यकता होगी। इस प्रकार प्रामाण्य में अनावस्था दोष उत्पन्न होगा। मीमांसा मतानुसार इस अनावस्था दोष से बचने के लिए कहीं-न-कहीं किसी-न-किस ज्ञान की स्वत: प्रामाण्य अवश्य स्वीकार करना होगा। अब, मीमांसा मतानुसार, यदि बौद्ध यह कहते हैं कि अर्थक्रिया ज्ञान स्वत:

प्रामाण्य है तो प्रश्न यह उठेगा कि किसी भी ज्ञान की अपेक्षा अर्थक्रिया ज्ञान अथवा कारण शुद्धि ज्ञान में कौन-सी ऐसी विशेषता है जिससे अन्य ज्ञान को स्वत: प्रामाण्य न माना जाय किन्त अर्थक्रिया ज्ञान को स्वत: प्रामाण्य मान लिया जाय? अथवा, अर्थक्रिया ज्ञान प्रथम ज्ञान से किस अर्थ में भिन्न है कि अर्थक्रिया ज्ञान को प्रथम ज्ञान की तरह परत: प्रामाण्य नहीं माना जाय?

मीमांसकों की इस आपत्ति का उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं कि वही ज्ञान प्रमा रूप अथवा यथार्थ है जिसमें वस्तु संवाद हो। यहाँ 'वस्तु संवादी' का तात्पर्य अर्थक्रिया ज्ञान से है। इस अर्थक्रिया ज्ञान का अनुभव सर्वथा स्पष्ट है और अर्थसिद्धि से ही इस ज्ञान के प्रामाण्य का बोध हो जाता है। अतएव अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। उदाहरणार्थ, 'यह घट है'- इस ज्ञान के प्रामाण्य का बोध इस अर्धक्रिया ज्ञान से होता है कि इसमें जल भरा जा सकता है। अब इस अर्थक्रिया ज्ञान का कि 'इसमें जल भरा जा सकता है' बोध स्पष्ट है, इसे अन्य किसी ज्ञान से पुष्ट नहीं करना होता। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार अर्थक्रिया ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य सिद्ध है।

2) अर्थक्रिया ज्ञान में इतरेतराश्रय दोष - मीमांसक बौद्धों की इस युक्ति को कि 'अर्थक्रिया ज्ञान प्रामाण्य का ज्ञापक है', इतरेतराश्रय दोष से ग्रस्त बतलाते हैं। मीमांसा मतानुसार बुद्धिमान व्यक्ति ज्ञान के प्रामाण्य का विनिश्चय अर्थक्रिया सिद्धि के लिए ही करना चाहते हैं अतएव वे व्यक्ति प्रामाण्य विनिश्चय के पश्चात् ही अर्थक्रिया सिद्धि में प्रवृत्त होते हैं, यथा इसका निश्चय हो जाने के उपरांत ही कि यह घट ज्ञान प्रामाण्य है। भ्रम नहीं', व्यक्ति इसमें जल भरने को प्रवृत्त होता है। इस प्रकार प्रामाण्य ग्रहण प्रथम होता है और अर्थक्रिया प्रवृत्ति अनन्तर होती है। इस प्रकार बौद्ध जब यह कहते हैं कि अर्थक्रिया सिद्धि के पश्चात् प्रामाण्य विनिश्चय होता है, यथा जल ग्रहण की क्रिया पहले होती है तथा घट के होने का निश्चय बाद में होता है तो यहाँ बौद्ध इतरेतराश्रय दोष से ग्रस्त हो जाते है।

मीमांसकों की इस आपत्ति का उत्तर देते हुए बौद्ध तार्किक यह कहते हैं कि लोक में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है-(क) प्रयोजन सिद्धि, और (ख) प्रामाण्यविनिश्चय। इनमें प्रयोजन सिद्धि के लिए जो प्रवृत्ति होती है वह भ्रम अथवा संशय की अवस्था में भी संभव है यथा मरुभूमि में जल का भ्रमात्मक अथवा संशयात्मक बोध भी व्यक्ति को 7 की ओर प्रवृत्त करता है। प्रयोजन सिद्धि की यह प्रवृत्ति, स्पष्टत: प्रमा और अप्रमा दोनों ही स्थितियों में होती है। यह प्रवृत्ति प्रमाण-विनिश्चय का आधार नहीं है जिसके विषय में मीमांसक कहते हैं कि प्रामाण्य बोध (वस्तु बोध) के अनन्तर अर्थक्रिया प्रवृति होती है। वस्तुत: अर्थक्रियाप्रवृत्ति प्रमाण विनिश्चय की पूर्ववर्ती ही है क्योंकि जब मरुभूमि में जल के बोध से व्यक्ति को जल प्राप्त होता है तो ज्ञान प्रामाण्य समझा जाता है अथवा अप्रामाण्य समझा जाता है। इस प्रकार बौद्ध जिस अर्थक्रिया ज्ञान की बात करते हैं वह अर्थक्रिया ज्ञान प्रामाण्य विनिश्चय की प्रवृत्ति है जो प्रत्येक स्थिति में प्रामाण्य बोध की परवर्ती ही है, पूर्ववर्ती नहीं।

3) अर्थक्रिया ज्ञान स्वत: प्रामाण्य - ममांसा मतानुसार अर्थकिस ज्ञान स्वत: प्रामाण्य नहीं है। इसके प्रामाण्य की ज्ञाप्ति परत: होती है। यथा, स्वप्न में जो अर्थक्रिया ज्ञान होता है वह यथार्थ नहीं अयथार्थ होता है अतएव अर्थक्रिया ज्ञान के हेतु से प्रथत ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

मीमांसा मत की इस शंका का समाधान करते हुए बाह्यार्थवादी बौद्ध कहते है कि स्वप्नावस्था की अर्थक्रिया ज्ञान की भ्रान्ति के आधार पर अर्थक्रिया ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य को असिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वप्नावस्था का अर्थक्रिया ज्ञान बाह्यार्थ द्वारा उत्पन्न नहीं होता तथा न ही इस ज्ञान

का कोई संवाद बाह्यर्थ से होता है। बाह्यार्थवादी बौद्धों के अतिरिक्त विज्ञानवादी बौद्धों ने मीमांसकों की आपत्ति का उत्तर अपनी तत्त्वमीमांसा के अनुकूल देते हुए कहा है कि स्वप्नावस्था के पदार्थ चित्तचैत्त (विज्ञान, संस्कार आदि) से भिन्न नहीं है और उनका अनुभव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होता है जबकि बाह्य पदार्थों का ज्ञान बाह्येन्द्रिय के द्वारा होता है। इस प्रकार स्वप्न और जागृत का भेद तो सर्वज्ञात है। अतएव स्वप्न जगत की अर्थक्रिया से मिश्रित नहीं किया जाना चाहिए और न ही यह समझा जाना चाहिए कि स्वप्नावस्था की अर्थक्रिया के आधार पर जाग्रतावस्था की अर्थक्रिया का स्वत: प्रामाण्य खंडित होता है।

कारण शुद्धि ज्ञान – बौद्ध मतानुसार प्रामाण्य का विनिश्चय (प्रामाण्य की ज्ञाप्ति) अर्थक्रिया और हेतु शुद्धि ज्ञान अथवा कारण शुद्धि ज्ञान से होता है। इस पर आपत्ति करते हुए मीमांसक कहते हैं कि यदि ज्ञान के प्रामाण्य का निर्धारक कारण शुद्धि ज्ञान को माना जाय तो इससे अनावस्था दोष होगा।

मीमांसकों की इस आपत्ति का निराकरण करते हुए शांतरक्षित ने कहा है कि कारण शुद्धि ज्ञान में अनावस्था दोष नहीं होता क्योंकि कारण शुद्धि ज्ञान अन्य ज्ञान की अपेक्षा न करने वाले संवादी ज्ञान से उत्पन्न होता है। बौद्ध मतानुसार ज्ञान दो प्रकार के होते हैं-(क) सन्निकृष्ट विषयक, (ख) असन्निकृष्ट विषयक या विप्रकृष्ट विषयक।

इनमें सन्निष्कृष्ट विषयक ज्ञान उन विषयों का ज्ञान है जो ज्ञाता के सम्मुख उपस्थित नहीं अथवा ज्ञाता के साक्षात सम्पर्क में नहीं है। इनमें सन्निकृष्ट विषयक ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण अर्थक्रिया ज्ञान से होता है तथा असन्निकृष्ट विषय के ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण कारण शुद्धि से होता है। पुन: कमलशील के अनुसार, कारण-शुद्धि से प्रामाण्य का। निश्चय होता है-ऐसा तो मीमांसक भी मानते हैं।

स्वत: अप्रामाण्यवाद – प्रामाण्य की ज्ञाप्ति के परतस्त्व की स्थापना के साथ बौद्ध अप्रामाण्य का स्वतस्त्व: भी सिद्ध करना चाहते हैं। उनके मतानुसार ज्ञान का प्रामाण्य कुछ बाह्य कारणों से गृहीत होता है किन्तु ज्ञान स्वरूपत: अप्रामाण्य ही है। बौद्ध मतानुसार ज्ञान का सर्वत्र स्वत:अप्रामाणिक होना सामान्य नियम से सिद्ध है किन्तु अर्थक्रिया ज्ञान तथा कारण शुद्धि ज्ञान से यह अप्रामाण्य बाधित होता है। बौद्ध नैय्यायिकों तथा मीमांसकों के परत:अप्रामाण्यवाद का खंडन करते हुए बौद्ध कहते हैं कि अप्रामाण्य को परत: मानने से अनावस्था दोष होता है क्योंकि अप्रामाण्य प्रामाण्य के अधीन है, और प्रामाण्य स्वत:-सिद्ध नहीं।

स्वत: प्रामाण्यवाद का खंडन – ज्ञान के प्रामाण्य में स्वतस्त्व सिद्ध नहीं, ऐसा बौद्ध विचारक मानते हैं। इसका कारण बतलाते हुए बौद्ध कहते हैं कि स्वत:प्रामाण्यवादी बाधक ज्ञान के अभाव को ही प्रामाण्य मानते हैं और बाधक ज्ञान के अभाव के लिए 'अभाव' नामक एक दूसरे प्रमाण को स्वीकार करते हैं। पुन: बाधाभाव में जो प्रमाणान्तर है उसकी प्रामणिकता भी बाधाभाव से ही हैं। इस प्रकार बाधक ज्ञान की निरंतर अपेक्षा होने से ज्ञान को स्वत: प्रामाण्य मानने का सिद्धांत अनावस्था दोष से ग्रस्त होता है।

बौद्ध कमलशील के अनुसार स्वत:प्रामाण्यवादी मीमांसक भी यह मानते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कारणशुद्ध ज्ञान से होता है। तब, यदि कारण की शुद्धि-अशुद्धि के द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होता है तो इससे प्रामाण्य की ज्ञाप्ति का स्वतस्त्व तो खंडित हो ही जाता है। स्वत: प्रामाण्यवाद का खंडन करते हुए तत्त्वसंग्रह में कहा गया है कि यदि सभी प्रमाणों का प्रामाण्य

स्वतः ग्राह्य होता तो किसी की भी प्रवृत्ति असफल नहीं होती (स्वतः प्रामाण्यबधातु विपरीति न कश्चन तत्त्वसंग्रह 2947।।)

नोट

बौद्ध शांतरक्षित ने स्वतःप्रामाण्यवाद में अन्य दोष दिखालाते हुए कहा है कि स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक एक ओर तो यह मानते हैं कि प्रामाण्य की ज्ञाप्ति स्वतः होती है किन्तु यही मीमांसक दूसरी ओर यह भी मानते हैं कि सभी पदार्थों की शक्ति का बोध (ज्ञान का ज्ञान) अथपित्ति के द्वारा होता है, किन्तु, प्रामाण्य तो स्वयं शक्ति-रूप है, इस प्रकार बौद्ध मतानुसार, मीमांसक परस्पर व्याघातक वक्तव्य देते हैं क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण सदैव ज्ञान के ग्रहण के उपरांत ही संभव है। बौद्ध मतानुसार यदि ज्ञान ही स्वतः ग्राह्य नहीं (अर्थापत्ति द्वारा ग्राह्य है) तो प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता कैसे सिद्ध होगी।

इस प्रकार बौद्ध मतानुसार स्वतः प्रामाण्यवाद के खंडन से स्वतः अप्रामाण्यवाद मंडित होता है क्योंकि अप्रामाण्य प्रामाण्य के अधीन है।

स्वतः अप्रामाण्यवाद का मंडन – इस प्रकार स्वतःप्रामाण्यवाद को खंडित करते हुए बौद्ध स्वतःअप्रामाण्यवाद को मण्डित करते है। बौद्ध मतानुसार प्रामाण्य के स्वरूप की निष्पत्ति के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं है किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञाप्ति के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा होती है। बौद्ध मतानुसार जिस तर्क से ज्ञान के प्रामाण्य के स्वतस्त्व की सिद्धि होती है उसी तर्क से ज्ञान के स्वतःअप्रामाण्य का मंडन भी होता है। जिस प्रकार मीमांसक प्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय में यह कहते हैं कि यदि प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः संभव नहीं तो वह अन्य किसी प्रकार से उत्पन्न नहीं हो सकेगा, इसी प्रकार अप्रामाण्य के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि यदि अप्रामाण्य स्वतः उद्भूत नहीं है तो अन्य किसी कारण से अप्रामाण्य की उत्पत्ति संभव नहीं। पुनः जिस तर्क से मीमांसक यह कहते है कि ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय अन्य साधनों से होता है उसी तर्क से यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अन्य साधनों से (परतः) होता है। इस प्रकार प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों का ज्ञाप्ति एक ही प्रकार की सिद्ध होती है। तब बौद्ध प्रश्न करते है कि यदि प्रामाण्य को स्वतः माना जाय तो अप्रामाण्य को स्वतः मानने में क्या दोष है ?

उपसंहार- इस प्रकार बौद्ध मतानुसार प्रामाण्य की उत्पत्ति न तो स्वतः है न परत न उभयतः और न ही प्रामाण्य अहैतुकी है। बौद्ध मतानुसार आर्ष ज्ञान की दृष्टि से तो प्रामाण्य अनुत्पन्न है। किन्तु ज्ञाप्ति की दृष्टि से बौद्ध प्रमाण्य को परतः ही कहते है। बौद्ध मतानुसार ज्ञान के प्रामाण्य का विनिश्चय अर्थक्रियाज्ञान और हेतुशुद्धि ज्ञान से होता है। सन्निकृष्ट विषय ज्ञान (ज्ञाता के सम्मुख विषय का ज्ञान) के प्रामाण्य का ग्रहण अर्थक्रियाज्ञान द्वारा होता है तथा असन्निकृष्ट विषय (ज्ञाता के सम्मुख जो विषय उपस्थिति नही हैं उनका) ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण हेतृशद्धि ज्ञान से होता है।

पुनः ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में बौद्ध बतलाते हैं कि ज्ञान तो स्वरूपतः अप्रामाण्य ही है। ज्ञान का सर्वत्र अप्रामाणिक होना सामान्य नियम से सिद्ध है किन्तु अर्थक्रियाज्ञान तथा करणशुद्धि ज्ञान से यह अप्रामाण्य बाधित होता है और ज्ञान के प्रामाण्य का बोध ज्ञाता को होता है। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार ज्ञान के अप्रामाण्य में स्वतस्त्व है।

तथापि बौद्ध प्रामाण्यवाद के इस विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए (जैसा कि मध्वाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में कहा है) कि बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः

मानते हैं। इस विषय में बौद्ध शांतरक्षित और कमलशील ने स्पष्ट कहा है कि प्रामाण्य-अप्रामाण्य विषय अनिश्चय ही बौद्धों का अभिष्ट है। इस रूप में कहा जाना चाहिए कि प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में बौद्ध अनियमवाद के समर्थक हैं।

वेदान्त मत

वादरायण का वेदान्त सूत्र, जिसका काल तृतीय शताब्दी के पूर्व को समझा जाता है, में प्रामण्य विषयक कोई स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वेदान्त में तर्क अथवा प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा नहीं है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान अथवा परमार्थ ज्ञान के लिए समस्त लौकिक अलंकार निरर्थक है। तर्क तो लौकिक विद्या का उपकरण है अतएव वेदान्त सूत्र के लिए तर्क अथवा प्रमाणशास्त्र उपेक्षणीय है।

ब्रह्मसूत्र पर सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य शंकराचार्य कृत शारीरकभाष्य को समझा जाता है, जिसका काल सातवीं-आठवीं शताब्दी है। शरीरकभाष्य में भी प्रामाण्यवाद विषयक कोई स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। वादरायण कृत वेदान्त सूत्र में प्रामाण्यवाद विषयक विवेचन की अनुपस्थिति के जो कारण हैं शारीरकभाष्य में भी इस विवेचन की अनुपस्थिति के कारण वही है, अर्थात् ब्रह्म ज्ञान में लौकिक ज्ञान और उसके तर्कादि समस्त उपकरणों को बाधक मानने के कारण शंकराचार्य ने भी प्रमाण और प्रामाण्य विषयक कोई भी विवेचन अपने भाष्य में प्रस्तुत नहीं किया।

शारीरकभाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें वाचस्पति मिश्र कृंत भामती को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। भामती समेत इन समस्त टीकाओं में कहीं भी प्रामाण्यवाद अथवा प्रणामशास्त्र विषयक विवेचनों की प्रवृत्ति नहीं मिलती। यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में अथवा मीमांसा शास्त्र विषयक विधि विवेक टीका में प्रामाण्यवाद का विशद् विवेचन किया है। स्पष्टतः भामती में प्रामाण्यवाद विषयक विवेचन के अनुपस्थिति होने के कारण भी वही हैं जो वादरायण के सूत्रों में अथवा शारीरकभाष्य में प्रामाण्यवाद विषयक विवेचनों की अनुपस्थिति के हैं। प्रकरण ग्रंथों के काल में वेदान्तियों ने प्रमाणशास्त्र विषयक विवेचनों में अपनी रुचि दिखलाई है। विवरणप्रमेसंग्रह में प्रामाण्यवाद का विस्तृत विवेचन किया गया है, यद्यपि वह विवेचन जटिल है। यह समझा जाता है कि नव्य वेदान्त में वेदान्त सम्मत प्रमाणशास्त्र का स्पष्ट विवेचन किया गया है। वेदान्त प्रामाण्यवाद का सर्वाधिक स्पष्ट, यद्यपि अपेक्षाकृत संक्षिप्त, विवेचन धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदान्त परिभाषा में मिलता है, जिसका काल सत्रहवीं शताब्दी है।

वेदान्त परिभाषा में प्रामाण्यवाद

वेदान्त परिभाषा के स्वतः प्रामाण्यवाद नामक सप्तम परिच्छेद में वेदान्त के स्वतः प्रामाण्यवाद का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 32 वेदान्त परिभाषा के अनुसार प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति और ज्ञाप्ति दोनों में ही स्वतस्त्व युक्त है। न्याय-वैशेषिक और बौद्ध मतानुसार प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणों की अपेक्षा से होती है। इस मत का खंडन करते हुए धर्मराजाध्वीरन्द्र कहते हैं कि जिस सामान्य सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी सामान्य सामग्री से प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है।

नव्य वेदान्त के इस मत के प्रति आशंका व्यक्त करते हुए कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान और उसका प्रामाण्य एक ही सामग्री से उत्पन्न होते हैं तो भ्रमात्मक ज्ञान, यथा पीत शंख के ज्ञान को भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा। यथा नेत्र और वस्तु के सन्निकर्ष कर्म से ही श्वेत-शंख का भी ज्ञान

होता है तथा वस्तु और नेत्र के सन्निकर्ष से हीं पीत-शंख का भी ज्ञान उत्पन्न होता है। तथापि, हम पीत-शंख के ज्ञान को भ्रमात्मक (अप्रामाण्य) तथा श्वेत-शंख के ज्ञान को प्रामाण्य कहते हैं। इस प्रकार यदि ज्ञान के सामान्य करण को ही प्रामाण्य की उत्पत्ति का कारण मान लेते हैं तो इस प्रकार प्रमा और अप्रमा का भेद नष्ट होगा।

इस शंका का शमन करते हुए वेदान्ती कहते हैं कि प्रमा की उत्पत्ति में दोषाभाव भी एक कारण है, जो दोषाभाव 'पोत-शंख' अथवा भ्रम की स्थति में उपस्थित नहीं होता। इसी दोषभाव की अनुपस्थिति के कारण पीत-शंख का ज्ञान प्रमा रूप प्रतिष्ठित नहीं है और यह ज्ञान अप्रामाण्य है। पुनः इसी दोषाभाव की उपस्थिति के कारण श्वेत शंख का ज्ञान प्रमाण रूप और प्रमाण्ययुक्त है।

यहाँ नैय्यायिक शंका कर सकते हैं कि यदि प्रमा और अप्रमा का भेद दोषाभाव के आधार पर किया जाय तो इससे परतः प्रामाण्यवाद की सिद्धि होती है क्योंकि अपने परतः प्रामाण्यवाद की सिद्धि होती है क्योंकि अपने परतः प्रमाण्यवाद के अन्तर्गत तो नैय्यायिक स्वयं यह कहते है कि कारण-बाध-दोष के कारण ज्ञान में प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य उपस्थित होता है, तो कारणबाध दोष के कारण ज्ञान में प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य उपस्थित होता है, तो कारणबाध दोष ज्ञान की सामान्य सामग्री नहीं, विशिष्ट सामग्री है।

इस शंका का उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि प्रमा और प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए दोषाभाव को कारण मानने से मानने से प्रामाण्य का परतस्त्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि दोषाभाव तो अभाव रूप है। यदि प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए गुण के भाव को कारण रूप स्वीकार किया जाय तो उससे परतः प्रामाण्यवाद सिद्ध है किन्तु अभाव तो असत् है जो किसी का भी कारण नहीं हो सकता। अतः इससे प्रामाण्य का परतस्त्व भी सिद्ध नहीं होता।

पुनः वेदान्ती प्रामाण्य की ज्ञाप्ति में भी स्वतस्त्व को स्वीकार करते हैं। वेदान्त परिभाषा के अनुसार जिस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः है उसी भाँति प्रामाण्य का ग्रहण भी स्वतः हो जाता है। प्रामाण्य का आश्रय ज्ञान है। जितनी सामग्री उस ज्ञान का ग्रहण करती है, उतनी ही सामग्री इसके प्रामाण्य का भी ग्रहण कर लेती है। वेदान्त मतानुसार ज्ञान बुद्धि की वृत्ति है जिसका ग्रहण 'साक्षी चौतन्य (आत्मा) के द्वारा होता है। घट के ज्ञान में बुद्धि-वृत्ति घट का जो रूप धरती है वही 'घट ज्ञान' है जिस ज्ञान का ग्रहण आत्मा (साक्षी-चौतन्य) द्वारा होता है। जिस समय साक्षी-चौतन्य अथवा आत्मा 'घट ज्ञान' को ग्रहण करता है उसी समय वही साक्षी चैतन्य 'घट-ज्ञान' के प्रामाण्य का भी ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार, वेदान्त मतानुसान ज्ञान का ग्रहण और ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण एक ही साथ, एक ही बार, एक ही ग्राहक अथवा एक ही ज्ञाता के द्वारा एक ही माध्यम से होता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता सिद्ध है।

यहाँ पुर्वपली ग रक्षा यह शंका कर सकते हैं कि वृत्ति-ज्ञान' तो भ्रम के स्थल में भी होता है यथा पीत शंख की स्थिति में भी वत्ति-ज्ञान होता है, तो क्या यह समझा जाना चाहिए कि 'पीत-शंख' के वृत्ति-ज्ञान से ही पीत शंख' का प्रामाण्य भी सिद्ध है ?

इस प्रश्न का उत्तर वेदान्त परिभाषा के 'दोषाभावे सति' में ढूंढा जा सकता है। दोषाभावे सति का अर्थ यह है कि प्रामाण्य का ग्रहण तभी संभव है जब दोषाभाव हो अर्थात वेदान्त मतानुसार जहाँ दोष होता है वहाँ वृत्ति-ज्ञान का ग्राहक जो साक्षि चैतन्य है वह दोषाभाव से विशिष्ट नहीं होता। अतः

वहाँ प्रामाण्य ग्रहण नहीं होता। पीत-शंख की स्थिति में दोषाभाव नहीं होता अतएव वहाँ प्रामाण्य ग्रहण नहीं होता।

नोट

'प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता' का एक दूसरा अर्थ भी वेदान्त परिभाषा में मिलता है। उस अर्थ के अनुसार स्वतोग्राह्यता' का अर्थ है जितनी स्वाश्रय की ग्राहक सामग्री है, उसी से ग्रहण किए जाने की योग्यता। तात्पर्य यह कि वृत्ति ज्ञान का ग्राहक जो साक्षी ज्ञान है यदि उससे प्रामाण्य का ग्रहण न हो, तो भी, ज्ञान में साक्षि-ज्ञान के द्वारा प्रामाण्य के गृहित होने की योग्यता होनी चाहिए।।3। वेदान्त मतानुसार जहाँ संशय होता है वहाँ दोष अवश्य होता है। संशय के स्थल में भी प्रामाण्य में गृहित होने की योग्यता रहती है किन्तु दोषभाव के कारण यह योग्यता बाधित होती है जिससे संशय की उत्पत्ति होती है।

अप्रामाण्य का परतस्त्व

वेदान्त परिभाषा जहाँ प्रामाण्य के स्वतस्त्व को स्वीकृत करता है वहाँ अप्रामाण्य के परतत्व को भी बलपूर्वक सिद्ध करता है। वेदान्त परिभाषा के अनुसार जिस सामान्यकरण (सामग्री) से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी सामान्य सामग्री से ज्ञान का अप्रामाण्य उत्पन्न नही होता है। ज्ञान का अप्रामाण्य दोषों के कारण उत्पन्न होता है। यथा, प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्षादि जो उत्पादक सामग्री है वह भ्रान्ति की उत्पत्ति का कारण नहीं अपितु भ्रान्ति इन्द्रियदोषादि (काम ना रोग आदि) से उत्पन्न होती है। इसीलिए अप्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान की सामान्य सामग्री से भिन्न सामग्रियों से होती है, अतएव ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति को परतः समझा जाना चाहिए।

पुनः अप्रामाण्य की ज्ञाप्ति भी परतः ही है। अप्रामाण्य अपने आश्रय वृत्तिज्ञान के ग्राहक साक्षी ज्ञान द्वारा ग्राह्य नहीं क्योंकि अज्ञान में जो 'तभावगत ज्ञान' होता है वह साक्षि ज्ञान द्वारा ग्राह्य नहीं है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि अप्रामाण्य परतोग्राह्य है तो किस सामग्री से उसका ग्रहण होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वेदान्त परिभाषा कहती है कि प्रामाण्य का ग्रहण अनुमानादि से होता है।।136 वेदान्त मतानुसार स्मृति और अनुभूति दोनों प्रकार के ज्ञान को प्रमा रूप तब समझा जाता है जब वे सफल प्रवृत्ति के जनक हों।।37 इसी भाँति जब ज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं होता तो उसे अप्रमा रूप समझा जाता है। शुक्ति रजत के ज्ञान में प्रवृत्ति सामर्थ्य नहीं अर्थात् जब व्यक्ति रजत को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है तो वह अपने प्रयत्न में असफल होता है। प्रवृत्ति की इस असफलता अथवा विसंवाद से अनुभव किया जाता है कि शुक्ति रजत का ज्ञान अप्रामाण्य है।

उपसंहार - इस प्रकार वेदान्त मतानुसार प्रामाण्य की ज्ञाप्ति और उत्पत्ति दोनों में है। स्वतस्त्व सिद्ध है अर्थात् जिस सामान्य-कारण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी सामान्य करण से प्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है तथा जिस साक्षी-ज्ञान से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी साक्षी-ज्ञान से उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।

5.7 सांख्य दर्शन में प्रामाण्यवाद

सांख्य दर्शन स्वतः प्रामाण्यवादी दर्शन है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों स्वतः उत्पन्न तथा स्वतः गृहीत होते हैं। सांख्यों के अनुसार जिस कारण-सामग्री से कोई ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी कारण सामग्री में उस ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य भी अन्तर्भूत होता है। अर्थात्

किसी ज्ञान का सत्य अथवा मिथ्या होना उस ज्ञान के कारण-सामग्री के ऊपर ही निर्भर होता है, उस ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु किसी अन्य बाह्य काण की अपेक्षा नहीं होती।

ध्यातव्य है कि सांख्य सत्कार्यवादी है। सांख्यों का स्वतः प्रामाण्य का सिद्धांत भी सत्कार्यवादी कारण-कार्य सिद्धांत पर ही आधारित है। कहा भी जाता है कि सांख्याभिमत स्वतः प्रामाण्यवाद एवं स्वतः अप्रामाण्यवाद सांख्यों के कारणतासिद्धांत सत्कार्यवाद ही अनिवार्य परिणति है। सांख्यों का मानना है कि कार्य अपने कारण में सत् होता है, इसी आधार पर वे कहते हैं कि प्रामाण्य भी ज्ञान में ही निहित होता है। सांख्यसूत्र में भी कहा जाता है कि निज शक्ति से ही अभिव्यक्त होने से ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य निश्चित होता है - निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। यद्यपि यह सूत्र वेद के विषय में स्वतः प्रामाण्य का प्रतिपादन करता है तथापि इसे उपलक्षण मानकर अन्य ज्ञानों के भी स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि हो गयी है। सांख्यमत में कार्य अनभिव्यक्त कारण की ही अभिव्यक्तावस्था है। कार्य अपने करण में ही अनभिव्यक्त रूप से निहित रहता है। कार्य-कारण में कोई शक्तिभेद नहीं होता, केवल अवस्थाभेद होता है। प्रामाण्य-अप्रामाण्यरूप कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारणरूप तत्तद् ज्ञानों में विद्यमान (सत्) रहते हैं। अतः सत्कार्यवाद के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की उत्पत्ति व ज्ञप्ति स्वतः ही माननी पड़ेगी। यहाँ उल्लेखनीय है कि सांख्यमत मे उत्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्तिमात्र है।

सांख्यों का सिद्धांत है कि जो अविद्यमान है, उसकी किसी भी प्रकार से अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती, यथा शंशश्रृंग (खरगोश के सींग जो अत्यंत विद्यमान है; अतः जो भी कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है उसे अपने कारण में पहले से ही सत् मानना चाहिये। इस प्रकार प्रामाण्य व अप्रामाण्य भी अपने कारणभूत ज्ञान में स्वतः विद्यमान होते हैं, वे उसी कारणसामग्री से उ त होता है और इनकी अभिव्यक्ति भी स्वतः ही होती है, कारणान्तर की अपेक्षा से नहीं। यदि किसी ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य स्वयं ही उस ज्ञान में अनभिव्यक्त दशा में स्थित नहीं होंगे तो इनकी उत्पत्ति भी कालांतर में कभी संभव नहीं हो सकती, क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण का प्रकाशनमात्र होता है।

सांख्य तत्वमीमांसा के अनुसार प्रकृति से सर्वप्रथम विकाररूप में महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्थारूपी प्रकृति का विकार होने से यह बुद्धितत्त्व भी त्रिगुण ाात्मक होता है। ज्ञान पुनः इस त्रिगुणात्मिका बुद्धि की वृत्ति है अर्थात् बुद्धि ही ज्ञान का निश्चयात्मक रूप धारण करती है, अतः ज्ञान में भी ये तीनों गुण होते हैं। जब ज्ञान में सत्त्व की प्रधानता होती है तो वह ज्ञान यथार्थ अथवा प्रामाणिक हो जाता है तथा जब उसमें तमस् की प्रधानता होती है तो वह अयथार्थ अथवा अप्रामाणिक हो जाता है। पुनः जिस ज्ञान में रजस् की प्रधानता हो वह ज्ञान संदिग्ध हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि में ये तीन गुण सदैव विद्यमान रहते हैं, अतः ज्ञान में भी प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों ही सदैव विद्यमान रहते हैं। सांख्यों के इस मत की व्याख्या करते हुए पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका में उल्लेख करते हैं कि (सांख्यमतानुसार) जिस प्रकार माष (एक प्रकार की दाल) का सेवन परस्पर विरुद्ध - पित्त व कफ दोनों को उ त करता है उसी प्रकार प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों, ज्ञानरूप कारण के कार्य होने से, स्वतः ही अभिव्यक्त होते हैं। कारणमात्र में अपने कार्य को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य स्वभावतः विद्यमान होता है।, अतः उससे भिन्न किसी दूसरे

कारण का अन्वेषण करना अनपेक्षित है।

अपने स्वत: प्रामाण्यवाद व स्वत: अप्रामाण्यवाद के सिद्धांत के समर्थन में तर्क देते हुये सांख्य-सिद्धांती कहते हैं कि यदि ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य का स्वतस्त्व नहीं माना जाये तो परत: प्रामाण्यवादियों के मत में प्रामाण्य व अप्रामाण्य का निर्धारण करने के लिए जो अतिरिक्त कारणों की कल्पना करनी पड़ेगी, उससे प्रामाण्यवाद के सिद्धांत में अनावश्यक कल्पनागौरव दोष उपस्थित होगा। अत: ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य को स्वत: उत्पन्न व स्वत: गृहीत मानना ही निरापद व अभीष्ट है।

5.8 न्याय दर्शन में प्रामाण्यवाद

यद्यपि सांख्य दर्शन के समान ही न्याय दर्शन भी आस्तिक दर्शन है तथा वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करता है तथापि प्रामाण्यवाद के संदर्भ में सांख्यों से बिल्कुल विपरीत नैयायिकों का मानना है कि ज्ञान का प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों परत: उत्पन्न व गृहीत होते हैं। नैयायिकों के मत में उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों की दृष्टि से ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु अन्य बाह्य कारण-सामग्री की अपेक्षा होती है।

प्रमाणशास्त्रीय नैयायिक मानते हैं कि किसी ज्ञान की कारण-सामग्री में गुण के अवगमन तथा प्रवृत्ति-साफल्य से उसके प्रामाण्य की परत: स्थापना होती है तथा किसी ज्ञान की कारण-सामग्री में दोष के अवगमन तथा प्रवृत्ति-वैफल्य से उसके अप्रामाण्य की परत: सिद्धि होती है। इस प्रकार न्यायमत में ज्ञानों के प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों ही ज्ञान के कारणों से पृथक कारणों की अपेक्षा रखते हैं।

नैयायिकों के मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य को ज्ञान के कारणों के गुण व दोष के आधार पर निध ारित किया जाता है। किसी ज्ञान के प्रामाण्य उत्पत्ति मे कुछ विशिष्ट गुणों के अवगमन की अपेक्षा होती है – उदाहरणार्थ पदार्थ के रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में पदार्थ के साथ चक्षुरीन्द्रिय का सन्निकर्ष सामान्य कारण है तथा इसी रूप के प्रामाण्य के निर्धारण में प्रकाश की यथेष्टता, चक्षुरिन्द्रिय की निरोगता और पदार्थ से चक्षुरीन्द्रिय की निकटता आदि विशिष्ट कारणों की भी अनिवार्य भूमिका होती है। इन विशिष्ट कारणों को ही नैयायिकों ने गुणवान कारण कहा है तथा ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के निर्धारण हेतु यही विशिष्ट कारण अनुबंधरूप होते हैं। कारण के गुण को जानकर जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द ज्ञानों का प्रामाण्य निर्धारित होता है, वहीं कारण के दोष के ज्ञान से इन चतुर्विध ज्ञानों का अप्रामाण्य निर्धारित होता है।

प्रामाण्य की परत: सिद्धि हेतु कारण के गुणों का व्याख्यान करते हुए नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य विशेषण से युक्त विशेष्य के साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप गुण के ज्ञान से सिद्ध होता है। यथा-रजतत्वरूप विशेषण से युक्त विशेष्य के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का ज्ञान होने पर 'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रामाणिक होता है।

अनुमिति ज्ञान में प्रामाण्य की सिद्धि के लिए साध्य से युक्त पक्ष में हेतु का परामर्श होना गुण है। उदाहरणार्थ – अग्निरूप साध्य से युक्त पक्षभूत पर्वत में हेतु का परामर्श होना – 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति के प्रामाण्य का कारण है।

अयं गवयपदस्य वाच्य:' इस उपमिति के प्रामाण्य की सिद्धि के लिये 'गो सदृशो गवय:' वाक्य द्वारा गवय पद की शक्ति से प्रतिपादित अर्थ में सादृश्यज्ञान होना गुण है। शाब्दबोधरूप ज्ञान में प्रामाण्य

की सिद्धि के लिये योग्यता व तात्पर्य व यथार्थ ज्ञान तथा वक्ता के आप्तत्व का निश्चय गुणरूप होता है। इस प्रकार चतुर्विध ज्ञानों के प्रामाण्य की सिद्धि परतः होती है।

ज्ञानों का अप्रामाण्य भी परतः ही माना गया है, जिस प्रकार कारण के गुणों के आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है उसी प्रकार कारण के दोषों के आधार पर ज्ञान के अप्रामाण्य का निध ारिण होता है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान में अप्रामाण्य विभिन्न दोषों के कारण सिद्ध होता है। जैसे पित्तरोगादि इन्द्रियदोषों के कारण व्यक्ति को 'पीतः शंखः' की प्रतीति होती है। विषय में दूरादिदोष होने के कारण भी ज्ञान का अप्रामाण्य होता है, जैसे – ''चन्द्रमा बहुत छोटा है'' आदि स्थलों पर। इसी प्रकार अनुमिति में हेत्वाभास के ज्ञान के कारण अप्रामाण्य का निश्चय होता है। उपमिति ज्ञान में अतिदेश वाक्य ही असत्यता का बोध होने से अप्रामाण्य का ग्रहण होता है तथा शाब्द ज्ञान में वक्ता के अनाप्तत्व का बोध होने से उसके अप्रामाण्य का निर्धारण हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान का अप्रामाण्य कारण में दोष के अभिज्ञान से परतः उत्पन्न होता है।

ज्ञान के ग्रहण के आधार पर अर्थात् ज्ञप्तिगत आधार पर भी नैयायिकों ने ज्ञान का परतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य ही माना है। ज्ञप्ति के आधार पर ज्ञान के प्रामाण्य के निर्धारण हेतु नैयायिकों ने तीन प्रकार के हेतु माने हैं –

1. प्रवृत्ति साफल्य – नैयायिकों के अनुसार किसी विषय के ज्ञान के साथ ही ज्ञाता में उस ज्ञान से सम्बद्ध एक विशिष्ट प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। यदि कोई ज्ञान इस प्रवृत्ति के पोषण में समर्थ है तथा ज्ञाता की तद्विषयिनी प्रवृत्ति सफल हो जाती है तो उस ज्ञान को प्रवृत्ति साफल्य से युक्त प्रामाणिक ज्ञान माना जायेगा। जिस ज्ञान में प्रवृत्ति साफल्य न हो उसे अप्रामाणिक ज्ञान माना जायेगा। उदाहरण ाार्थ – रजत के ज्ञान से ज्ञाता में आभूषण निर्माण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि ज्ञाता वस्तुतः उससे आभूषण का निर्माण कर पाये तो उस रजतज्ञान को प्रवृत्ति साफल्य से युक्त यथार्थ ज्ञान माना जायेगा। जहाँ शुक्तिका का रजत के समान मिथ्या ज्ञान होता है वहाँ उस मिथ्याभूत रजतवत शुक्तिका से आभूषण निर्माण की प्रवृत्ति में सफलता नहीं प्राप्त होती अतः वह ज्ञान अयथार्थ सिद्ध हो जाता है।

2. ज्ञानान्तर से संवाद का ज्ञान – यदि किसी वस्तु के विषय में गृहीत कोई ज्ञान उसी वस्तु के विषय में गृहीत किसी अन्य ज्ञान से संवाद अर्थात् संगति रखता है तो इसे ही ज्ञानांतर संवाद कहा जाता है। किसी ज्ञान के ज्ञानांतर संवाद ज्ञान को भी नैयायिक उस ज्ञान के प्रामाण्य के ग्रहण में हेतु मानते हैं। उदाहरणार्थ – ''देवदत्त इस समय विद्यालय गया है'' इस ज्ञान की संगति यदि 'देवदत्त इस समय घर में नहीं है'' इस ज्ञानान्तर से हो जाती हहै तो इन दोनों ज्ञानों में संवाद के कारण देवदत्त के विद्यालय जाने का ज्ञान प्रामाणिक होता है। परंतु यदि 'देवदत्त इस समय विद्यालय गया है' इस ज्ञान का 'देवदत्त इस समय घर में है'' इस ज्ञानान्तर से विसम्वाद हो जाये तो यह ज्ञान अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा।

3. कारण के गुणयुक्त होने का ज्ञान – किसी ज्ञान के कारण में गुण का ज्ञान ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण कराता है तथा कारण में दोष के ज्ञान से उस ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ – यदि शंख के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणरूप चक्षुरीन्द्रिय की निर्दुष्टता का ज्ञान हो तो शंख के श्वेतरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रामाणिक होता है तथा पीतशंख के ज्ञान में चक्षुरीन्द्रिय के पाण्डुरोग (पीलिया) से ग्रसित होने के कारण उस ज्ञान के अप्रामाण्य का ग्रहण होता है।

इस प्रकार न्यायमत में जिन कारणों से किसी वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति होती है, उन्हीं कारणों से तद्वस्तुविषयक उस ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य की उत्पत्ति व ज्ञप्ति नहीं होती। ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य चूँकि अन्य बाह्य कारणों पर निर्भर माना गया है, अत: नैयायिकों को परत: प्रामाण्यवाद तथा परत: अप्रामाण्यवाद का सिद्धांत अभीष्ट है।

5.9 बौद्ध दर्शन में प्रामाण्यवाद

बौद्धों का मानना है कि ज्ञान के अप्रामाण्य ही स्वत: सिद्धि होती है तथा प्रामाण्य की परत:। यद्यपि बौद्धचार्य शांतरक्षित अपने ग्रंथ तत्त्वसंग्रह में प्रामाण्य की उत्पत्ति को अहैतुक मानते हैं, अर्थात् उत्पत्ति में किसी स्वतस्त्व, परतस्त्व या उभयतस्त्व के नियम को ही स्वीकार नहीं करते तथापि ज्ञप्ति के विषय में प्रामाण्य का परतस्त्व सभी आचार्यों को अभिमत है।

बौद्ध मानते हैं कि प्रामाण्य का अभाव ही अप्रामाण्य है और अभाव का कोई कारण नहीं होता क्योंकि वह अवस्तु है। जैसे शशश्रृंगा का, अवस्तु होने के कारण, अत्यन्ताभाव होता है और उसका कोई कारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार अप्रामाण्य के भी अवस्तु होने के कारण उसका कोई कारण नहीं होता। अत: कारण की अपेक्षा से विरहित होने से ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वभावत: प्राप्त या स्वत: सिद्ध होता है। परंतु प्रामाण्य चूँकि अवस्तु नहीं है, अत: इसकी उत्पत्ति के लिये कारणों की अपेक्षा होती है। ज्ञान का प्रामाण्य कारण-गुणों के ज्ञान से, संवादज्ञान से तथा अर्थक्रियाज्ञान से उत्पन्न होता है। अत: प्रामाण्य परत: सिद्ध होता हे और अप्रामाण्य स्वत: सिद्ध होता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी ज्ञान का अप्रामाण्य तो उस ज्ञान के साथ अनादिकार से स्थित रहता है और जब अप्रामाण्य का निरोध हो जाता है तो प्रामाण्य उत्पन्न होता है - ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी वस्तु का अत्यन्ताभाव अनादिकाल से रहता है और उस अत्यन्ताभाव के निषेध होने से उस वस्तु की उत्पत्ति हो जाती है। अत: अप्रामाण्य का कोई कारण नहीं होने के कारण यह स्वत: उत्पन्न व गृहीत होता है तथा अर्थक्रियाकारित्व (प्रयोजनपूर्वक किसी क्रिया को सम्पादित करने की (क्षमता) के ज्ञान से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानने के कारण इसका परतस्त्व अभिप्रेत है।

आचार्य पार्थसारथि मिश्र बौद्धमत का अनुवाद करते हुए कहते हैं कि (बौद्धों के अनुसार) अप्रामाण्य स्वत: होता है व प्रामाण्य संवादज्ञान आदि से होता है। ऐसा कहना ही युक्त है। ज्ञान के उत्पत्तिमात्र से अर्थतथात्व का निश्चय नहीं हो जाता, क्योंकि ज्ञान में व्यभिचार भी देखा जाता है। जैसे - 'इदं रजतम्' यह ज्ञान हुआ, किंतु रजत की उपलब्धि न हो पाने से व्यभिचार स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार पुरोवर्ती पदार्थ में दो धर्मियों में रहने वाले साधारण धर्म लंबाई आदि को देखकर 'स्थाणुर्वा पुरुषोवेति' ऐसा संशय भी देखा जाता है। यदि ज्ञान का उत्पत्ति के साथ ही प्रामाण्य मान लिया जाये तो यह व्यभिचार व संशय नहीं होना चाहिये था। अत: ज्ञान को स्वत: अप्रामाण्य ही मानना चाहिये। ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात कारणगुणज्ञान अथवा संवादज्ञान अथवा अर्थक्रियाज्ञान से प्रथमत: प्राप्त अप्रामाण्य के बाध के फलस्वरूप प्रामाण्य का ग्रहण परत: माना जाना चाहिये।

इस प्रकार बौद्ध मत में अवस्तु के रूप में अप्रामाण्य को कारणविहिन मानते हुए इसका स्वतस्त्व स्वीकार किया गया है तथा अन्य कारणों से उत्पन्न व गृहीत होने के कारण ज्ञान के प्रामाण्य का परतस्त्व माना गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्धों के उपर्युक्त स्वत: अप्रामाण्य व परत: प्रामाण्य

के सिद्धांत से बौद्धाचार्य शांतरक्षित का मतवैषम्य परिलक्षित होता है। आचार्य शांतरक्षित व उनके अनुयायी बौद्धाचार्य प्रामाण्यवाद के विषय में अनियम के पक्ष की स्थापना करते हैं। अनियम को व्याख्यायित करते हुये आचार्य शांतरक्षित स्पष्ट करते हैं कि यह कोई नियम नहीं है कि ऐकान्तिक व आत्यन्तिक रूप से ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य ही हो अथा ऐकान्तिक व आत्यन्तिक रूप से ज्ञान का परत: प्रामाण्य ही हो। इनके मत में कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य तो स्वत: ही होता है- यथा - स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमिति ज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान आदि का स्वत: प्रामाण्य होता है तथा कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य परत: होता है - यथा - वैदिक वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान, अर्थक्रियाकारित्व से युक्त ज्ञान आदि का परत: प्रामाण्य निर्धारित होता है। इसी प्रकार अप्रामाण्य भी कहीं स्वत: निर्धारित होता है तो कहीं परत:। इस प्रकार बौद्धों का एक सम्प्रदाय प्रामाण्यवाद के विषय मे अनियमवाद के सिद्धांत को प्रतिपादित करता है, परंतु सामान्येन बौद्धों के स्वत: अप्रामाण्यवाद व परत: प्रामाण्यवाद के सिद्धांत को ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

5.10 मीमांसा दर्शन में प्रामाण्यवाद

मीमांसकों का मानना है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: तथा अप्रामाण्य परत: सिद्ध होता है। इस मत के विश्लेषण से पूर्व मीमांसा के प्रभाकर व भाट्ट सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत प्रमाण के लक्षण का विवेचन करना प्रासंगिक होगा क्योंकि मीमांसा में यथार्थज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। न्यायरत्नमाला में पार्थसारथि मिश्र ने स्पष्ट किया है कि अर्थतथात्व अर्थात् ज्ञापित अर्थ का तथाभूतत्व उस अर्थ के ज्ञान का प्रामाण्य होता है व अर्थान्यथात्व अर्थात् ज्ञापित अर्थ का अतथात्व ही अप्रामाण्य होता है।

प्राभाकर मीमांसक चूँकि ज्ञान का स्वयं प्रकाशन मानते हैं और यह कहते हैं कि सभी ज्ञान अनिवार्यतया ज्ञायमान ही उत्पन्न होते हैं। साथ ही वे अख्यातिवाद के निरूपण में यह भी स्पष्ट करते हैं कि उनके मत में स्मृतिभिन्न सभी ज्ञान यथार्थज्ञान ही होते हैं, अत: उनके मत में ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य सहजतया सिद्ध हो जाता है। यथार्थ ज्ञान के अप्रामाण्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता, परंतु स्मृति चूँकि प्रमाणरूपा नहीं होती है अत: उसके अप्रामाण्य की सिद्धि व्यवहार-विसम्वाद के द्वारा होती है। इस प्रकार प्रामाण्य की सिद्धि स्वत: व अप्रामाण्य की सिद्धि परत: होती है।

भाट्ट मत में यद्यपि ज्ञान का ग्रहण परत: माना गया है, परंतु प्रामाण्य की सिद्धि स्वत: ही मानी गयी है। भाट्टमीमांसकों का मत है कि प्रमाण अर्थात् यथार्थज्ञान अगृहीतग्राही होता है अर्थात् एक नवीन अन्वेषण होता है, फिर उसकी प्रामाणिकता का परीक्षण किसी ज्ञानान्तर में कैसे कियाजा सकता है? एक बार ज्ञात के पुनरन्वेषण का औचित्य ही नहीं है। अत: ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: ही उत्पन्न व गृहीत होना युक्त है।

वस्तुत: मीमांसकों के ज्ञान के प्रामाण्य के स्वत: साधन का मुख्य प्रयोजन वेद के प्रामाण्य की रक्षा करना है। हमने पूर्व में चर्चा की है कि मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी वृत्तिकार का मत रखते हुए उद्धृत करते हैं कि प्रमाणों की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, उनमें व्यभिचार नहीं होता। भाष्यकार शबरस्वामी 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:।। की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वैदिक वचन कभी अतथाभूत नहीं हो सकते, इनका कभी विपर्यय नहीं होता है।

शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि मीमांसासूत्रकार ने औत्पत्तिकसूत्र में लक्षित किया

है कि प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः होता है और कारणदोष या बाधकज्ञान के अवगमन से उसका अप्रामाण्य सिद्ध होता है। इस आधार पर 'अग्निहोत्रं जुह्यात्स्वर्गकाम:' आदि विधिवाक्यों से असंदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होने के कारण इनका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है।

नोट

मीमांसक मानते हैं कि प्रमाण चूँकि यथार्थ ज्ञान होता है अतः स्वाभाविक रूप से यह अर्थतथात्व से युक्त होता है, इसका अप्रामाण्य तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक कि उसका बाधक ज्ञान न उत्पन्न हो जाये या फिर उसके कारण सामग्री में किसी दोष का ज्ञान न हो जाये। अग्निहोत्रादि चोदना का कोई साक्षात् बाधक अर्थात् अर्थान्यथात्वज्ञापक ज्ञान नहीं मिलता है और अपौरुषेय होने के कारण इसमें पुरुषोचित कारण दोष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः इसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है।

मीमांसक सांख्यसम्मत प्रामाण्यवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों का स्वतस्त्व मानना असंगत है क्योंकि ज्ञान अपने विषय के तथात्व व अतथात्व दोनों का एक साथ बोध नहीं करा सकता, भाव व अभाव होने से दोनों का अत्यंत विरोध प्रसक्त होता है। नैयायिकों के मत का खंडन करते हुए पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि जब ज्ञान होता है तो उस समय न गुण का ज्ञान होता है और न ही दोष का। इसके निश्चय के पूर्व तो नैयायिक ज्ञान को प्रमाण नहीं कर सकते और न ही अप्रमाण ही कह सकते हैं, इस प्रकार ज्ञान नि:स्वभाव हो जायेगा। अतः नैयायिकों का यह मत, कि ज्ञान के कारण के गुण व दोष के अभिज्ञान से प्रामाण्य व अप्रामाण्य की सिद्धि परतः होती है, स्वीकार्य नहीं है। पुनः बौद्धों के इस मत का, कि ज्ञान स्वभावतः अप्रमाण होता है तथा उसमें अर्थक्रिया के ज्ञान से अथवा संवादज्ञान से या कारणगुण के ज्ञान से उसके प्रामाण्य की परतः सिद्धि होती है, खंडन करते हुए शास्त्रदीपिकाकार कहते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही गृहीत होता है यदि ज्ञान के प्रामाण्य हेतु ज्ञानांतर की अपेक्षा स्वीकार की जाये तो प्रामाण्य किसी भी ज्ञान में अपनी सत्ता नहीं प्राप्त कर पायेगा क्योंकि वह ज्ञानांतर भी किसी दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा करेगा। इस प्रकार मूलक्षयकारिणी अनस्था प्रसक्त होगी और किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा।

इस प्रकार परमतखंडनपूर्वक प्रामाण्यविषयक मीमांसासिद्धांत का उपस्थापन करते हुए मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न व गृहीत होता है और उसका अप्रामाण्य बाधक ज्ञान के उपस्थित होने से अथवा कारणदोष के ज्ञात होने से सिद्ध होता है। स्वभावतः ज्ञान यथार्थरूप ही होता है, उसका प्रामाण्य भाट्टसम्मत प्रमाणलक्षण के बल से स्वतः सिद्ध है परंतु अपवादस्वरूप कदाचित् ज्ञान के अर्थान्यथात्व का भी बोध होता है। कारण-दोष ज्ञान के प्रामाण्य के उत्पत्ति-स्वतस्त्व का प्रतिबंधक होता है तथा बाधक ज्ञान प्रामाण्य के ज्ञप्ति-स्वतस्त्व का प्रतिबंधक होता है। इन दोनों प्रतिबंधकों के अभाव में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न भी होता है और स्वतः ही गृहीत भी होता है।

5.11 सारांश

इस प्रकार भारतीय दर्शन में उपर्युक्त चार वर्गीकरणों में प्रामाण्यवाद विषयक मतों का विशद व सम्यक् विवेचन किया गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रत्येक दर्शन व दार्शनिक सम्प्रदाय अपने परिवेश के सापेक्ष ही अपने सिद्धांतों का प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण व पल्लवन करता है।

भारतीय दार्शनिक परंपरा इतनी समृद्ध है, यहाँ चिंतन का इतना वैविध्य रहा है कि इसमें पूर्वोत्तर

पक्षों की एक लंबी तार्किक श्रृंखला का सहजतया निदर्शन होता है। इन दार्शनिक वाद-प्रतिवाद और विवादों से जहाँ एक ओर कतिपय दय्य दार्शनिक समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं, वहीं दूसरी ओर इसका सकारात्मक पक्ष यह है कि इन वाद-विवादों से दर्शन का परिष्कार होता है और दार्शनिक सिद्धांतों की यथारूपता सुनिश्चित होती है। इस प्रकार ये दार्शनिक समस्याएँ भी दार्शनिक प्रविधि को परिपक्व करने में सहायक सिद्ध होती है, भारतीय दर्शनो में प्रामाण्यवाद विषयक दार्शनिक समस्या से संबंधित उपर्युक्त विवेचनों को भी इसी संदर्भ में समझना चाहिये। इन चतुर्विध सिद्धांतों के परस्पर पूर्वोत्तर पक्ष में वाद-विवाद से प्रामाण्यवाद विषयक दार्शनिक विवेचना को प्रौढ़ता प्राप्त हुई है।

5.12 अभ्यास प्रश्न

1. ज्ञान के प्रामाण्य व अप्रामाण्य से क्या तात्पर्य है?
2. विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रामाण्यवाद विषयक अवधारणा को सूचीबद्ध करें।
3. सत्कार्यवाद के सिद्धांत ने सांख्य-प्रामाण्यवाद को किस प्रकार प्रभावित किया है?
4. न्याय दर्शन में परत: प्रामाण्य की अवधारणा क्यों मानी गयी है?
5. न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान की प्रामाण्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?
6. बौद्ध दर्शन में अप्रामाण्य का स्वतस्त्व क्यों माना गया है?
7. बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रामाण्यवादविषयक अनियमपक्ष को स्पष्ट करें।
8. मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य की समीक्षा कीजिए।कता है?

5.13 संदर्भ ग्रंथ

- ज्ञान का सिद्धांत, सतीशचंद्र चटर्जी, कलकत्ता, 1965
- ज्ञान के छह तरीके, डी. एम. दत्ता, कलकत्ता, 1960
- भारतीय ज्ञानमीमांसा, नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
- ज्ञान की अवधारणा, देवव्रत सेन, कलकत्ता

नोट

इकाई–6

भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद

संरचना (Structure)

6.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे :

- ख्याति या भ्रम के प्रमुख पाँच सिद्धांत जिन्हें पंचख्याति कहते है, का ज्ञान।
- उक्त पंचख्याति के अतिरिक्त अन्यान्य ख्याति के सिद्धांतों का ज्ञान।
- प्रत्येक ख्याति के सिद्धांत की समीक्षा का ज्ञान।
- समस्त ख्याति के सिद्धांतों श्रेष्ठ अनिर्वचनीयख्याति का ज्ञान।

6.2 परिचय

विचारों, भारतीय मनीषियों ने ज्ञान एवं अज्ञान दोनों विषयों पर गहन चिंतन किया है। इसी को क्रमश: प्रमा (यथार्थज्ञान) एवं अप्रमा (अथार्थज्ञान) कहते हैं। ख्याति शब्द से आशय है ज्ञान। ख्याति शब्द यद्यपि यथार्थज्ञान के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है परंतु कालांतर में यह शब्द भ्रम के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। अत: ख्यातिवाद से आशय भ्रम के सिद्धांत से है। भिन्न भिन्न दर्शनों के भिन्न भिन्न ख्याति

(भ्रम) के सिद्धांत है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय ने प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साथ साथ भ्रम का भी निरुपण किया है। किसी सम्प्रदाय के तात्विक स्वरूप का ज्ञान उसके ख्याति के सिद्धांत के विवेचन से आसान हो जाता है। यहाँ हम भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के ख्याति संबंधी सिद्धांतों का वर्णन करेंगे।

6.3 ख्यातिवाद

'ख्याति' शब्द की उत्पत्ति 'ख्या' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है- "दिखना' या 'प्रकाशित होना।' इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ख्यातिवाद' का अर्थ वह सिद्धांत है जो वस्तुओं को दिखने अथवा वस्तु के अवबोध की व्याख्या करता है अथवा यह बतलाता है कि वस्तु का दृश्य स्वरूप ऐसा क्यों है जैसी कि वह दिखती है। इसी अर्थ में प्रो0 सुजुकी ने कहा है कि ख्यातिविज्ञान वस्तुओं के उसी रूप में प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित करता है जिस रूप में दर्पण अपने सम्मुख उपस्थित वस्तुओं को प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित करता है।

स्पष्टत: 'ख्याति' एक बोधमूलक शब्द है। ख्यातिवाद के अन्तर्गत वस्तुओं के बोध की व्याख्या की जाती है। पुन: जैसा कि हम जानते हैं, भारतीय दर्शन में 'बोध' यथार्थ और अयथार्थ दोनों ही प्रकार के ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है। इनमें अयथार्थ ज्ञान के कई रूप हैं जिनमें एक भ्रम भी है। सामान्यत: यह समझा जाता है कि भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के अन्तर्गत भ्रम अथवा भ्रमात्मक अवबोध की व्याख्या की जाती है, किन्तु यह एक संकीर्ण अवधारणा है।

वस्तुत: 'वस्तु' का बोध अपने भीतर दो तथ्यों को समाहित करता है- 'वस्तु' तथा 'बोध'। 'वस्तु' अर्थात् वस्तु का होना' अथवा 'वस्तु जैसी यथार्थत: है, तथा 'बोध' का अर्थ है-'वस्तु जैसी ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होती है।' दर्शन का प्रत्येक अध्येता यह मानता है कि 'वस्तु का होना' और 'वस्तु का दिखना' (वस्तु का ज्ञान) दोनों दो चीज हैं। उदाहरणार्थ भ्रम की स्थिति में हम 'सर्प' वस्तु को 'रज्जु' के रूप में देखते हैं। यहाँ 'वस्तु-रूप' में 'सर्प' अपेक्षित है और ज्ञान होता है 'सर्प' का। इस रूप में ख्यातिवाद वस्तु के दृश्य स्वरूप, वस्तु के यथार्थ-स्वरूप तथा वस्तु के इन दोनों स्वरूपों के अन्तर्सबंधों की व्याख्या करता है। भारतीय परम्परा में ज्ञानमीमांसीय प्रश्न तत्त्वमीमांसीय संदर्भ में भी प्रस्तुत तथा उत्तरित होते हैं। तदनसार प्रत्येक भारतीय दार्शनिक अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसीय परम्परा म हो 'वस्तु के होने वस्तु के दिखने' तथा 'वस्तु के होने तथा दिखने के संबंध' की व्याख्या करता है। उदाहरणार्थ प्रभाकर मीमांसक अपनी तत्त्वमीमांसीय अवधारणा के अनुरूप ही प्रत्येक बोध को सत्य' मानते हैं और अख्यातिवाद का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, शांकर पान्त ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या वाली अपनी तत्त्वमीमांसीय अवधारणा के अनुरूप अनिवर्चनीय ख्यातिवाद की प्रस्थापना करता है तथा न्याय अपनी यथार्थवादी तत्त्वमीमांसा के अनुरूप ही ज्ञेय को ज्ञाता से स्वतंत्र मानते हए अन्यथाख्यातिवाद का सिद्धांत प्रस्तुत करता है।

ख्यातिवाद विषयक एक दूसरी सामान्य अवधारणा यह है कि भारतीय दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत अवबोध की यह व्याख्या ज्ञानमीमांसीय की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक अथवा तात्त्विक अधिक है। किन्तु यह एक भ्रामक अवधारणा है। वस्तुत: ख्यातिवाद के तीन पक्ष हैं-ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय तथा मनोवैज्ञानिक। ज्ञानमीमांसीय पक्ष के अन्तर्गत ख्यातिवाद बोध की विषय वस्तु के रूप में 'वस्तु' अथवा

नोट

'ज्ञेय' तथा 'बोध के स्वरूप की व्याख्या करता है। तत्त्वमीमांसीय रूप में ख्यातिवाद बोध से परे हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है तथा मनोवैज्ञानिक रूप में यह बोध के मानसिक प्रक्रिया की व्याख्या करता है। किन्तु ध्यान दिया जाना चाहिए कि बोध के मानसिक प्रक्रिया की यह व्याख्या विशुद्ध मनोवैज्ञानिक न होकर तात्त्विक तथा ज्ञानमीमांसीय ही अधिक है। वस्तुतः अपने शास्त्रीय रूप में भारतीय परम्परा मनोविज्ञान का स्वरूप भौतिक अथवा दैहिक की अपेक्षा तात्त्विक ही अधिक समझती है। इस संदर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि ख्यातिवाद के इन तीना पक्षों-ज्ञानमीमांसीय, तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक में से ख्यातिवाद का ज्ञानमीमासीय पक्ष ही भारतीय परम्परा में अधिक प्रखरता से प्रस्तुत किया गया है क्योंकि 'ख्याति' (वस्तु का दिखना अथवा वस्तु का बोध-चाहे यह बोध भ्रमात्मक हो - अथवा अभ्रमात्मक) सदैव 'बोध' का ही विशेषण है न कि वस्तु का। इस प्रकार मूलतः बोध से संबंद्ध होने के कारण ख्यातिवाद मूलतः एक ज्ञानमीमांसीय विवेचन है जिसके तीन पक्ष है-तार्किक, तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक। । 'ख्याति' अथवा वस्तु के दृश्य स्वरूप तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप से इस दृश्य स्वरूप के अन्तर्संबंधों की व्याख्या विविध परम्पराओं में विविध रूपों में प्रस्तुत की गयी है। यहाँ इस समस्या का विश्लेषण मुख्यतः तीन उदाहरणों के माध्यम से किया गया है-(क) रज्ज। में सर्प विषय का अवबोध क्यों होता है ? (रज्जु-सर्प), (ख) आकाश में दो चाँद क्यों दिख जाते हैं ? (द्विचंद्र) (ग) स्फटिक के पार्श्व में यदि रक्त-पुष्प रखा जाता है, तो स्फटिक का रंग लाल क्यों दिखने लगता है (रक्त स्फटिक)। भारतीय दर्शन में मुख्यतः इन प्रश्नों के उत्तर में ही ख्याति संबंधी सिद्धांतों का विवरण मिलता है। यही कारण है कि ख्यातिवाद के विषय में यह एक व्यापक धारणा है कि ख्यातिवाद भारतीय दार्शनिकों का भ्रम विषयक विवेचन है।

ख्यातिविषयक सिद्धांतों की संख्या

ख्यातिविषयक इन सिद्धांतों की संख्या अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग मिलती है। इस संबंध में भारतीय परम्परा में ख्यातिपंचक की विशेष प्रसिद्धि है। ख्यातिपंचक इस प्रकार हैं-

"आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपंचकम्।।"

अर्थात् आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनीयख्यातिख्याति-ख्याति-विषयक ये पाँच प्रकार के सिद्धांत हैं।

इनके अतिरिक्त ख्याति विषयक कुछ अन्य सिद्धांत भी यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। जो निम्नलिखित हैं-

1. सत्ख्यातिवाद
2. विपरीत ख्याति अथवा विवेक ख्याति
3. सदासद् ख्याति
4. प्रसिद्धार्थ ख्याति
5. अलौकिकार्थ ख्याति।

इनमें विपरीतख्याति तथा अन्यथाख्याति को लेकर तनिक मतान्तर मिलता है कि ये दोनों सिद्धांत एक ही है अथवा इनमें भेद हैं। इन समस्त सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

6.4 अख्यातिवाद

नोट

अख्यातिवाद के सर्वाधिक ख्यात समर्थक प्रभाकर मीमांसक समझे जाते हैं। समझा जाता है कि शाबरभाष्य की 'वृहती' नामक टीका में सर्वप्रथम प्रभाकर मिश्र ने अख्यातिवाद का प्रतिपादन किया। तदनन्तर शालिकनाथ ने प्रकरणपंचिका में अख्यातिवाद का विवरण प्रस्तुत किया। भवदेव मिश्र कृत न्यायविवेक तथा वरदराजन कृत न्यायविवेक दीपिका अथवा 'वरदराजी' से भी प्रभाकर मीमांसकों के अख्यातिवाद के विवरण प्राप्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त चार्वाक भी अख्यातिवाद के पक्षधर समझे जाते हैं। जैन दार्शनिक प्रभाचंद्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचंद्र में चार्वाकों के अख्यातिवाद का विवरण प्रस्तुत किया है। ऐसा समझा जाता है कि चार्वाक जयराशि भट्ट ने 'तत्त्वपप्लव' में भ्रम ज्ञान का जो खंडन प्रस्तुत किया है उसी के आधार पर प्रभाचंद्र ने चार्वाकों के अख्यातिवाद का विवरण प्रस्तुत किया है।

पुनः प्रो. हिरियन्ना के अनुसार ख्यातिवाद विषयक सांख्यों का प्राचीन मत भी अख्यातिवाद का समर्थन करता है, तथापि सांख्य मत की प्रसिद्धि प्रसिद्धार्थख्यातिवाद के रूप में ही अधिक है।

यद्यपि प्रभाकर मीमांसक और चार्वाक दोनों ही अख्यातिवाद के समर्थक समझे जाते हैं तथापि ख्यातिवाद विषयक इन दोनों मतों में पर्याप्त भेद हैं। अतएव यहाँ इन दोनों मतों का पृथक-पृथक विवरण अपेक्षित हैं।

चार्वाक मत – जैन दार्शनिक प्रभाचंद्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में ख्यातिवाद के विषय में लिखा है कि अख्यातिवाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार विषय-वस्तु (अवलम्बन) के अभाव में हुआ बोध ही भ्रम है। चार्वाक मतानुसार शुक्ति-रजत के ज्ञान में शुक्ति अर्थात् अवलम्बन का सर्वथा अभाव होता है। इस मत के अनुसार शुक्ति में रजत का ज्ञान शुक्ति के बोध के अभाव में उत्पन्न होता है। बोध से पृथक अथवा बोध के अभाव (अ + ख्याति) के कारण ही यहाँ भ्रम की व्याख्या 'अख्याति' के रूप में की गई है।

शुक्ति-रजत की व्याख्या करते हुए चार्वाक कहते हैं कि किसी वस्तु का अपने से भिन्न आकार में ज्ञात होना असंभव है। इस रूप में शुक्ति में जब रजत का ज्ञान होता है। तो बोध की विषय-वस्तु के रूप में (अवलम्ब) 'शुक्ति' वहाँ होती ही नहीं है। यहाँ बोध की विषय-वस्त के रूप में रजत ही उपस्थित होता है। चार्वाक मत के अनुसार 'इदम् रजतम्' के ज्ञान में ज्ञान की विषय-वस्तु 'रजत' है न कि शुक्ति। पुनः, यदि 'इदम् रजतम्' में ज्ञान की विषय-वस्तु 'रजत' है तो यहाँ 'रजत' के ज्ञान को भ्रमात्मक कैसे कहा जा सकता है ? प्रश्न यह भी कि बालुका पर पड़ी शक्ति में रजत का ज्ञान क्यों और कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए चार्वाक कहते हैं कि यहाँ रजत का ज्ञान 'निरावलम्ब' अर्थात किसी अधिष्ठान से रहित होता है। चार्वाक मतानुसार इस बोध में किसी भी वस्तु की ख्याति होती ही नहीं। अतएव इस प्रकार के ज्ञान को भ्रम तथा 'भ्रम' के इस विश्लेषण को अख्यातिवाद का नाम दिया जाता है।

चार्वाकों के अख्यातिवाद के विरुद्ध आक्षेप – चार्वाकों के अख्यातिवाद विषयक मत के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किए जाते हैं-

1. भ्रम में विषय के बोध को 'निरावलम्ब' क्यों कहा जाय? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए चार्वाक कहते हैं कि शुक्ति-रजत के बोध में जिस रजत का बोध ज्ञाता को होता है वह बोध निरावलम्ब

अथवा बिना किसी अधिष्ठान के अधिष्ठान-रहित होता है अतएव यहाँ विषय के बोध को 'निरावलम्ब' कहा जाता है।

इस चार्वाक मत के विरुद्ध आपत्ति करते हुए न्याय वैशेषिक कहते हैं कि यदि 'निरावलम्बन' का यह अर्थ लिया जाय तो 'स्वप्नावस्था के ज्ञान' और 'भ्रम' का भेद नष्ट होगा क्योंकि स्वप्नावस्था में जिस रजत का बोध होता है वह रजत भी इसी रूप निरावलम्ब होता है।

2. न्याय-वैशेषिक मतानुसार शुक्ति में जिस रजत का प्रत्यक्ष होता है उसे 'निरावलम्ब' नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष तो कभी भी 'निरावलम्ब' होता ही नहीं। प्रत्यक्ष की तो उत्पत्ति ही इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से होती है। अत: अर्थ (विषय) पर आश्रित होने के कारण वह सदैव आलम्बन युक्त ही होता है।

ऐसी स्थिति में प्रश्न है कि बिना अर्थ (अवलम्बन) के प्रत्यक्ष संभव कैसे होगा ?

प्रभाकर मत - प्राभाकर मीमांसक भी अख्यातिवाद के समर्थक हैं किन्तु प्राभाकरों का अख्यातिवाद चार्वाकों की भाँति शुक्ति-रजत की व्याख्या 'निरावलम्बन ज्ञान' के रूप में नहीं करता। प्राभाकर मत के अनुसार शुक्ति-रजत का ज्ञान (शुक्ति में रजत का बोध:) दो अवबोधों के बीच भेद न कर पाने के कारण (विवेक के अभाव में) उत्पन्न होता है। प्रभाकर मीमांसकों के इस मत को 'विवेकख्याति' के नाम से भी पुकारा जाता है।

प्राभाकर मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान स्वत:प्रामाण्य है अतएव प्रत्येक ज्ञान अपनी उत्पत्ति, ज्ञाप्ति और कार्य में सदैव सत्य ही है। यहाँ तक कि जिसे 'भ्रम' की संज्ञा दी जाती है वह ज्ञान भी सर्वथा असत्य अथवा अयथार्थ नहीं है। प्राभाकर मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान निरावलम्ब न होकर विषय पर आधारित होता है। साथ ही यह भी सर्वथा असंभव है। किं इन्द्रिय का सन्निकर्ष एक वस्तु (शुक्ति) से हो और प्रत्यक्ष दूसरी वस्तु (रजत) का हो। वस्तुत:, प्रभाकर मत के अनुसार, शुक्ति-रजत का ज्ञान दो बोधों के बीच भेद न कर पाने के कारण (भेदाग्रह से) होता है। जब शुक्ति में 'इदम् रजत' का बोध ज्ञाता को होता। है तो यहाँ इस बोध में कोई दोष नहीं होता। प्राभाकर मतानुसार इस बोध के दो अंश हैं-'इदम्' और 'रजतम्। यहाँ जब ज्ञाता का इन्द्रिय संपर्क शुक्ति से होता है तो उसे 'इदम् शुक्ति:' के स्थान पर मात्र 'इदम्' का बोध होता है। इसी काल में स्मृति में उपस्थित रजत का बोध भी ज्ञाता के मानस में उपस्थित होता है। प्राभाकर मतानुसार 'रजत' का यह बोध निरवलम्ब न होकर स्मृतिरूप है। स्मृति तो 'गृहीत ग्राही ज्ञान' अर्थात् पूर्वकाल में गृहीत किए जा चुके ज्ञान का पुनग्रहण है। शुक्ति-रजत के ज्ञान में जब 'इदम्' के ज्ञान के साथ ज्ञाता के मानस में रजतम्' का बोध उपस्थित होता है तो गृहीत अंश (पहले से ग्रहण किए जा चके अंश) का बोध ज्ञाता को नहीं होता किन्तु ग्रहण अंश (ग्रहण किए जा रहे) का बोध ज्ञाता को होता है। इस स्मृतिप्रमोश (गृहीत अंश का लुप्त बोध तथा ग्रहण अंश का जाग्रत बोध) के कारण ज्ञाता रजत के बोध को ग्रहण करता है। रजत का यह बोध पूर्वगृहीत होने के कारण निरावलम्ब नहीं कहा जा सकता। यहाँ ज्ञाता बालुका पर उपस्थित शुक्ति के इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न 'इदम्' के बोध को स्मृति से गृहीत 'रजतम्' के बोध से भिन्न नहीं कर पाता। इस विवेकाग्रह (दो ज्ञानों के बीच भेद के विवेक का नष्ट हो जाना) के कारण ज्ञाता 'इदम्' और 'रजतम्' के ज्ञान को मिला देता है जिससे ज्ञाता के भीतर 'इदम् रजतम्' का बोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रभाकर मत के अनुसार

भ्रम निरावलम्बन होकर दो बोधों के बीच अभेद के अभाव (अर्भदाग्रह) अथवा अभेद कर पाने के विवेक का अभाव (विवेकाग्रह) के कारण उत्पन्न होता है। यह विवेक का अभाव (विवेकाग्रह) एक प्रकार का अज्ञान है। इस प्रकार प्रभाकर मंमिांसा मत मैं शुक्ति-रजतं का ज्ञान 'अयथार्थ ज्ञान' न होकर 'ज्ञान का अभाव' है इसीलिए प्रामाकारों की भ्रम-विषयक इस व्याख्या से 'अख्याति (अ . ख्याति अथवा बोध का अभाव) का नाम दिया जाता है।

प्राभाकर मत में यह विवेकाग्रह तीन प्रकार का होता है-

1. दो प्रत्यक्षों के बीच भेद के विवेक का अभाव -उदाहरणार्थ जब स्फटिक के पार्श्व में गुलाब का फूल रखा जाता है तो स्फटिक की आभा लाल दिखने लगती है। यहाँ स्फटिक के प्रत्यक्ष तथा लाल रंग के प्रत्यक्ष के बीच भेद के विवेक के अभाव में 'लाल स्फटिक' जैसा बोध उत्पन्न होता है।

2. प्रत्यक्ष तथा स्मृति के बीच भेद के विवेक का अभाव - उदाहरणार्थ, शुक्ति रजत में ज्ञाता को 'इदम्' का प्रत्यक्ष होता है तथा रजत की स्मृति होती है। स्मृतिप्रमोश के कारण ज्ञाता प्रत्यक्ष तथा स्मृति के बीच अभेद नहीं कर पाता (अभेदाग्रह) फलतः 'इदम् रजतम्' का बोध ज्ञाता को होता है।

3. स्मृति और स्मृति के बीच भेद के विवेक का अभाव - कोई व्यक्ति जब यह स्मरण करता है कि कल मैंने मार्ग में एक सर्प को देखा था जबकि वस्तुतः कल मार्ग में सर्प के स्थान पर रज्जु पड़ा हुआ था, तो इस प्रकार का बोध दो स्मृतियों के बीच विवेकाग्रह के कारण होता है। यहाँ ज्ञाता 'वह' की स्मृति को 'सर्प' की स्मृति से मिला देता है और उसे बोध होता है कि वह सर्प था।' '

प्राभाकर मत के विरुद्ध आपत्तियाँ - प्राभाकारों के अख्यातिवाद के विरुद्ध मुख्यतः निम्नलिखित आपत्तियाँ की जाती हैं-

1. कुमारिल भट्ट और सुचरित मिश्र ने प्राभाकर मत पर आक्षेप करते हुए कहा है कि प्राभाकरों का अख्यातिवाद मीमांसा मत से संगति नहीं रखता। मीमांसा मत जैमिनी प्रणीत मीमांसासूत्र के शाबरभाष्य पर आधारित है किन्तु कुमारिल भट्ट के अनुसार, शाबरभाष्य की ठीक-ठीक व्याख्या न कर पाने के कारण ही प्रभाकर मत भ्रम की व्याख्या अख्याति' के रूप में करता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार महर्षि शबर का यह स्पष्ट मत है कि भ्रम एक 'अयथार्थ बोध' है जिस अयथार्थ बोध की उत्पत्ति 'दुष्ट करणों' या करण दोष से होती है।

2. पार्थसारथी मिश्र ने अख्यातिवाद के विरुद्ध कहा है कि भ्रम की उत्पत्ति विवेकाग्रह (भेद के अज्ञान) के कारण नहीं होती। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण का भेद जानता है वह भी किसी विशेष समय और विशेष स्थान पर दिग्भ्रम का शिकार होता है।

3. प्रभाकर मत के अनुसार ज्ञान स्वतःप्रकाश्य है। प्राभाकारों के इस मत के आलोक में अख्यातिवाद पर आपत्ति करते हुए कहा जाता है कि यदि समस्त ज्ञान स्वतः प्रकाश्य है तो 'इदम्' और 'रजतम्।' के बोध को भी स्वतःप्रकाश्य और स्वतःप्रामाण्य होना चाहिए और यदि ये दोनों स्वतःप्रकाश्य हैं तो इनके बीच का भेद भी स्वतःग्राह्य ही होना चाहिए। पुनः यदि इनके बीच का भेद स्वतःग्राह्य है तो इनके बीच विवेकाग्रह भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में, जब स्वतःप्रकाश्य होने के कारण शुक्ति और रजत के बीच विवेकाग्रह की उत्पत्ति संभव ही नहीं, तब यह कहने का कोई आधार नहीं बनता कि विवेकाग्रह के कारण भ्रम उत्पन्न होता है।

4. जयन्त भट्ट प्राभाकर मीमांसकों के इस मत का खंडन करते हैं कि भ्रम स्मतिप्रमोश के कारण

नोट

उत्पन्न होता है। जयन्त भट्ट के अनुसार भ्रम स्मृति के कारण न होकर प्रत्यक्ष के कारण होता है। शुक्ति रजत में जब ज्ञाता को रजत के प्राथमिक ज्ञान के अनन्तर शुक्ति का ज्ञान होता है तो ज्ञाता यह नहीं समझता है कि 'रजत की मेरी स्मृति भ्रमात्मक थी', वरन् ज्ञाता यह समझता है कि रजत का मेरा प्रत्यक्ष भ्रमात्मक था।'' जयन्त भट्ट के अनुसार इदम् रजतम्' में 'इदम्' का प्रकाश जिस चेतन प्रक्रिया से होता है उसी चेतन प्रक्रिया से 'रजतम्' का भी प्रकाश होता है अतएव प्राभाकरों का यह कथन उचित नहीं कि भ्रम स्मृतिप्रमोश के कारण होता है।

5. अख्यातिवाद भ्रम की निषेधात्मक व्याख्या देते हुए भ्रम को 'बोध का अभाव' की श्रेणी में रखता है किन्तु हम जानते हैं कि भ्रम भी एक बोधात्मक प्रक्रिया है। 'इदम् रजतम्' में ज्ञाता को रजत का स्पष्ट बोध होता है। अत: भ्रम को 'बोध के अभाव के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता।

6. जयन्त भट्ट ने प्रमाकारों की विवेक ख्याति की कटु निंदा करते हुए कहा है कि प्रभाकर मिश्र ने विवेकख्याति के सिद्धांत को बौद्ध धर्मकीर्ति के घर से चुराया है। धर्मकीर्ति ने संवृत्ति सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि बाह्य वस्तु (स्वलक्षण) और कल्पना (सामान्य लक्षण) के बीच भेद न कर पाने के कारण ही संवृत्ति की उत्पत्ति होती है और जगत व्यवहार चलता है। जयन्त भट्ट के अनुसार संवृत्ति की इसी व्याख्या के आलोक में प्रभाकर मत भ्रम की व्याख्या करते हुए कहता है कि भ्रम प्रत्यक्ष और स्मृति के बीच भेद न कर पाने के कारण उत्पन्न होता है।

7. प्रभाकर, जो अभाव की स्वतंत्र वस्तुपरक सत्ता नहीं मानते, भ्रम की व्याख्या जब अज्ञान (ज्ञान के अभाव) के रूप में करते हैं तो उनके सम्मुख निश्चय ही दोष उपस्थित होता है। प्रश्न है जब 'अभाव' की सत्ता ही नहीं है तो 'ज्ञान के अभाव' का क्या अर्थ होगा ?

8. प्रभाकर त्रिपुटिप्रत्यक्ष को मानते हैं अर्थात् इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनों का सम्मिलित फल है। आश्चर्य है कि प्राभाकर भ्रम की व्याख्या करते हुए श्रम में बोध की विषय-वस्तु (प्रमेय) और स्वयं बोध की भूमिका तो स्वीकार करते हैं किन्तु यहाँ ज्ञाता की भूमिका पर वे ध्यान नहीं देते। इसका परिणाम यह होता है कि भ्रम के विषयगत पक्ष का तो यहाँ निरूपण हो जाता है किन्तु भ्रम के विषयगत पक्ष की यहाँ अवहेलना होती है जबकि हम जानते हैं कि भ्रम अथवा किसी भी अवबोध में ज्ञाता अथवा विषयी की प्रकृष्ट भूमिका होती है। इस प्रकार भ्रम की प्रभाकर प्रदत व्याख्या न सिर्फ एकांगी है वरन उनके स्वयं की 'त्रिपुटिप्रत्यक्ष' की धारणा के प्रतिकूल भी है।

6.5 विपरीतख्याति तथा अन्यथाख्याति

बहुधा इन पदों का समनार्थाक प्रयोग किया जाता है। नैय्यायिक उद्योतकर ने भी विपरीतख्याति और अन्यथाख्याति का समानार्थक प्रयोग किया है। किन्तु कहीं-कहीं इन पदों का भिन्नार्थक प्रयोग भी मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार न्याय मत विपरीतख्यातिवाद का समर्थक हैं और भाटट मीमांसकों के ख्याति विषयक मत को अन्यथाख्याति कहते हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वान न्याय वैशेषिक के मत का उल्लेख 'अन्यथाख्याति' तथा भाटट बाद मीमांसकों के मत का उल्लेख विपरीतख्याति' के नाम से करते हैं।

बावजूद इसके कि न्याय-वैशेषिक के मत को कहीं विपरीतख्याति तो कहीं 'अन्यथाख्याति' के नाम

से पुकारा जाता है और भाट्ट मीमांसकों के मत को भी 'विपरीतख्याति तथा 'अन्यथाख्याति के नाम से पुकारा जाता है, ख्यातिवाद विषयक न्याय और भाट्ट मत में उनकी तत्त्वमीमांसा के अनुरूप आध ारभूत भेद है। इस दृष्टि से भाट्ट और न्याय के ख्याति विषयक मत का पृथक-पृथक विवेचन यहाँ वांछनीय है।

भाट्ट मत – ख्यातिविषयक भाट्ट मत का प्रथम निरूपण कुमारिल भट्ट (620-700 ईस्वी संवत्) कृत 'लोकवार्तिक में मिलता है जो जैमिनी कृत मीमांसासूत्र के शाबरभाष्य के तर्कपाद की टीका है। तदनन्तर भाट्टोम्बेक कृत तात्पर्यटीका, जो 'लोकवार्तिक की टीका में भी विपरीतख्यातिवाद का निरूपण मिलता है। सुचारित मिश्र ने 'काषिक' में भी विपरीतख्यातिवाद की व्याख्या की है। पार्थसारथी मिश्र ने भी ख्यातिवाद का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

भाड़ मीमांसा एक यथार्थवादी दर्शन है। अपने ज्ञानमीमांसीय रूप में यथार्थवाद जहाँ एक ओर ज्ञाता से भिन्न ज्ञेय की यथार्थ वस्तुपरक सत्ता को स्वीकृति प्रदान करता है वही दूसरी ओर यह भी स्वीकार करता है कि ज्ञेय ज्ञाता की चेतना में उसी रूप में उपस्थित होता है जैसा कि वह (ज्ञेय) है।

यथार्थवाद की इन दो मूलभूत ज्ञानमीमांसीय प्रतिस्थापनाओं के अतिरिक्त भाट्ट मीमांसक ज्ञान को स्वत:प्रमाण्य तथा स्वत:प्रकाश्य स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि प्रत्येक बोध अथवा ज्ञान सदैव सत्य ही होता है, किन्तु दूसरी ओर अप्रामाण्य को परत: मानने के कारण भाट्ट मीमांसक यह भी कहते हैं कि ज्ञान में अप्रामाण्य (अयथार्थत्व) की उत्पत्ति तथा ज्ञाप्ति परत: होती है।

भाट्ट मीमांसकों के ख्यातिविषयक मत को इन्हीं ज्ञानमीमांसीय प्रतिस्थापनाओं के आलोक में समझा जाना चाहिए।

भ्रम की व्याख्या करते हुए भाट्ट मीमांसक मूलत: दो प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा करते हैं-(क) भ्रम क्या है? तथा (ख) भ्रम कैसे होता है? 'भ्रम क्या है?-इस प्रश्न के उत्तर में भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि किसी वस्तु का अन्यथारूप ज्ञात होना भ्रम है। उदाहरणार्थ बालुका पर पड़ी शक्ति का रजत-रूप ख्यात (बोध) होना ही भ्रम है। यहाँ प्रश्न होता है कि शुक्ति की रजत-रूप ख्याति क्यों होती है? शब्दान्तर से भ्रम कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि शुक्ति और रजत में प्रकार की समानता है। शुक्ति में भी रजत के ही प्रकार की सफेदी और चमकीलापन है। जब बाह्यकरण दोषपूर्ण होते है अर्थात् सूरज की किरणें एक विशेष कोण से शुक्ति पर पड़ती हैं तो दृष्टि-दोष के कारण शुक्ति रजत की तरह दिखने लगती है (ख्यात हो उठती है)।

शुक्ति रजत के बोध की तार्किक व्याख्या करते हुए पार्थसारथी शास्त्रदीपिका में कहते है कि बालूका पर पड़ी शक्ति में जब यह बोध होता है कि यह रजत है तो यहाँ 'इदम् और रजतम्' दोनों ही बोध यथार्थ हैं तथापि 'इदम् रजतम्' का बोध दोषपूर्ण हो जाता है। वस्तुत: यह दोष वस्तु का नहीं, संसर्ग का है। बालूका पर तो 'इदम्' भी है और प्रकार रूप में रजत' भी है किन्तु बाह्य कारणों से शुक्ति का सम्पूर्ण इन्द्रिय संसर्ग न होकर उसके रजत प्रकारत्व (सफेदी और चमकीलेपन) का इन्द्रिय संसर्ग होता है। इस बाह्य कारणदोष से ही ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है तथा शुक्ति रजत के रूप में (अन्यथा रूप में) ख्यात हो उठती है। शुक्ति का रजत रूप में गृहित यह बोध ही भ्रांति है।

प्रभाकर मीमांसक भ्रम को 'बोध का अभाव' कहते हैं तथा इसकी अभावरूप व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दो अधूरे बोधों के अनुचित संसर्ग (विवेकाग्रह) के कारण यह बोध उत्पन्न होता है।

किन्तु भाट्ट मीमांसक भ्रम की व्याख्या 'भावरूप अज्ञान' के रूप में करते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार भ्रम अज्ञान (ज्ञान का अभाव) न होकर एक प्रकार का बोध अथवा ज्ञान ही है किन्तु बाह्य कारणों अथवा दोषयुक्त हेतु से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान अप्रामाण्य अथवा दोषयुक्त होता है।

नोट

यहाँ 'दोषयुक्त हेतु' का अर्थ भी समझ लिया जाना चाहिए। 'दोषयुक्त हेतु' के दो अर्थ होते हैं

1. शुक्ति आदि पर प्रकाश का दोषपूर्ण प्रयोग, यथा, चक्षु, (इन्द्रिय) आदि के दोष के कारण सम्पूण ि शुक्ति का इन्द्रिय संसर्ग न होकर मात्र रजत प्रकारत्व आदि का ही इन्दिग्र संसर्ग आदि 'दोषयुक्त हेतु' हैं।

2. रजत का बोध' जब 'रजत' (वस्तु) के द्वारा ही उत्पन्न किया जाय तो रजत के बोध' (ज्ञान) का हेतु गुणवत समझा जाता है किन्तु जब रजत का बोध (ज्ञान) रजत के अतिरिक्त अन्य वस्तु, यथा शुक्ति के द्वारा उत्पन्न किया जाता है तो बोध के हेतु को 'दोषपूर्ण हेतु' कहा जाता है।

इस प्रकार कुमारिल भट्ट के अनुसार दोषपूर्ण हेतु अथवा अन्य वस्तु के द्वारा उत्पन्न (अर्थान्यथात्वहेतु) ज्ञान होने के कारण भांति अप्रमा रूप है।

भाट्ट मीमांसकों तथा प्रभाकर मीमांसकों के ख्यातिविषयक सिद्धांत में भेद - कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र दोनों ही मीमांसा मत के आचार्य हैं तथा दोनों ही आचार्य अपनी गवेषणाओं को मीमांसासूत्र के शाबरभाष्य पर आधारित करते हैं। तदनुरूप इन दोनों आचार्यों के मत में पर्याप्त समानताएँ भी हैं, यथा दोनों ही यथार्थवादी हैं तथा दोनों ही आचार्य प्रामाण्य के स्वतस्त्व और अप्रामाण्य के परतस्त्व का समर्थन करते हैं, तथापि इन दोनों आचार्यों के मतों में पर्याप्त भेद भी हैं। प्राभाकर और भाट्ट सम्प्रदाय की ख्यातिविषयक गवेषणाओं में मुख्यत: निम्नलिखित भेद हैं-

1. प्रभाकर मीमांसक भ्रम की व्याख्या बोध अथवा 'ज्ञान के अभाव' के रूप में करते हैं जबकि भाट्ट मीमांसक भ्रम की व्याख्या 'भाव रूप अज्ञान' अथवा 'अयथार्थ ज्ञान' के रूप में करते हैं।

2. प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार भ्रम दो अधूरों बोधों के एक साथ जुड़ जाने के कारण होता है, यथा बालूका पर अवस्थित शुक्ति के विषय में जब 'इदम् रजतम्' का बोध ज्ञाता को होता है तो इदम् का बोध भी सत्य किन्तु अधूरा है जो 'इदम् शुक्ति' के स्थान पर मात्र 'इदम्' के रूप में होता है तथा रजतम्श्का बोध भी सत्य किन्तु अधूरा है जो स्मृति रूप उपस्थित 'इदम् रजतम्' के इदम् रहित रजतम् मात्र के बोध के रूप में प्राप्त होता है। इन दोनों अधूरे बोधों 'इदम्' तथा 'रजत' के बीच भेद के अविवेक (विवेकाग्रह अथवा भेदाग्रह) के कारण ये दोनों ज्ञान परस्पर मिल जाते हैं और 'इदम् रजतम्' का बोध ज्ञाता को हो जाता है। इस प्रकार प्रभाकर मतानुसार भ्रम दो अधूरे बोधों का संकलित रूप है।

इसके विपरीत भाड़ मीमांसा के अनुसार भ्रम दो अधूरे बोधों का संकलन न होकर अपने आप में एक सम्पूर्ण अवबोध है किन्तु दोषपूर्ण संसर्ग के कारण यह बोध भ्रमात्मक हो जाता है।

3. प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार भ्रम विवेकाग्रह (दो बोधों के बीच भेद के अज्ञान)अथवा भेदाग्रह की उपज है जबकि भाट्ट मीमांसकों के अनुसार भ्रम वस्तु का अन्यथा-रूप बोध (अन्यथाख्याति अथवा विपरीतख्याति) है।

4. भाट्ट मीमांसकों के अनुसार भ्रम अन्य वस्तु (दोषपूर्ण शुक्ति) से उत्पन्न ज्ञान है। (जैसे-इदम्

रजतम् का ज्ञान शुक्ति से उत्पन्न होता है) जबकि प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार रजत का ज्ञान रजत से ही उत्पन्न है, भले यह रजत स्मृति में उपस्थित है (स्मृतिप्रमोश)।

भाट्ट मीमांसकों के मत में दोष – भाट्ट मीमांसकों के मत में मुख्यत: निम्नलिखित दोष बतलाए जाते हैं-

नोट

1. प्रो. हिरियन्ना के अनुसार भाट्टों के अन्यथाख्यातिवाद की संगति उनके यथार्थवाद से नहीं है। ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद के अनुसार यद्यपि ज्ञेय की यथार्थ वस्तुपरक सत्ता है किन्तु ज्ञेय ज्ञाता की चेतना में यथारूप उपस्थित होता है। भाट्ट मीमांसक जिस प्रकार भ्रम की व्याख्या करते हैं उससे ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद का यह रूप खंडित होता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार भ्रम वस्तु की अन्यथा-रूप ख्याति है। अर्थात् भ्रम में वस्तु उस रूप में नहीं दिखती जैसी कि वह है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवाद का आश्रय लेकर भाट्ट मीमांसक अपने यथार्थवाद से विमुख हो जाते हैं। इस संदर्भ में प्रो. चंद्रधर शर्मा का मत उल्लेखनीय है। प्रो. शर्मा के अनुसार बोध को इस प्रकार आत्माश्रित अथवा ज्ञाता सापेक्ष मान कर भाट्ट मीमांसक अपने यथार्थवाद का परित्याग करते हैं।

2ण भाट्ट मीमांसक स्वत: प्रामाण्यवादी है। इस मत के अनुसार बोध सदैव अपनी ज्ञाप्ति और उत्पत्ति में सत्य ही है। प्रश्न है कि यदि बोध सदैव सत्य ही होता है तो भ्रस, जो एक प्रकार का बोध है, उसका असत्य होना कैसे संभव है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: अवश्य है किन्तु ज्ञान के अप्रामाण्य में परतस्त्व सिद्ध है, अर्थात् बाह्य कारणों से ज्ञान दोषपूर्ण हो जाता है। इस रूप में भ्रम भी बाह्य कारण अथवा दोषपूर्ण कारणों की उपज है। अतएव, परत: अप्रामाण्यवादी होने के कारण भ्रम की भावात्मक ज्ञान-रूप व्याख्या करने पर भी भाड़ों का स्वत: प्रामाण्यवाद सुरक्षित रह जाता है।

न्याय मत – ख्यातिविषयक न्याय मत को कहीं 'अन्यथाख्याति' और कहीं विपरीतख्याति की संज्ञा दी जाती है। नैय्यायिक उद्योतकर ने इसे 'विपरीतख्यातिवाद' का ही नाम दिया है।

जैसा कि सर्वज्ञात है न्याय मत का प्रारंभ तीसरी शताब्दी में महर्षि गौतम के न्याय सूत्र के साथ होता है। न्यायसूत्र में यद्यपि अन्यथाख्याति अथवा विपरीतख्यातिवाद का कहा कोई वर्णन नही मिलता किन्तु यहाँ मिथ्याज्ञान अथवा भ्रम विषयक कुछ प्रतिस्थापनाएँ मिलती है। तदनन्मतर न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य और उद्योतकर के न्यायवार्तिक में भी अन्यथाख्याति अथवा विपरीतख्याति विषयक कोई आख्यान नहीं मिलता किन्तु भ्रम का वर्णन वहाँ भी है। संभवत: 'अन्यथाख्याति' का सर्वप्रथम उल्लेख वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्ति तात्पर्य टीका में मिलता है जो उद्योतकर के न्यायवार्तिक की टीका है। दसवीं शताब्दी में उदयानाचार्य ने वाचस्पति मिश्र के न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका का अनुशीलन तात्पर्यपरिशुद्धि में किया जहाँ अन्यथाख्यातिवाद का विवरण प्राप्त होता है। शिवादित्य मिश्र कृत सप्तपदार्थी, जो न्याय-वैशेषिक का सर्वप्रथम संयुक्त ग्रंथ समझा जाता है, में भी अन्यथाख्यातिवाट के वर्णन मिलते हैं। केशव मिश्र की तर्कभाषा और अन्नम् भट्ट के तर्कसंग्रह में भी तदविषयक विवेचन उपलब्ध हैं। न्यायमंजरी में जयन्त भट्ट ने भ्रम विषयक समस्त वादों-प्रतिवादों की विस्तत समीक्षा की है।

नैय्यायिकों के ख्यातिविषयक मत की विवेचना के पूर्व यह याद कर लेना होगा कि न्याय मत यथार्थवादी होने के साथ-साथ ज्ञान के प्रामण्य और अप्रामण्य दोनों को ही पत्र कहता है।

केशव मिश्र ने भ्रम को अप्रमा की कोटि में रखते हुए कहा है कि 'अतत्' में 'तत्' का ग्रहण भ्रम है, जैसे, सामने स्थित अ-रजत स्वरूप शुक्ति में 'इदम् रजतम्' का बोध जयन्त भट्ट के अनुसार किसी यथार्थ वस्तु का सम्यक् अग्रहण के कारण अन्य रूप में ख्यात अथवा ज्ञात होना ही भ्रम है।

नोट

भ्रम कैसे होता है? इस प्रश्न की व्याख्या करते हुए नैय्यायिक कहते हैं कि ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य (सत्यता और असत्यता) दोनों ही बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। 'शुक्ति' का 'शुक्ति रूप बोध' यथार्थ ज्ञान है तथा शुक्ति' का रजत रूप बोध अयथार्थ ज्ञान है। 'शुक्ति' का यह बोध शुक्ति रूप' (यथार्थ) होगा अथवा 'रजत रूप' होगा (अयथार्थ), न्याय मतानुसार यह बाह्य करणों (यथा, यथेष्ट प्रकाश आदि) पर निर्भर करता है। यदि बाह्य करण गुणवत (दोषरहित) हैं तो ज्ञान यथार्थ होगा तथा यदि बाह्य करण दोषपूर्ण (गुणवत् कारण दोष) हैं तो ज्ञान अयथार्थ अथवा भ्रमात्मक होगा। पुनः, न्याय मतानुसार प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य (सत्य और असत्य) की ज्ञाप्ति (कसौटी) भी परतः ही है। यदि ज्ञान परवर्ती ज्ञान द्वारा अबाधित रह जाता है तथा यदि ज्ञान में प्रवृत्ति सामर्थ्य है तो ज्ञान यथार्थ है अन्यथा अयथार्थ।

प्रामाण्य विषयक इस न्याय मत के आलोक में भ्रम की व्याख्या की जाय तो न्याय मतानुसार शुक्ति में रजत का भान गुणवत् कारण दोष (यथा इन्द्रिय, दोष, यथेष्ट प्रकाश का अभाव आदि) से उत्पन्न होता है और इस भ्रांति (यह रजत नहीं शुक्ति है) का प्रकाशन भी बाह्य कारणों (यथा परवर्ती बोध) द्वारा यह रजते है' बोध के खंडन द्वारा होता है।

यहाँ प्रश्न है कि 'शुक्ति' में ही रजत' का भान क्यों होता है? जिस बालुका पर शुक्ति नहीं है, उसी बालूका में रजत का भान क्यों नहीं होता?

इस प्रश्न का उत्तर न्याय-मत की सामान्य तथा सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा में मिलता है। वैशेषिक मतानुसार सामान्य अनुवृत्ति प्रत्यय' का कारण हो। दो वस्तुओं में समानता का बोध 'अनुवृत्ति प्रत्यय' है। रजत और शुक्ति में अनुवृत्ति प्रत्यय है अर्थात् उन दोनों में कुछ गुणों की समानता है, यथा रजत भी श्वेत और चमकदार है तथा शुक्ति भी श्वेत और चमकदार है। जब ज्ञाता का इन्द्रिय सम्पर्क बालूका पर पड़ी शुक्ति से होता है तो सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष (जो एक प्रकार का अलौकिक प्रत्यक्ष है) के द्वारा ज्ञाता को शुक्ति के इस 'अनुवृत्ति प्रत्यय' और इस रूप में सामान्य' को प्रत्यक्ष होता है।

अनुवृति प्रत्यय के इस प्रत्यक्ष के कारण ही ज्ञाता शक्ति एवं रजत के विशेष धर्म का पर्यवसान करके सामान्य धर्म को ग्रहण करता है और इस प्रकार यहाँ 'इदम् रजतम् का बोध ज्ञाता को प्राप्त होता है।

इस प्रकार न्याय मतानुसार 'इदम् रजतम्' के इस बोध में 'इदम्' भी सत्य है और 'रजतम्' भी सत्य है, साथ ही इदम्' और 'रजतम्' का बोध भी सत्य है किन्तु इदम् रजतम्' के इस बोध में प्रवृत्ति सामर्थ्य का अभाव है तथा यह बोध शुक्ति के संदर्भ में अतदवत्' है अतः इदम् रजतम्' के ज्ञान को शुक्ति के संदर्भ में 'भ्रमात्मक' कह दिया जाता है।

इस प्रकार रजत, शुक्ति और इनके बोध को यथार्थ कहकर नैय्यायिक इस ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद की रक्षा करने में समर्थ होते हैं कि ज्ञान में वस्तु उसी रूप में उपस्थित होती है, जैसा कि वह है। यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि न्याय मत अपने यथार्थवाद की रक्षा भ्रम की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर करता है। न्याय मत के अनुसार मनोवैज्ञानिक रूप से तो रजत, शुक्ति और उनका

बोध सभी सत्य है किन्तु जब शुक्ति में रजत के गुण का आरोपण किया जाता है तो दोषपूर्ण विधेय के कारण शुक्ति रजत का ज्ञान दोषपूर्ण हो जाता है।

नोट

यहाँ न्याय प्रभाकर मीमांसकों के इस मत की भर्त्सना करते हैं कि भ्रम भेदाग्रह अथवा अविवेकाग्रह के कारण होता है। भाट्ट मीमांसकों की ही भाँति नैय्यायिक भी 'इदम् रजतम्' के बोध को एकीकृत बोध मानते हैं न कि प्राभाकरों की तरह दो अधूरे बोधों का सम्मिलित रूप।

भाड़ों के अन्यथाख्यातिवाद से नैय्यायिकों के अन्यथाख्याति का भेद-भाट्ट मीमांसक और नैय्यायिक दोनों ही भ्रम को 'अन्य वस्तु के बोध' के रूप में परिभाषित करते हैं। इसीलिए इनके सिद्धांत को अन्यथाख्याति अथवा विपरीतख्याति के नाम से पुकारा जाता है। द्वितीयत:, ये दोनों ही मत यथार्थवादी है और ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद की तार्किक अपेक्षाओं के अनुरूप प्रत्येक चरण में इस ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद की रक्षा करना चाहते हैं कि बोध की वस्तु ज्ञान में उसी रूप में उपस्थित होती है जैसी कि वह है।

तथापि इन दोनों मतों में तनिक अंतर भी है।

प्रथमत: न्याय मत ज्ञान के प्रमाण्य और अप्रामाण्य दोनों में ही परतस्त्व को स्वीकार करता है अतएव न्याय मत यह मानता है कि ज्ञान सत्य भी बाह्य कारणों से होता है और असत्य भी बाह्य कारणों से ही होता है। दूसरी ओर भाट्ट मीमांसक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वत: कहते हैं तथा अप्रामाण्य के 'परतस्त्व' को स्वीकार करते हैं। इस रूप में मीमांसा मतानुसार ज्ञान अपने स्वभाविक रूप में यथार्थ है किन्तु बाह्य कारणों से दूषित होता है जिससे भ्रम आदि की उत्पत्ति होती है।

द्वितीयत:, शुक्ति में रजत के बोध की व्याख्या के लिए न्याय-वैशेषिक अनुवृत्ति प्रत्यय तथा सागान्य लक्षण प्रत्यक्ष की अवधारणा का आश्रय लेते हैं जबकि भाट्ट मीमांसक शुक्ति और रजत में कुछ गुणों की समानता स्वीकार करने के बाद भी न तो वहाँ अनुवृत्ति प्रत्यय का समावेश करते हैं न सामान्य लक्षण प्रत्यय का।

6.6 अलौकिकार्थख्यातिवाद

यद्यपि 'ख्यातिपंचक' में इस मत का उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु सामान्यत: यह मत भी मीमांसकों का ही समझा जाता है। यह मत संभवत: मुरारी मिश्र प्रस्थान का है जो प्रस्थान अब लुप्त समझा जाता है। इस मत के अनुसार शुक्ति रजत के ज्ञान में न तो शुक्ति अयथार्थ है, न रजत अयथार्थ है और नहीं रजत का यह बोध अयथार्थ है। इस मत के अनुसार अर्थ अथवा वस्तुएँ दो प्रकार की हैं-व्यवहार समर्थ तथा व्यवहारासमर्थ। इसमें व्यवहारसमर्थ वस्तु लोक व्यवहार के योग्य होती है किन्तु व्यवहारासमर्थ वस्तुएँ लोक व्यवहार के अयोग्य होती है। व्यवहारसमर्थ अर्थ (वस्तु) को श्लौकिक अर्थ' कहते है तथा व्यवहारासमर्थ अर्थ (विषय) को 'अलौकिक अर्थ' कहा जाता है। शुवित रजत में जिस रजत का बोध होता है, वह रजत अयथार्थ नहीं है किन्तु व्यवहारसमर्थ न होने (व्यवहारासमर्थ अथवा व्यवहार-सामथ्य से रहित होने) के कारण यह रजत अलौकिक है। इस प्रकार मीमांसा मत के इस प्रस्थान के अनुसार भ्रम न तो अख्याति (बोध का अभाव) है न ही विपरीत अथवा अन्यथाख्याति है बल्कि यह अलौकिक अर्थ की ख्याति (अलौकिक वस्तु का बोध) है। इसी अर्थ में मीमांसा मत के इस सिद्धांत को 'अलौकिकार्थख्यातिवाद' (अलौकिक + अर्थ +

ख्याति + वाद) कहते हैं।

6.7 प्रसिद्धार्थख्यातिवाद

नोट

'ख्यातिपचंक' में प्रसिद्धार्थख्यातिवाद का भी उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि 'सांख्यकारिका' या 'सांख्य प्रवचन सूत्र' में भ्रम विषयक कोई व्याख्या नहीं मिलती किन्तु प्रमेयकमल मार्तण्ड में सांख्यों के ख्यातिविषयक मत के रूप में प्रसिद्धार्थख्यातिवाद का उल्लेख मिलता है।

प्रसिद्धार्थख्यातिवाद के अनुसार कोई भी ज्ञान असत् वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति संभव ही नहीं। इस रूप में शुक्ति रजत में 'इदम्-रजत का ज्ञान भी सत्य है, 'इदम्' भी सत्य है और 'रजत' भी सत्य है। वस्तुतः सांख्य मतानुसार भ्रम में जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह कोई प्रसिद्ध अर्थ (विषय) ही होता है। इसीलिए इस मत को प्रसिद्धार्थख्यातिवाद' कहा जाता है। किन्तु भ्रम में जो वस्तु ख्यात (ज्ञात) होती है, यथा रजत, व्यवहार में उसकी उपलब्धि न होने के कारण रजत के बोध को 'असत' अथवा अयथार्थ कह दिया जाता है।

इस प्रकार प्रसिद्धार्थख्यातिवाद श्रम की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या प्रस्तुत करने वाला सिद्धांत है।

6.8 अनिर्वचनीयख्यातिवाद

यह मत अद्वैतवादियों का है। अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादक आदिगुरु शंकराचार्य ने 'अनिर्वचनीयख्यातिवाद' के नाम से बोध अथवा भ्रम विषयक किसी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया, किन्तु परवर्ती वेदान्तियों ने शंकराचार्य के अध्यास भाष्य, जगत विचार और मायावाद के आधार पर बोध विषयक इस मत का निरूपण किया। शंकराचार्य के अनुसार समस्त जगत ही एक व्यापक भ्रम है जो माया अथवा अविद्या के कारण उदित है। ब्रह्म की निराकार अद्वय सत्ता है जिसका जगत रूप में अध्यास भावरूप अज्ञान के कारण होता है। माया के दो कार्य है-आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म के यथार्थ सच्चिदानन्द स्वरूप को आवृत्त करती है तथा विक्षेप के द्वारा साकार जगत का अध्यास उस निराकार ब्रह्म में होता है। उत्तर-वेदान्ती शंकराचार्य के इसी तात्त्विक मत का ज्ञानमीमांसीय निरूपण अनिर्वचनीयख्यातिवाद के रूप में करते हैं।

वेदान्त मत 'साक्षी चौतन्य' और 'वृत्ति चौतन्य' में भेद करता है। वेदान्त मत के अनुसार यह आत्मा ही ब्रह्म है जो अपने मूलरूप में ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही साक्षी चौतन्य है। समस्त जगत इस आत्मा का ही अध्यास है। यही आत्मा जब बाह्य वस्तु के रूप में भासित होती है तो इस चौतन्य को 'वृति चौतन्य' कहा जाता है। शब्दान्तर, से ज्ञाता-रूप में आत्मा 'साक्षी चौतन्य' है और ज्ञान-रूप में 'वृत्ति चौतन्य' है। इस प्रकार वेदान्त मतानुसार ज्ञाता और ज्ञेय में कोई तात्त्विक भेद नहीं। ज्ञान में यह वृत्ति चौतन्य ही बाह्य वस्तु का रूप धरता है। इस रूप में चौतन्य के तीन रूप है-प्रमातृ चौतन्य अथवा विषयि या ज्ञाता, विषय चौतन्य अथवा ज्ञेय अथवा ज्ञान की विषयवस्तु, तथा प्रमाण चौतन्य अथवा ज्ञान का साधन। ज्ञानमीमांसीय अथवा व्यवहारिक रूप से ये तीनों पृथक-पृथक प्रतीत होने पर भी एक ही है। इस प्रकार वेदान्त ज्ञानमीमांसा 'त्रिपुटिज्ञान की बात करती है, अर्थात् विषयि, विषय और प्रमाण इन तीनों के अद्वय-अखंड रूप से ही ज्ञान संभव है। प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञाता ही वस्तु का रूप धरता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष में जिस वस्तु का बोध ज्ञाता

को होता है, यथार्थत: वह स्वयं 'ज्ञाता' ही है।

पुन: अपनी ज्ञानमीमांसा में वेदान्ती स्वत:प्रामाव्यवादी है अर्थात् वेदान्त मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप में यथार्थ ही होता है किन्तु बाह्य कारणों से उसमें भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

नोट

भ्रम की व्याख्या करते हुए वेदान्ती कहते हैं कि भ्रम बाह्य कारणों, यथा इन्द्रियादि दोष से उत्पन्न होता है। शुक्ति रजत के ज्ञान में इन्द्रिय दोष से उत्पन्न अज्ञान द्वारा शुक्ति का यथार्थ स्वरूप आवृत्त होता है तथा इस अनावृत्त अधिष्ठान पर स्मृति में उपस्थित रजत का विक्षेप होता है। इस प्रकार आवरण और विक्षेप के द्वारा शुक्ति रूपी अधिष्ठान में रजत रूपी बोध का अध्यास होता है।

शुक्ति-रजत में 'इदम् रजतम्' रूप जो बोध ज्ञाता के सम्मुख उपस्थित होता है उसकी विवेचना करते हुए वेदान्ती कहते हैं कि इस 'इदम् रजतम्' का 'रजत ज्ञानमीमांसीय रूप में अनिर्वचनीय है क्योंकि यह चतुष्कोटि से ऊपर है। यहाँ 'रजत' के बोध को यथार्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह परवर्ती ज्ञान के द्वारा खण्डित होता है। यह रजत अयथार्थ भी नहीं है क्योंकि अयथार्थ अथवा असत् किसी भी बोध को 'उत्पन्न नहीं कर सकता। पुन: इस रजत को एक ही साथ 'सत और असत्' दोनों होना संभव नहीं क्योंकि इससे व्याघात को दोष उत्पन्न होगा। पुन: यह 'न-सत् तथा न-असत्' भी नहीं हो सकता क्योंकि यह भी व्याघात ही है। इस प्रकार चतुष्कोटि से ऊपर होने के कारण रजत का यह बोध अनिवर्चनीय है।

इसी रूप में 'इदम्' का बोध भी यहाँ अनिर्वचनीय ही है क्योंकि वह भी चतुष्कोटि से ऊपर है। यह 'इदम्' आकाश कुसुम की भाँति असत् नहीं है क्योंकि यह अधिष्ठान रहित नहीं है। यह बोध सत् भी नहीं है क्योंकि यह 'विषय ज्ञान नहीं है। पुन: यह 'सत् और असत्' दोनों नहीं है क्योंकि इससे व्याघात उत्पन्न होगा तथा इसी कारण से यह 'न-सत और न-असत्' भी नहीं कहा जा सकता।

इस रूप में वेदान्त ज्ञानमीमांसा के अनुसार 'इदम् रजतम्' का ज्ञान 'अनिवर्चनीय है। पद्मपाद ने पंचपादिका में 'मिथ्यात्व' को 'अनिर्वचनीय' पद के द्वारा ही निरूपित किया है। इससे यह निष्कर्ष सहज प्रसूत है कि वेदान्त मत जिस बोध को 'अनिवर्चनीय- कहता है, वह बोध भी प्रकारान्तर से 'मिथ्या ही है। इस रूप में वेदान्त मतानुसार शुक्ति-रजत । का बोध भी मिथ्या है, किन्तु यह मिथ्यातत्व आकाश-कुसुम अथवा बंध्या-माता को त मिथ्या नहीं है।

6.9 आत्मख्यातिवाद

आत्मख्यातिवाद का यह मत बौद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्तिक एवं योगाचार सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित एवं समर्थित समझा जाता है। चूंकि वैभाषिक, सौत्रान्ति और योगाचार मत के सिद्धांतों में मूलभूत भेद है, अतएव शुक्ति-रजत विषयक इनके ज्ञान के विवेचन में भी भेद हैं। ऐसी स्थिति में इन मतों की ख्यातिविषयक अवधारणा का पृथक-पृथक विवेचन अपेक्षित है।

वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक मत - बौद्ध मत के ये दोनों सम्प्रदाय बाह्यार्थवादी है अर्थात् ये बाह्यार्थ की सत्ता में विश्वास करते हैं। दोनों मतों में भेद इस बात को लेकर है कि जहाँ वैमाषिक बाह्यार्थ की सत्ता को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानते हैं वहाँ सौत्रान्तिक मत के अनुसार बाह्यार्थ प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुमान का विषय है। इसीलिए वैभाषिक 'सर्वास्तिवादी' के नाम से विख्यात है तथा सौत्रान्तिक 'बाह्यार्थानुमेयवादी' कहे जाते हैं। इन दोनों ही मतों के अनुसार परमार्थ सत्ता तो

'स्वलक्षण है जो नामरूपरहित और क्षणभंगर है। यह स्वलक्षण अनुभूति में साक्षात् प्रदत्त है किन्तु नामरूपरहित होने के कारण 'रजत अथवा 'शुक्ति के रूप में ज्ञेय नहीं है। 'रजत' अथवा 'शुक्ति' तो मानसिक कल्पना मात्र है। इस प्रकार बौद्ध मत के अनुसार समस्त ज्ञान जो सविशेष और अभिव्यक्ति का विषय (निर्णय मूलक) है, मानसिक अथवा काल्पनिक ही है। चूंकि यह समस्त अभिलाप्य ज्ञान कल्पना युक्त है अतएव यह समस्त ज्ञान अप्रामाण्य भी है। यही बौद्धों का स्वत:अप्रामाण्यवाद है। इस मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अपनी उत्पत्ति और ज्ञाप्ति में अप्रामाण्य अथवा असत्य ही है किन्तु बाह्य कारणों से ज्ञान में उप्रमाणिकता की उत्पत्ति एवं ज्ञाप्ति होती है। इस प्रकार वैभाषिक और सौत्रान्तिक मतानुसार शुक्ति-रजत के ज्ञान में 'शुक्ति' भी असत्य है तथा रजत भी असत्य है। वस्तुत: बौद्ध मत के अनुसार शुक्ति और रजत दोनों ही कल्पना-रूप और मन का बाह्य प्रक्षेपण है।

नोट

यहाँ बौद्ध मत के सम्मुख यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि बालूका पर पड़ी शुक्ति के रजत-रूप बोध में यदि 'शुक्ति और रजत' दोनों को ही अयथार्थ कह दिया जाय तो 'शक्ति' अधिष्ठान में शुक्ति के ज्ञान तथा शुक्ति अधिष्ठान में रजत के ज्ञान में क्या भेद होगा? साधारणत: शुक्ति अधिष्ठान में शुक्ति के ज्ञान को यथार्थ ज्ञान समझा जाता है और शुक्ति अधिष्ठान में रजत के ज्ञान को अयथार्थ ज्ञान समझा जाता है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं कि बोध और बोध के विषय में कोई भेद नहीं होता। जिस क्षण बालूका पर शुक्ति का बोध होता है उस क्षण बोध का विषय शुक्ति है और जिस क्षण बालूका पर रजत का बोध होता है उस क्षण बोध का विषय रजत है। मन:प्रसूत होने के कारण ये दोनों ही ज्ञान कल्पनायुक्त हैं और कल्पना युक्त होने के कारण इसे स्वलक्षण अथवा यथार्थ का ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता हैं। किन्तु लोक-व्यवहार की दृष्टि से इनमें से एक ज्ञान यथा 'शुक्ति' को यथार्थ ज्ञान कहा जाता है तथा 'रजत' के ज्ञान के अयथार्थ कह दिया जाता है। यहाँ यथार्थ अयथार्थ का अंतर लोक व्यवहार के आधार पर किया गया है। यह लोक व्यवहार 'अर्थक्रियाकारित्व' से संचालित है। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार अर्थक्रियाकारी होने के कारण शुक्ति का ज्ञान संव्यवहारिक दृष्टि से यथार्थ है और रजत का ज्ञान अर्थक्रियाकारिक दृष्टि से अयथार्थ अथवा भ्रमात्मक है।

चूँकि वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों का यह मत भ्रम को मन:प्रसूत मानता है और यह मानता है कि भ्रम में ज्ञाता का मनस अथवा आत्म-तत्त्व ही रूपायित होता है, अतएव इस मत को 'आत्मख्यातिवाद' कहा जाता है।

योगाचार मत - वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत से भिन्न योगाचार मत विज्ञानवादियों का मत है जो बाह्यार्थ की सत्ता में विश्वास नहीं करते। योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञाप्तिमात्र ही सत्य है। इस प्रकार यह मत ज्ञान की वस्तुनिष्ठता का सर्वथा विरोध करता है। बौद्धों द्वारा समर्थित स्वत: अप्रामाण्यवाद का पक्ष लेते हुए योगाचार विज्ञानवाद भी प्रत्येक ज्ञान को अपने सहज स्वभाविक रूप में अप्रामाण्य अथवा अयथार्थ ही स्वीकार करता है।

योगाचार विज्ञानवाद बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध करते हुए कहता है कि मनस-रूप विज्ञान ही बाह्यवस्तु के रूप में सर्वत्र आख्यायित होता है। इस मत के अनुसार जहाँ रज्जु में सर्प का ज्ञान होता है वहाँ सर्प हमारे ज्ञान रूप में सत्य है किन्तु इदम्' अंश, जिसे हम बाह्यार्थ समझते हैं, वह असत्य है। इस विज्ञान रूप सर्प (अथवा रजत) का बाह्यार्थ 'इदम् में प्रक्षेपण ही भ्रम का कारण है।

यथार्थवादी बौद्धों से योगाचार मत का भेद - बौद्धों मत के सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय यथार्थवादी है जबकि योगाचार मत प्रत्ययवाद अथवा विज्ञानवाद का समर्थक है। इस बौद्ध यथार्थवाद और विज्ञानवाद में ज्ञान को लेकर इस बात की समानता है कि ये दोनों ही मत ज्ञान के अप्रामाण्य के स्वतस्त्व में विश्वास करते हैं तथा यह मानते हैं कि यथार्थ सत्ता मात्र स्वलक्षण ही है, जो अनभिलाप्य ज्ञान का विषय है और यह भी कि समस्त ज्ञान मनःप्रसूत है। तथापि 'भ्रमात्मक प्रत्यक्ष' को लेकर दोनों मतों में प्रमुख भेद यह है कि जहाँ यथार्थवादियों के मत में 'इदम् रजतम्' के बोध में 'इदम्' (बाह्यार्थ) यथार्थ है और रजतम् मनःप्रसूत अथवा काल्पनिक होने के कारण अयथार्थ है, वहाँ विज्ञानवादियों के मत में 'इदम्' (बाह्यार्थ) अयथार्थ है तथा रजत विज्ञानमात्र होने के कारण यथार्थ है। विज्ञानवाद के अनुसार 'इदम् रजतम्' में इदम् सर्वथा अयथार्थ है, मनःप्रसूत अथवा विज्ञानरूप होने के कारण रजतम् यथार्थ है किन्तु जब इस मानसिक अथवा विज्ञान रूप रजत का बाह्य 'इदम्' में प्रक्षेपण होता है तो 'इदम् रजतम् अयथार्थ हो जाता है।

6.10 असत्ख्यातिवाद

'ख्यातिपंचक' में इस मत का वर्णन मिलता है। यह मत शून्यतावादी बौद्धों का है। इस मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान में शून्यता अर्थात् निरावलम्ब ही भासित होता है। शुक्ति-रजत के ज्ञान में न तो 'शुक्ति' सत्य है, न 'रजत' सत्य है और न 'इदम्' सत्य है। इस सम्पूर्ण बोध में अभाव ही भाव-रूप भासित होता है। शुक्ति-रजत में जिस रजत का बोध ज्ञाता का होता है उसकी न तो बाह्य सत्ता है न मानसिक।

शून्यतावादियों के इस मत से कि शुक्ति-रजत के बोध में जिस 'रजत' का बोध होता है वह रजत असत् अथवा मिथ्या है-सामान्तः असहमत नहीं हुआ जा सकता, किन्तु नय्यायिकों ने असख्यातिवाद की इस धारणा के विरुद्ध गंभीर आपत्तियाँ प्रकट की हैं-

1. नैय्यायिक जयन्त भट्ट प्रश्न करते हैं कि 'असत्ख्याति' का अर्थ क्या है? क्या यहाँ 'असत्' का तात्पर्य किसी ऐसी वस्तु से है जो कहीं भी अस्तित्ववान नहीं है? अथवा, क्या यहाँ 'असत् का अर्थ किसी ऐसी वस्तु से है जो अन्यत्र (यथा स्मृति आदि में) अस्तित्ववान है? जयन्त भट्ट के अनुसार यदि असत् को पहले अर्थ में स्वीकार किया जाय तो प्रश्न है कि इस 'सर्वथा असत्' की धारणा कैसे बनती है? यदि यह असत् धारणाबद्ध है तो इस प्रकार कम-से-कम इसका मानसिक अथवा बौद्धिक अस्तित्त्व तो सिद्ध हो ही जाता है, फिर उसे 'असत्' क्यों कहा जाता है? पुनः, जयन्त भट्ट के अनुसार, यदि 'असत्' को दूसरे अर्थ में स्वीकार किया। तो असत्ख्यातिवाद विपरीतख्यादिवाद के समान होगा, अर्थात् असत्ख्यातिल जैसे ही यह स्वीकार करेगा कि भ्रम में भासित रजत अन्यत्र अस्तित्ववान है, उसके इस कथन का कोई अर्थ नहीं रहेगा कि भ्रम की वस्तु अथवा रजत 'असत्' है।

2. जयन्त भट्ट पूछते हैं कि यदि रजत की बाह्य अथवा आन्तरिक किसी प्रकार की सत्ता ही नहीं है तो वह भासित क्यों होता है? इस प्रश्न के उत्तर में यदि बौद्ध यह कहते हैं कि वह रजत अन्तर की वासना के कारण भासित होता है तो जयन्त भट्ट के अनुसार, इसमें तर्कदोष है क्योंकि वासना तो अर्थ अथवा विषय के संसर्ग से उपजती है, न कि विषय वासना के कारण अर्थ अथवा विषय उपजता है।

3. असत्ख्यातिवादी बौद्ध शुक्ति रजत के ज्ञान में शुक्ति और रजत दोनों को ही असत् कहते हैं। इससे भ्रम और यथार्थ का भेद खंडित होता है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से वैध प्रत्यक्ष और भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में भेद किया जाता है। इस रूप में ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से शुक्ति का प्रत्यक्ष वैध प्रत्यक्ष है और रजत का प्रत्यक्ष अवैध अथवा भ्रमात्मक प्रत्यक्ष है।

नोट

इस आपत्ति का उत्तर बौद्ध तत्त्वमीमांसा में ढूंढा जा सकता है। बौद्ध मतानुसार सत्य दो हैं-परमार्थ और संवृत्ति। पारमार्थिक दृष्टि से तो शुक्ति और रजत दोनों ही अयथार्थ अथवा असत् है किन्तु सांवृत्तिक अथवा लोक व्यवहार की दृष्टि से शुक्ति सत्य है और रजत भ्रम। रजत यहाँ भ्रमात्मक इसलिए है कि वह परवर्ती बोध द्वारा खंडित होता है। पुन: भ्रम में जिस रजत का प्रत्यक्ष होता है वह रजत अर्थक्रियाकारित्व रहित होने के कारण भी असत् है।

6.11 सख्यातिवाद

ख्यातिपंचक में सत्ख्यातिवाद का उल्लेख नहीं मिलता। कहीं-कहीं ख्यातिपचंक में बतलाए गए आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनीयख्याति को सम्मिलित रूप से 'सत्ख्यातिवाद' का नाम दे दिया जाता है, क्योंकि इन चारों मतों में बोध की विषयवस्तु ('इदम्' तथा 'रजतम्' दोनों ही) सत्य होती है। श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने जैन मत के ख्यातिविषयक सिद्धांत को सत्ख्यातिवाद का नाम दिया है। किन्तु इससे भिन्न कई विद्वान जैन मत को विवेकख्यातिवाद का समर्थक बतलाते हैं जिस मत को बोध की वस्तु (इदम् तथा रजत) को सत्य मानने के कारण 'सत्ख्यातिवाद' भी कहा जा सकता है। इससे भिन्नं कुछ विद्वान रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के मत को 'सत्ख्यातिवाद' का नाम देते हैं। प्रस्तुत विवेचन में सत्ख्यातिवाद के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत मत का ही विवेचन प्रस्तुत है।

विशिष्टाद्वैत मत-रामानुजाचार्य सम्प्रदाय के इस मत की आधारशिला यथार्थख्यातिवाद है जिसका प्रतिपादन दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में नाथमुनि ने अपने ग्रंथ 'तत्त्वाबिंदु' में किया तथा जिसका अनन्तर विकास नाथमुनि के पौत्र यमुनाचार्य ने दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में किया। ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में इस यथार्थख्यातिवाद की रक्षा करते हुए इसे 'सत्ख्यातिवाद' के रूप में विकसित किया। तदनन्तर तेरहवीं शताब्दी में यह मत सुदर्शन सूरी द्वारा श्रीभाष्य की टीका 'श्रृंत प्रकाशिका' में तथा आत्रेय रामानुज द्वारा 'न्याय कुलिश' में और भी पुष्ट किया गया। तेरहवीं शताब्दी में आचार्य व्यंकटनाथ अथवा वेदान्त देशिक ने' शतदूषणी, न्याय परिशुद्धि तत्त्वमुक्ताकल्प, सर्वार्थसिद्धि जैसे ग्रंथों में इस मत की विस्तृत विवेचना की। सत्रहवीं शताब्दी में श्रीनिवासाचार्य ने भी सख्यातिवाद की पुष्टि की।

सत्ख्यातिवाद के सिद्धांत को समझने के पूर्व रामानुजाचार्य की तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय अवध ारणाओं को ध्यान में रखना होगा। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म-मात्र ही सत्य है किन्तु जगत असत्य नहीं। यह जगत सच्चिदानन्द ब्रह्म का प्रकाश है। अपनी इस तत्त्वमीमांसीय अवधारणा के कारण रामानुजाचार्य प्रत्येक ज्ञान को सत्य और इस रूप में ज्ञान को स्वत: प्रामाण्य मानने के लिए तर्कबद्ध है। अपनी इसी तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय अवधारणा की रक्षा के लिए रामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान अर्थ की प्रकाशिका है और ज्ञान में जो अर्थ प्रकाशित होता है वह अर्थ सत्य है।

इस तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक बोध सत्य है और बोध की। विषय-वस्तु भी सदैव सत्य है।

रामानुजाचार्य की कठिनाई यही से प्रारंभ होती है कि यदि बोध और बोध की विषयवस्तु सदैव सत्य है तो बालूका पर पड़ी शुक्ति में जो रजत का बोध होता है उस बोध की ज्ञानमीमांसीय स्थिति क्या है? क्या शुक्ति में 'शुक्ति के बोध' और 'शुक्ति' में रजत के बोध' के कोई भेद नहीं? शब्दान्तर से, क्या यथार्थ ज्ञान और भ्रमात्मक ज्ञान में कोई भेद नहीं होता?

रामानुजाचार्य के अनुसार तत्त्वज्ञान की दृष्टि से किसी भी ज्ञान तथा किसी भी वस्तु का दूसरे ज्ञान अथवा दूसरी वस्तु से कोई भेद नहीं होता, किन्तु लोक-व्यवहार की दृष्टि से रामानुजाचार्य इन दोनों में भेद मानते हैं। दो ज्ञान के बीच का यह भेद एक ज्ञान को 'यथार्थ' और दूसरे के 'अयथार्थ होने का भेद नहीं है वरन् यह भेद 'व्यवहार गुण' का है। शुक्ति-रजत में जिस रजत का बोध होता है उस रजत का बाजार में कोई मूल्य नहीं होता है। अतः व्यवहार-गुण के अभाव में उस रजत को 'भ्रमात्मक' कर दिया जाता है। सख्यातिवाद के अनुसार, वस्तुतः शुक्ति-रजत के बोध में रजत-रूप वस्तु' भी सत्य है और 'रजत-रूप ज्ञान' भी सत्य है।

वस्तुतः रामानुजाचार्य का दर्शन एक अभेदवादी दर्शन है। इस अभेदवाद की स्थापना रामानुजाचार्य पंचीकरण के सिद्धांत के आधार पर करते हैं। पंचीकरण का सिद्धांत 'सर्वम् सर्वात्मकम' का सिद्धांत है, अर्थात् इस मत के अनुसार सभी वस्तुएँ सर्वत्र व्याप्त हैं। सभी वस्तुएँ पंचकरणों से निर्मित होने के कारण परस्पर एकसूत्र-बद्ध हैं और ब्रह्म की प्रकाशना होने के कारण सत्य भी हैं। अतएव, रामानुजाचार्य के अभेदवाद के अनुसार सत्य और असत्य, भ्रम और यथार्थ, पर और अपर के बीच कोई तात्विक अथवा प्रकारात्मक भेद नहीं। दृश्य जगत में जो प्रकारात्मक भेद दृष्टिगोचर होता है, वह भेद प्रकार का न होकर 'मात्रा' का है। शक्ति और रजत के बीच भी प्रकार-भेद नहीं। प्रकार की इस समानता के कारण ही शक्ति में रजत का ज्ञान उत्पन्न होता है। बालूका में जिस रजत का ज्ञान ज्ञाता को होता है वह रजत वस्तुतः प्रकार के अभेद के कारण अधिष्ठान रूप में शुक्ति में उपस्थित है। अतएव वहाँ रजत का बोध रजत के द्वारा ही उत्पन्न होने के कारण सत्य है।

इस प्रकार सत्ख्यातिवाद के अनुसार शुक्ति और रजत में कोई तात्त्विक भेद नहीं। तात्त्विक भेद के अभाव के कारण ही 'शुक्ति-रजत' के ज्ञान में शुक्ति भी सत्य है, रजत भी सत्य है और रजत का बोध भी सत्य है। इस प्रकार रामानुजाचार्य के अनुसार तथाकथित भ्रमात्मक और यथार्थज्ञान में प्रकारात्मक भेद न होकर मात्रात्मक भेद है, जो भेद परमार्थ न होकर संव्यावहारिक है।

सत्ख्यातिवाद के दोष – साख्यातिवाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत जाती हैं-

1. सख्यातिवाद भ्रम की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या न देकर तत्त्वमीमांसीय व्याख्या प्रस्तुत करता है, जबकि भ्रम एक बोधात्मक संप्रत्यय है अतएव इसकी ज्ञानमीमांसीय व्याख्या अपेक्षित है।

2. सख्यतिवाद रामानुजाचार्य की तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं पर आधारित है। स्पष्टतः रामानुजाचार्य की तत्त्वमीमांसा के जितने दोष हैं वे समस्त सत्ख्याति पर लागू हो जाते हैं।

3. तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत होने के कारण सत्ख्यातिवाद का आनुभविक सत्यापन संभव नहीं जबकि भ्रम अनुभूति की समस्या है, अतएव इसके सिद्धांतों को तब तक वैध नहीं माना जा सकता जब तक कि उन सिद्धांतों का आनुभविक सत्यापन संभव न हो।

4. रामानुजाचार्य के अनुसार ज्ञान सदैव सविकल्पक ही होता है। इस प्रकार सविकल्पक होने के कारण ज्ञान को निर्णयात्मक भी मानना होगा। पुनः रामानुजाचार्य के मत में प्रत्येक ज्ञान सत्य है। इस रूप में रामानुजाचार्य के मत से यह आपादित होता है कि प्रत्येक निर्णय सत्य है। प्रत्येक निर्णय सत्य है। -रामानुजाचार्य के मत का यह आपादान निर्णय की ज्ञानमीमांसीय परिभाषा में परिवर्तन की अपेक्षा जगाता है क्योंकि हम जानते हैं कि निर्णय का यह परिभाषिक लक्षण होता है कि निर्णय सत्य अथवा असत्य दोनों ही होता है।

नोट

6.12 सदासख्यातिवाद

ख्यातिपंचक में इस मत का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार सदासद्ख्यातिवाद के आधार पर सांख्य वस्तु के दृश्य स्वरूप की व्याख्या करते हैं। इस सांख्य मत के अनुसार बोध की जो वस्तु ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होती है वह वस्तु न तो पूर्णतः असत्य है न ही पूर्णतः सत्य है। सांख्य मतानुसार यथार्थ सत्ता तो प्रकृति तथा पुरुष की है। समस्त ज्ञान बुद्धि का विकार है जो बुद्धि अथवा महत् प्रकृति का रूपान्तरण अथवा विकार है। इस प्रकार समस्त ज्ञान अथवा बोध प्रकृति का रूपान्तरण है। चूंकि प्रकृति की तात्त्विक सत्ता है अतएव ज्ञाता की चेतना में जिस बोध का उदय होता है वह बोध बुद्धि का विकार होने के नाते असत् नहीं है किन्तु इस बोध अथवा बोध के विषय को पूर्णतः 'सत्य' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह परमार्थतः सत्य नहीं।

ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के स्वतस्त्व की स्थापना करते हैं। वह स्वतस्त्ववाद सांख्य के सत्कार्यवाद की अनिवार्य परिणति है। सांख्य सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में उपस्थित रहता है। इस प्रकार ज्ञान का प्रमाण्य भी स्वतः ज्ञान में ही स्थित है, अन्यत्र नहीं। इस स्वतः प्रामाण्यवाद की एक अनिवार्य परिणति यह तार्किक बाध्यता है कि यदि ज्ञान 'स्वतः प्रामाण्य' है तो ज्ञान स्वभावतः सत्य भी होगा। इस प्रकार सांख्य प्रत्येक ज्ञान को सत्य मानने के लिए विवश है किन्तु, जैसा कि हम देख आए हैं, प्रत्येक स्वतः प्रामाण्यवादी के सम्मुख भ्रम की समस्या आ खड़ी होती है क्योंकि यदि समस्त ज्ञान सत्य ही है तो भ्रम क्या है? क्या भ्रम की स्थिति 'सत्य ज्ञान की है? यदि भ्रम 'सत्य ज्ञान' है तो इससे वैध प्रत्यक्ष तथा अवैध प्रत्यक्ष का भेद नष्ट होता है और यदि भ्रम 'असत्य ज्ञान है तो इससे स्वतःप्रामाण्यवाद भी खंडित होता है?

इस द्विविधा से बचने के लिए सांख्य भ्रम का न तो 'सत्य ज्ञान' कहते हैं न 'असत्य ज्ञान' ही कहते हैं, वरन् सांख्य मतानुसार भ्रम अपूर्ण ज्ञान है। भ्रम में बोध की विषय-वस्तु यथा रजत् उपस्थित भी होता है और उपस्थित नहीं भी होता है। एक ही प्रकृति का विकार होने के कारण शुक्ति के रूप में रजत वहाँ उपस्थित है, किन्तु रजत और शुक्ति में प्रकार का भेद भी है अतएव रजत वहाँ अनुपस्थित भी है। इस रूप में यहाँ रजत सत् और असत् दोनों है क्योंकि यह रजत यहाँ उपस्थिति और अनुपस्थिति का सम्मिश्रण है।

इससे ही 'सदासख्यातिवाद' (सत् + असत् + ख्याति + वाद) का नाम दिया जाता है।

सदासद्ख्यातिवाद के दोष - सदासख्यातिवाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं-

1. सदासख्यातिवाद भ्रम की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या प्रस्तुत करता है जबकि भ्रम एक ज्ञानमीमांसीय

संप्रत्यय है। अतएव इस व्याख्या को वैध नहीं कहा जा सकता।

2ण तत्त्वमीमांसीय व्याख्या होने के कारण इस सिद्धांत का आनुभविक सत्यापन संभव नहीं है जबकि भ्रम आनुभविक घटना है। अत: यह सिद्धांत समीचीन नहीं।

नोट

3. यह ज्ञान भ्रम को सत् और असत् दोनों ही कहता है। एक ही वस्तु को सत् और असत् दोनों कहने से व्याघात के नियम का उल्लघंन होता है जो एक तार्किक दोष है।

4. यह सिद्धांत सांख्यों की तत्त्वमीमांसीय गवेषणाओं पर आधारित है अतएव सांख्य तत्त्वमीमांसा के समस्त दोष, यथा विकासवाद विषयक प्रश्न, सत्कार्यवाद विषयक प्रश्न, प्रामाण्यवाद विषयक प्रश्न, प्रकृति के स्वरूप विषयक प्रश्न आदि समस्त आक्षेप इस सिद्धांत के विरुद्ध खड़े किये जा सकते हैं।

उपसहांर

भारतीय दर्शन में यद्यपि ख्याति (भ्रम) के अनेक सिद्धांत है तथापि पाँच ख्याति के सिद्धांत महत्वपूण र्ि है। अद्वैतवेदांत के प्राचीन ग्रंथों में अनिर्वचनीय ख्याति सहित पंचख्याति का उल्लेख है। ये पाँच ख्याति के सिद्धांत निम्नलिखित है। यहाँ इन सिद्धांतों का परिचय मात्र करवाता रहा है। इनका विस्तृत वर्णन अग्रिम इकाई में किया जाएगा। उन ख्यातियों के नाम है –

''आत्मख्यातिरसत्यातिरख्याति: ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरेतत्ख्याति पंचकम्''।।

1. आत्मख्याति – यह विज्ञानवादी बौद्धों का मत है। आत्मा शब्द का यहाँ पर विज्ञान अर्थ है। बौद्धविज्ञानवाद के अनुसार, विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है। हम जो कुछ भी देखते हैं वे चित्तमात्र है, बाह्यरूप में असत् है, विज्ञानवादी इसलिये आत्मख्यातिवादी है।

2. असत्ख्याति – यह शून्यवादी बौद्धों का मत है। असत् से आशय है सत्ता का अभाव। शून्यवादी के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान तीनों ही असत् है। क्योंकि एकमात्र सत् तत्त्व शून्य है वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है – १. न सत्, २. न असत्, ३. न उभयात्मक (सत् एवं असत् दोनों), ४. न अनुभयात्मक (न सत् एवं न असत् दोनों)। अत: यहाँ जो भ्रम है वह असत् है इसलिए इस ख्याति को असत्ख्याति कहते हैं।

3. अख्याति – यह प्रभाकर मीमांसको का मत है। यहाँ अख्याति को भ्रम कहा जाता है। कथन का अभिप्राय यह है किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रूप में भासित होने पर दोनों के मध्य जो भेद है, उसकी ख्याति ना हो पाना। इसलिए इस सिद्धांत को अख्याति कहते है। जैसे शुक्ति जब रजत के रूप में भासित होती है तो दोनों के मध्य (प्रत्यक्ष – शुक्ति तथा स्मृति – रजत) भेद का ज्ञान न हो पाता तभी तो भ्रम होता है।

4. अन्यथाख्याति – यह न्याय का मत है नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति द्वारा की है। शुक्ति का अन्यथा अन्य रूप में रजत में भावित होना। उनके अनुसार भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है।

5. अनिर्वचनीयख्याति – यह अद्वैतवेदांत का मत है। यह सिद्धांत सभी ख्याति के सिद्धांतों में सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित है। इस सिद्धांत के अनुसार न तो भ्रम असत् है क्योंकि असत् वस्तु का वस्तु का कभी भ्रम नहीं होता जैसे आकाशपुष्प या वन्ध्या का पुत्र। ना ही भ्रम सत् है क्योंकि जब रस्सी को

देखकर हमें सर्प का भ्रम होता है। उसके उपरांत जब हम रस्सी का स्पर्श कर लेते हैं तो सर्प का भ्रम समाप्त हो जाता है। इस प्रकार भ्रम उत्तरज्ञान से बाधित होता है अतः सत् भी नहीं। भ्रम सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है। अतः इस सिद्धांत को अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते हैं।

ख्यातिवाद के अन्य प्रमुख सिद्धांत

यद्यपि पंचख्याति में प्रमुख ख्याति के सिद्धांत सम्मिलित हो जाते है तथापि अन्य कई विद्वानों ने पंचख्याति के साथ-साथ अन्य सिद्धांतों का उल्लेख किया है। इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्ममुनि ने इष्टसिद्धि में संक्षेपतः ख्याति तीन ही प्रकार की बतलाई है -

1. सत्ख्याति
2. असत्ख्याति
3. सदसदनिर्वचनीय ख्याति

भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में अष्टख्यातियों का उल्लेख किया है -

1. अख्याति-निरालम्बन ख्याति ही अख्याति है (माध्यमिका)
2. असत्ख्याति - असदवलम्बन ख्याति असत्ख्याति है (माध्यमिक एकदेशी)
3. प्रसिद्धार्थख्याति - (चार्वाक)
4. अलौकिकार्थख्याति (भट्टोम्बेक प्रमुख)
5. स्मृतिविप्रमोषख्याति (प्राभाकर)
6. आत्मख्याति (सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार)
7. सदसत्वाद्यनिर्वचनीय ख्याति - (अद्वैतवेदान्ती)
8. विपरीतख्याति (न्याय)

परवर्ती काल में रामानुज सम्प्रदाय का सत्ख्यातिवाद, माध्व का असत्ख्यातिवाद (इसे साधिष्ठानक असत्ख्यातिवाद कहा गया है) प्रसिद्ध हुये हैं। साङ्ख्यदर्शन द्वारा सदसत्ख्याति स्वीकृत है।

भासर्वज्ञ ने निरालम्बन अख्याति की चर्चा की है जो कि अन्यत्र चर्चित नहीं है। भासर्वज्ञ ने उक्त मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए कहा है कि मरुस्थल में जल-ज्ञान में जल की सत्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जल का ग्रहण होना चाहिए। मरीचि भी जल का रूप धारण नहीं करती, क्योंकि वे उससे भिन्न है। अतः निरालम्बन ही मरुस्थल जल है। इसी प्रकार चार्वाक के प्रसिद्धार्थ ख्याति में भ्रम माना ही नहीं गया, क्योंकि उनके अनुसार भ्रमस्थल में भी तत्कालीन प्रमाणसिद्ध वस्तु की ही प्रतीति होती है। इन दोनों ख्यातिवादों के खंडन में उन्होंनें युक्तियां भी दी हैं। इस प्रकार नच ख्यातिवादों की भ्रमस्थल में चर्चा मिलती है, परंतु इनमें से अद्वैतग्रंथों में पंचख्यातियों की ही अधिक चर्चा है परंतु यहाँ पंचख्याति के अतिरिक्त अन्यथाख्याति-न्यायदर्शनाभिमत, विपरीतख्याति-कुमारिल भट्टाभिमत, सदसद्ख्याति-सांख्याभिमत और सत्ख्याति-रामानुजाभिमत की भी चर्चा आधारिक पृष्ठभूमि तथा उपादेयता को ध्यान में रखकर की जा रही है।

6.13 ख्यातिवाद की समीक्षा

उपर्युक्त दार्शनिक मत, जिनके ख्यातिवाद की हमने विवेचना की है, तीन प्रकार के हैं – १. वस्तुवाद २. विज्ञानवाद ३ अनिर्वचनीयवाद। वस्तुवाद का मूल सिद्धांत है कि जगत् की सभी वस्तुऐं सत् है और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर ज्ञान उत्पन्न करती है। विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान सत् है, पदार्थ या वस्तुऐं असत् है और ज्ञान ही अर्थ का आकार लेकर बहिर्वत् प्रतीत होता है। अनिवर्चनीयवाद के अनुसार बुद्धिग्राह्य समस्त पदार्थ जीव और जगत्, सापेक्ष तथा सदसदर्चनीय है, व्यवहार में इनकी सत्ता है किंतु परमार्थतः ये सब मिथ्या है। वस्तुवाद व्यवहार और परमार्थ का भेद नहीं मानता क्योकिं उनके लिए व्यवहार ही परमार्थ है। विज्ञानवाद परमार्थ और व्यवहार दोनों में विज्ञानवाद है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद परमार्थ में विज्ञानवाद और व्यवहार में वस्तुवाद है।

वस्तुवादियों के ख्यातिवाद के दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो जो भ्रम को अज्ञान या अपूर्ण ज्ञान मानते है इसमें प्रभाकर की अख्याति तथा प्राचीन सांख्य एवं रामानुज की सत्ख्याति को सम्मिलित किया जाता है दूसरे में वे जो भ्रम को अन्यथाज्ञान या मिथ्याज्ञान मानते हैं। इनमें न्याय की अन्यथाख्याति, कुमारिल की विपरीतख्याति सम्मिल्लित है। बौद्ध विज्ञानवाद की विज्ञानख्याति है। अनिर्वचनीयवाद में शून्यवाद की शून्यताख्याति और अद्वैतवेदांत की अनिर्वचनीयख्याति आती है।

भ्रम को अपूर्ण या अज्ञानमात्र नहीं माना जा सकता। भ्रम अध्यास है और अन्यथाज्ञान है। भ्रम में दो ज्ञान और उसके विषय अलग अलग नहीं रहते। भ्रम में दोनों ज्ञान मिलकर एक बन जाते है और एक ही ज्ञान रहता है। यदि भ्रम में दोनों ज्ञान अलग अलग और आंशिक रूप में रहते है तो ज्ञान होने के कारण इन दोनों के भेद का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि एक ज्ञान दृश्यमान (शुक्ति) वस्तु का और दूसरा ज्ञान स्मर्यमाण (रजत) वस्तु का है तो स्मर्यमाण वस्तु का ज्ञान स्मृति के रूप में रूप में होने चाहिए तथा स्मृति का प्रमोष या विस्मृति होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तब ज्ञान इस प्रकार का होगा इस पदार्थ (शुक्ति) की सफेदी और चमक को देखकर पूर्वदृष्ट रजत की स्मृति हो रही है। किंतु यह तो भ्रम नहीं हुआ। भ्रम में ज्ञान इस प्रकार है – यह रजत है अर्थात् रजत की स्मृति नहीं प्रत्यक्ष है। जो वस्तु भ्रम को मिथ्याज्ञान या अन्यथाज्ञान मानते हैं वे कम से कम भ्रम के विषय में अपने वस्तुवाद को तिलांजलि दे देते हैं। न्याय की ज्ञानलक्षण नामक प्रत्यक्ष की कल्पना अलौकिक प्रत्यक्ष की कल्पना मात्र है। भ्रम में इंद्रिय सन्निकर्ष शुक्ति से हो रहा है और ज्ञान रजत का हो रहा है। इससे वस्तुवाद का मूल सिद्धांत ही नष्ट हो जाता है कि सब ज्ञान यथार्थ होता है एवं वस्तु द्वारा उत्पन्न होता है। वस्तुवाद का यह कथन कि दोनों वस्तुऐं अलग अलग सत्य है, केवल उनका संबंध मिथ्या है, सही नहीं है क्योंकि भ्रम में प्रश्न अन्यत्र स्थित पूर्वदृष्ट रजत का नहीं है, अपितु प्रतीयमान रजत का है और यह रजत संबंध से ही नहीं अपितु स्वरूप से भी मिथ्या है क्योंकि इस रजत का बाध होता है। विज्ञानवाद की विज्ञानख्याति भी दोषपूर्ण है। व्यवहार में भी विज्ञानवाद को स्वीकार करना सारे व्यवहार का व्यर्थ में निषेध करना है। विज्ञानवाद ने अध्यस्त पदार्थ (रजत) के द्रव्य के आकार द्रव्य और आकार में भेद करके द्रव्य को अर्थात् रजत पदार्थ को नितांत असत् तथा उसके आकार को अर्थात् अर्थाकार विज्ञान को सत् माना है। किंतु किसी पदार्थ के द्रव्य और आकार अविभाज्य रूप से संयुक्त रहते है जिनका विभाग असंभव है। भ्रम में पदार्थ की प्रतीती होती है, उसके आकार की नहीं। भ्रम में रजत पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है रजताकार विज्ञान का नहीं और जब रजत का बाध होता है तो उसके साथ ही रजताकार विज्ञान का भी बाध हो जाता है। विज्ञानख्याति नितांत असंगत एवं निरर्थक कल्पना है। जो व्यर्थ में व्यवहार का निषेध

करती है। ख्यातिवाद में अनिर्वचनीयख्यातिवाद ही भ्रम का संतोषजनक विश्लेषण करती है तथा व्यवहार एवं परमार्थ दोनों का निर्वाह करती है।

6.14 सारांश

आत्मख्याति विज्ञानादी बौद्धों का मत है। यद्यपि विज्ञानवादी आत्मतत्व को न मानकर विज्ञान नामक तत्व को मानते हैं अतः इस मत को विज्ञानख्याति भी कहते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यपदार्थ शशश्रृंग और खपुष्प के समान अत्यंत असत् है। विज्ञान ही बाह्य पदार्थों का आकार लेकर बहिर्वत प्रतीत होते हैं। न्यायमकरन्द ग्रंथ के प्रणेता आनंदबोध विज्ञानवादी बौद्धों के आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुये आनंदबोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं। विवरणप्रमेय नामक ग्रंथ के प्रणेता विद्यारण्यमुनि ने भ्रमस्थल में विज्ञानवादी के दृष्टिकोण को कि 'शुक्तिरजत विज्ञान रूप है', अनुमान द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। अनुमान इस प्रकार है – विमतरजत बुद्धि का रूप है, क्योंकि यह इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होता है, जैसा कि बुद्धि।' जिस प्रकार बुद्धि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियसन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि बुद्धि का मानस प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार शुक्तिरजत भी बुद्धिरूप होने के कारण इन्द्रियसन्निकर्षनिरपेक्ष होकर प्रत्यक्ष होता है, अतः वह बुद्धि या विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वदर्शन नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के प्रणेता माधवाचार्य शंका करते हैं कि विज्ञानवाद के अनुसार सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और आलम्बन प्रत्यय इन चार प्रकार के हेतुओं से ही चित्त–चैत्यों की उत्पत्ति होती है। इसमें से सहकारी प्रत्यय आलोकादि से रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि आलोकादि तो स्पष्टता के प्रति हेतु होते हैं। अधिपति प्रत्यय चक्षुरादि विषय नियमन में हेतु है, न कि उत्पन्न करने में। इस प्रकार विज्ञानवादियों ने अपने आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत किया है। शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों का सिद्धांत असतख्याति कहलाता है। असत् का असत् के रूप में भासित होने के कारण यह सिद्धांत असतख्यातिवाद कहलाता है। जैसे रस्सी जब सर्प के रूप में भासित होती है तो असत् रस्सी ही असत् सर्प के रूप भासित होती है।

मीमांसक प्रभाकर गुरु के मत में ख्यातिवाद को अख्याति के नाम से जाना जाता है। अख्याति मीमांसक प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। शालिकनाथ ने प्रकरणपंजिका में प्रभाकर मत के ज्ञान के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि सभी ज्ञान यथार्थ है। मीमांसक प्रभाकर गुरु कट्टर वस्तुवादी है। वे स्पष्ट स्वीकार करते है अयथार्थ या मिथ्याज्ञान के रूप में भ्रम संभव ही नहीं है। जिसे हम भ्रम कहते है वह आंशिक या अपूण ा ज्ञान है। सारा ज्ञान यथार्थ होता है किंतु सारा ज्ञान पूर्ण नहीं होता। अतः प्रमा तथा भ्रम का भेद तात्विक नहीं अपितु मात्रा भेद है। प्रमा समग्र ज्ञान एवं भ्रम आंशिक ज्ञान है। शालिकनाथ ने प्रकरण ापंजिका में प्रभाकर मत के ज्ञान के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि सभी ज्ञान यथार्थ है। अतः इस सिद्धांत के अनुसार ''इदं रजतम्'' इसके पश्चात् जो 'नेदं रजतम्'' ज्ञान होता है यहां पर भी न तो ''इदम्'' तत्त्व का निषेध होता, न ही रजतम् का निषेध होता है। अपितु रजत के साथ इदं के असंबंध के ज्ञान न होने के कारण या दोनों मध्य भेद ज्ञान न हो पाने के कारण ''यह रजत है'', इस प्रकार शब्दादि प्रयोग रूप व्यवहार का ही प्रतिषेध होता है। भ्रम के प्राभाकरसंमत स्वरूप

नोट

का विवेचन करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है – ''यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबंधनों भ्रम इति।'' अर्थात् जिस वस्तु में जिस वस्तु का भ्रम या अध्यास है, उन दोनों वस्तुओं में जो परस्पर भेद है, उसका अग्रहण ही भ्रम है। भेद–अग्रहण के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता हहै। दोनों वस्तुओं के भेद को भूलकर ही ''इदं रजतम्' दोनों को मिलाकर भाषा व्यवहार करते हैं, यह भ्रम है। ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर पहले चक्षु से शुक्ति संयोग होता है परंतु नेत्रगत दोष के कारण शुक्तिकात्व विशेष से रहित केवल शुक्ति रुप द्रव्य या सामान्य ज्ञान का ही ग्रहण होता है इसके बाद चाकचिक्य के सादृश्य के कारण रजत का स्मरण होता है यहाँ मनोदोष या स्मृति दोष के कारण केवल रजत के गुण (चाकचिक्य या चमकीलापन) का ग्रहण होता है फिर इनके मध्य भेद का ज्ञान न हो पाने के कारण शुक्ति में रजत का भ्रम होकर वह ''इदं रजतम्'' इस प्रकार का व्यवहार होता है। इस प्रकार भ्रम को न्यायदर्शन में विपर्यय कहा है, विपर्यय का लक्षण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है – ''मिथ्याध्यवसायो विपर्यय:।'' अर्थात् विपरीतार्थ निश्चय या जो जहां पर नहीं वहां उसको समझना ही विपर्यय है। नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति द्वारा की है। शुक्ति का अन्यथा अर्थात् अन्य रूप में रजत में भासित होना। पूर्वदृष्ट वस्तु (रजत) की स्मृति में पहले उस वस्तु के साथ मन का संयोग होता है तत्पश्चात इस सम्बद्धयुक्त मन के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ संयोग होता है। इस प्रकार स्मर्यमाणवस्तु का इन्द्रिय से संयोग परम्परया होता है इसको न्याय के अनुसार ''स्वसंयुक्त मनोजन्यस्मृतिविषयत्वरूप'' संबंध कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान लक्षणा प्रत्यक्ष द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से इदं रजतम् स्थल पर सुरभिचन्दनम् के ज्ञान के समान स्मर्यमाण रजत संयुक्त मन और मन संयुक्त चक्षु इन्द्रिय से रजत का प्रत्यक्ष हो जाता है। नैयायिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष आवश्यक है। विशिष्टज्ञान का विशेष्य 'इदम्' और विशेषण 'रजतम्' तथा दोनों के संबंध को वैशिष्ट्य एवं उक्त ज्ञान को विशिष्टज्ञान कहा जाता है, अर्थात् 'इदं रजतम्' में रजतप्रकारक इदं–विशेष्यक विशिष्ट ज्ञान है। यह विपर्यय इसलिए है क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहा गया है। यथार्थ ज्ञान का अर्थ है 'तद्वति तत्प्रकारक ज्ञान, अर्थात् यथार्थ रजत में 'इदं रजतम्' का ज्ञान, क्योंकि इसमें रजत विशेष्य में रजतत्ववाला रजत का ज्ञान होता है, किंतु भ्रमस्थल में रजताभाववति शुक्ति में रजतत्ववाला ज्ञान होता है; इसलिये यह भ्रम है। 'तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान' को अयथार्थ या भ्रम ज्ञान कहा है।

विज्ञानवाद की विज्ञानख्याति भी दोषपूर्ण है। व्यवहार में भी विज्ञानवाद को स्वीकार करना सारे व्यवहार का व्यर्थ में निषेध करना है। विज्ञानवाद ने अध्यस्त पदार्थ (रजत) के द्रव्य के आकार द्रव्य और आकार में भेद करके द्रव्य को अर्थात् रजत पदार्थ को नितांत असत् तथा उसके आकार को अर्थात् अर्थाकार विज्ञान को सत् माना है। किंतु किसी पदार्थ के द्रव्य और आकार अविभाज्य रूप से संयुक्त रहते है जिनका विभाग असंभव है। भ्रम में पदार्थ की प्रतीती होती है, उसके आकार की नहीं। भ्रम में रजत पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है रजताकार विज्ञान का नहीं और जब रजत का बाध होता है तो उसके साथ ही रजताकार विज्ञान का भी बाध हो जाता है। विज्ञानख्याति नितांत असंगत एवं निरर्थक कल्पना है। जो व्यर्थ में व्यवहार का निषेध करती है। ख्यातिवाद में अनिर्वचनीयख्यातिवाद ही भ्रम का संतोषजनक विश्लेषण करती है तथा व्यवहार एवं परमार्थ दोनों का निर्वाह करती है।

6.15 अभ्यास प्रश्न

नोट

1. ख्याति किसे कहते हैं?
2. पंचख्याति के सिद्धांत कौन कौन से हैं?
3. भासर्वज्ञ द्वारा उल्लेखित सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए?
4. क्या विज्ञानख्याति ख्याति का श्रेष्ठ सिद्धांत हो सकती है? सकारण स्पष्ट कीजिए?
5. अख्याति एवं विपरीयख्याति में क्या अंतर है?
6. अनिर्वचनीयख्याति वाद को स्पष्ट कीजिए?
7. पंचख्याति के पाँचों सिद्धांतों का परिचय दीजिए?
8. ख्यातिवाद के विविध सिद्धांतों का वर्णन करते हुए स्पष्ट कीजिए कि कौन सा सिद्धांत सर्वथा निर्विवाद सिद्धांत है तथा क्यों?

6.16 संदर्भ ग्रंथ

- ज्ञान का सिद्धांत, सतीशचंद्र चटर्जी, कलकत्ता, 1965
- ज्ञान के छह तरीके, डी. एम. दत्ता, कलकत्ता, 1960
- भारतीय ज्ञानमीमांसा, नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
- ज्ञान की अवधारणा, देवव्रत सेन, कलकत्ता

नोट

इकाई–7

उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि

संरचना (Structure)

7.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे :

- उपमान के बारे में चर्चा करने में;
- अर्थापत्ति को जानेंगे;
- अनुपलब्धि पर चर्चा करने में।

7.2 परिचय

भारतीय दर्शन में ज्ञान के जो छः साधन सर्वाधिक खंडन-मंडन युक्त है उनमें से एक उपमान भी है। व्युत्पत्ति के आधार पर उपमा अथवा 'सादृश्य' के द्वारा प्राप्त ज्ञान को उपमान कहा जाता है। दो वस्तुओं में जब सादृश्य का संबंध हो तो उस सादृश्य बोध से भी कुछ ज्ञान प्राप्त किए जाते हैं। उसी सादृश्य-बोध से प्राप्त एक विशेष प्रकार के ज्ञान को 'उपमान' कहते हैं। यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि सादृश्य के आधार पर प्राप्त ज्ञान अनेक प्रकार के होते हैं। सादृश्य का बोध बहुधा प्रत्यक्ष के द्वारा भी होता है, जैसे कोई व्यक्ति 'क' देवदत्त नामक किसी व्यक्ति को जानता है, तथा देवदत्त को देखकर उसके विषय में भी जानता है कि वह गोरे रंग का, लम्बा, पच्चीस वर्ष का युवक है, उसकी कृति ऐसी-ऐसी है आदि। पुनः वही व्यवित 'क' जब किसी अन्य स्थान पर देवदत्त को देखता है और पहचान लेता है कि यह वहीं देवदत्त है तो 'क' का यह ज्ञान कि 'यह वही देवदत्त

है प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है, यद्यपि यह भी एक प्रकार का सादृश्य बोध ही है। अतएव, सादृश्य-बोध उपमान के अतिरिक्त अन्य साधनों, यथा प्रत्यक्षादि से भी होता है। दूसरे शब्दों में, सादृश्य के आध ार पर प्राप्त प्रत्येक ज्ञान को उपमान नहीं कहते हैं। उपमान एक विशेष प्रकार का सादृश्य-बोध है, जैसे मान लें कि किसी व्यक्ति 'क' ने 'गवय' कभी नहीं देखी किन्तु दूसरे लोगों से उसने सुन रखा है कि 'गवय' गौ के समान होती है। अब, यदि 'क' जंगल में जाता है और वहाँ उसे गौ के समान कोई प्राणी दिखता है तब इस गौ के समान प्राणी को देखकर पहले से कभी नहीं देखे गये गवय को यदि वह पूर्वकाल में देखी गई गौ से समानता के आधार पर पहचान लेता है अथवा उसे यदि यह बोध होता है कि मेरी गौ इस गवय के समान है तो इस प्रकार का सादृश्य-बोध उपमान की कोटि में आता है। इस प्रकार 'उपमान' सादृश्य के ज्ञान का एक साधन है, यद्यपि सादृश्य-बोध उपमान के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी संभव है।

नोट

भारतीय दर्शन में न्याय, मीमांसा और वेदान्त उपमान को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकृत करते हैं किन्तु अन्य मत उपमान को ज्ञान का स्वतंत्र साधन नहीं मानते। वैशेषिक मत के आचार्य प्रशस्तपाद उपमान को एक प्रकार का अनुमान कहते हैं। जैसा कि सर्वज्ञात है, चार्वाक भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण को स्वीकार नहीं करतो सामान्यत: जैन भी उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञा में करते हैं। बौद्ध भी उपमान को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते। बौद्ध मतानुसार ज्ञान के साधन (प्रमाण) मात्र दो ही है- प्रत्यक्ष तथा अनुमान। इनमें स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है तथा स्वलक्षण के अतिरिक्त अन्य विषयों का ज्ञान अनुमान से होता है। अत: बौद्ध भी उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में ही करते हैं। सांख्य-योग उपमान अथवा सादृश्यमुलक समस्त ज्ञान को शब्द और प्रत्यभिज्ञा का मिला-जुला रूप कहते हैं। कछ अन्य दार्शनिक उपमान को प्रत्यक्ष और स्मृति का मिला हुआ रूप कहते हैं।

7.3 उपमान का स्वरूप

जैसा कि हम ऊपर कह आए है, न्याय, मीमांसा और वेदान्त उपमान को ज्ञान का स्वतंत्र साधन कहते है। किन्तु उपमान की रूपरेखा के विषय में न्याय तथा वेदान्त मत में पर्याप्त मतभेद है। उपमान के विषय में मीमांसकों का मत वेदान्त मत से समानता रखता है।

उपमान विषयक वेदान्त मत

वेदान्त परिभाषा के अनुसार सादृश्य ज्ञान के उपकरण को उपमान कहते है। उदाहरणार्थ जिस व्यक्ति ने नगर में गौ को देख रखा हो किन्तु गवय को कभी नहीं देखा हो, जब वन में जाकर गवय को देखता है तो उसके भीतर दो प्रकार के बोध उत्पन्न होते है- प्रथमत: यह कि ''यह गवय गौ के समान है'' (गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञान), तथा द्वितीयत: यह कि मेरी गौ इस गवय के समान है'' (गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञान)। समानता के के इन दो बोधों में प्रथम सादृश्य बोध कि ''यह गवय गौ के समान है'' के ज्ञान का करण (साधन) 'अनुमान प्रमाण' है तथा द्वितीय सादृश्य-बोध कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है' उपमान अथवा 'उपमिति' है। वेदान्त परिभाषा के अनुसार गवयनिष्ठ गोसादृश्य ज्ञान को कारण कर गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान उपमान है।

सांख्य मतावलम्बी उपमान विषयक वेदान्तियों के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि

गो और गवय के बीच का यह सादृश्य बोध प्रत्यक्ष से होता है, उपमान से नहीं। अपने मत को स्पष्ट करते हुए सांख्य कहते हैं कि 'मेरी गो इस गवय के समान है' यह ज्ञान अरण्य में गवय को देखकर उत्पन्न हुआ है। अत: यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। सांख्य सामान्यत: उपमान की व्याख्या प्रत्यक्ष और स्मृति के संयोग से उत्पन्न ज्ञान के रूप में करते हैं। सांख्य मत के अनुसार मेरी गौ इस गवय के समान है-यह ज्ञान वन में गवय को देखकर अपने घर में देखी गई अपनी गौ की स्मृति के आधार पर हुआ सादृश्य बोध है। अतएव सांख्य मतानुसार उपमान प्रत्यक्ष और स्मृति का सम्मिलित रूप है।

किन्तु सांख्यों की इस प्रतिस्थापना में दोष है। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षेतर समस्त ज्ञान में एक महत्त्वपूण ी भेद यह है कि प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष के विषय और ज्ञान के विषय दोनों एक ही होते हैं जबकि प्रत्यक्षेतर समस्त ज्ञान में प्रत्यक्ष और ज्ञान के विषय अलग-अलग होते हैं। ऊपर के उदाहरण में जब व्यक्ति 'क' वन में गवय को देखकर यह ज्ञान प्राप्त करता है कि मेरी गो उस गवय के समान है तो यहाँ 'क' के प्रत्यक्ष का विषय 'गवय' है या 'क' गवय को देख रहा होता है, जबकि 'क' के ज्ञान का विषय गवय और गो का 'साम्य' है।

इस प्रकार वेदान्त मतानुसार विषय-वस्तु के आधार पर प्रत्यक्ष और उपमान का भेद स्पष्ट होता है। वेदान्त मतानुसार यद्यपि कुछ स्थितियों में साम्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा भी होता है। जैसे पूर्वकाल में देखे गए देवदत्त को पुन: देखकर यह साम्य बोध कि ''सोऽयं देवदत्त:'' (यह वही देवदत्त है), एक प्रकार का सविकल्पक प्रत्यक्ष है।

नैय्यायिक, जो उपमान को वेदान्तियों की ही भाँति जान का स्वतंत्र साधन मानते हैं। उपमान संबंधी वेदान्त मत की आलोचना करते हैं। न्याय मतानुसार यह तो सत्य है कि उपमान सादृश्यज्ञान का साधन है किन्तु वेदान्ती उपमान की जो व्याख्या करते हैं उस व्याख्या पर आपत्ति करते हुए नैय्यायिक कहते हैं कि वेदान्त द्वारा दिए गए उदाहरण से साम्य-बोध संभव नहीं क्योंकि साम्य-बोध सदैव दो ज्ञात वस्तुओं के बीच ही संभव है जबकि वेदान्त द्वारा दिए गए उदाहरण में गौ तो पूर्वज्ञात रहती है किन्तु गवय पूर्व रूप से अज्ञात होता है। अत: ऐसी स्थिति में साम्यबोध संभव नहीं।

परन्तु नैय्यायिको की इस आलोचना में बल नहीं दिखता। घर में देखी गई गाय से कोई व्यक्ति परिचित होता है तथा उसके बारे में कुछ तथ्यों को जानता है, यथा, 'यह चौपाया है', 'उसकी पूँछ होती है' आदि। पुन: जब वही व्यक्ति वन में अपरिचित गवय को देखता है तो गवय का कोई पूर्वानुभव न होने पर भी वह इस क्षण में गवय के बारे में कुछ-न-कुछ जरूर जान जाता है, यथा, 'इसकी पूँछ है', 'वह चौपाया है', आदि। अत: जब व्यक्ति यह ज्ञान प्राप्त करता है कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है' तो यहाँ उसके लिए गौ और गवय दोनों ही ज्ञात है।

नैय्यायिको ने वेदान्तियों के उपमान विषयक मत के खंडन के लिए और भी अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं उन तर्को में वह तर्क अत्यंत पुष्ट है जिसके अनुसार वेदान्तियों द्वारा प्रस्तुत उपनाम की व्याख्या एक प्रकार का अनुमान सिद्ध होती है। न्याय मतानुसार उस अनुमान का त्रिवयवी रूप निम्नलिखित है-

जब दो वस्तुओं में कुछ गुण सामान्य होते हैं तो उन वस्तुओं में समानता होती है ।

मेरी गाय और इस गाय में कुछ गुण समान है।

अत:, मेरी गौ इस गवय के समान है।

नैय्यायिकों ने उपमान विषयक वेदान्त मत की आलोचना करते हुए कहा है कि प्रमा अनधिगत विषय अथवा नवीन विषय का बोधक होता है। न्याय मतानुसार यदि वेदान्त प्रदत्त उपनाम की व्याख्या को प्रमा की इस कसौटी पर रखें तो उपमान स्वतंत्र प्रमा अथवा प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि मेरी गौ इस गवय के समान है-यह बोध गौ के विषय में कोई भी भी नवीन ज्ञान प्रदान नहीं करता क्योंकि अपनी गौ के विषय में तो व्यक्ति पहले से ही जान रहा होता है।

न्याय मत की यह आपत्ति भी उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि वेदान्त कहीं भी उपमान का विषय 'गो' अथवा 'गवय' को नहीं मानता। वेदान्त मत के अनुसार यहाँ ज्ञान का विषय 'साम्य' है न कि 'गवय' अथवा 'गो'। चूँकि गवय को देखे जाने के पूर्व इस गौ और गवय के बीच इस साम्य का बोध ज्ञाता को नहीं था अत: उपमान यहाँ अनधिगत विषय का ज्ञान दे रहा है।

मीमांसा मत

शाबरमाष्य के अनुसार उपमान एक ऐसा सादृश्यमूलक ज्ञान है जिसमें बोध की वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता. यथा, वन में गवय को देखकर अपनी गौ के विषय में हुआ यह सादृश्य बोध कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है।'

मीमांसा के दोनों सम्प्रदाय-भाटट् और प्राभाकर, उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते है तथा उपमान को सादृश्य ज्ञान का साधन कहते हैं किन्तु भाट्ट और प्रभाकर मीमींसकों में उपमान विषयक एक मतभेद अत्यंत प्रखर है। वह मतभेद यह है कि कुमारिल भटट् तथा उनके समर्थक दो वस्तुओं के साम्य को उन वस्तुओं से भिन्न कोई यथार्थ वस्तु अथवा कोटि नहीं मानते जबकि यथार्थवादी प्रभाकर 'गौ' और 'गवय' की भाँति ही उनकी 'समानता' को भी एक पृथक वस्तु मान लेते हैं। इस प्रकार प्रभाकर मत के अनुसार साम्य की यथार्थ वस्तुपरक स्वतंत्र सत्ता है जिसका ज्ञान उपमान से होता है, जबकि भाटट् मतानुसार 'साम्य' की स्वतंत्र वस्तुपरक सत्ता नहीं। इसका ज्ञान 'गौ' और 'गवय' के ज्ञान से ही हो जाता है।

न्याय मत

न्याय, मीमांसा और वेदान्त तीनों ही उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं तथा तीनों में परस्पर इस बात पर सहमति है कि उपमान 'सारूप्य विषय' का ज्ञान है। इस संदर्भ में ध्यान दिया जाना चाहिए कि उपमान विषयक वेदान्त और मीमांसा मत में तो पर्याप्त समानताएँ हैं किन्तु उपमान के विषय में नैय्यायिकों का मत वेदान्तियों तथा मीमांसकों में पर्याप्त भिन्न है।

परम्परागत न्याय मत के अनुसार उपमान संज्ञा-संज्ञि संबंध का ज्ञान है। महर्षि गौतम ने 'उपमान' का निरूपण करते हुए लिखा है कि प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य गुणों को साधन बना कर अप्रसिद्ध साध्य का ज्ञान उपमान है। प्रशस्तपाद ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रमाण से प्रसिद्ध वस्तु (अर्थात् गौ आदि) के जाने हुए समान धर्म को साधन बनाकर अज्ञात अथवा अप्रसिद्ध वस्तु (यथा गवय) का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वही उपमान है। एक उदाहरण के द्वारा इसे और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान ले कोई व्यक्ति 'क' गवय को नहीं जानता। उसे कोई वनवासी यह बतलाता है कि गवय घर में देखी गई गौ के समान है। पुन: यह व्यक्ति 'क' वन में जाता है और उसे वहाँ गौ की तरह का कोई पशु दिखता है तब गौ के ज्ञात गुणों के साम्य के आधार पर जब उसे यह ज्ञान होता है कि यह गवय है, तो सारूप्य अथवा सादृश्य के आधार पर

प्राप्त यह ज्ञान 'उपमान' कहलाता है। न्याय मंजरी में जयंत ने परम्परागत न्याय के उपमान विषयक मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि परम्परागत न्यायमत के अनुसार किसी अधिकारी व्यक्ति, यथा वनवासी, के कथन अथवा 'अतिदेशवाक्य' के आधार पर किसी एक ज्ञात वस्तु, यथा गौ, तथा अन्य अज्ञात वस्तु यथा गवय के गुणों के सादृश्य के आधार पर हुआ संज्ञा-संज्ञि संबंध का ज्ञान, यथा, 'यह गवय है', उपमान है।

नैय्यायिक उद्योतकर ने उपमान की महर्षि गौतम प्रदत्त परिभाषा में तनिक परिवर्तन किया है। महर्षि गौतम ने उपमान को प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर परिभाषित किया है, यथा, "गौ" की (प्रसिद्ध) समानता के आधार पर गवय के ज्ञान को 'उपमान' कहा गया है। उद्योतकर ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि उपमान में प्रसिद्ध साधर्म्य' की महत्ता तो है किन्तु इसी भांति उपमान में प्रसिद्ध वैधर्म्य' की भी भूमिका है। जैसे, यदि किसी ने एक्शृंग को नहीं देखा। यदि कोई कोई अधिकारी व्यक्ति उस व्यक्ति को यह बतलाता है कि एक्शृंग चतुष्पद पशु है जो अन्य पशुओं से इस अर्थ में भिन्न है कि उसे एक ही श्रृंग होता है, तो इस विभेद अथवा वैधयं के ज्ञान के आधार जंगल में वह व्यक्ति जब एकश्रृंग को देखकर पहचान लेता है तो उसे भी उपमान ही कहेंगे। इस प्रकार उपमीति (उपमान का फल) 'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' दोनों के आधार पर संभव है।

सदश्य, अतिदेश वाक्य और उपमीति (करण, व्यापार और फल) - उपमान की चर्चा करते हुए इन तीन पदों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

न्याय मतानुसार उपमान के तीन चरण या घटक होते हैं- सादृश्य, अतिदेशवाक्य तथा उपमीति। न्यायमतानुसार यदि उपमान की प्रक्रिया का विश्लेषण करें तो उपमान मुख्यतः निम्नलिखित तीन चरणों में सम्पन्न होता है-

प्रथमतः किसी अधिकारी व्यक्ति अथवा अतिदेशक द्वारा जिज्ञासु को दिया गया साधर्म्य अथवा वैश्वयं का बोध, यथा, जो व्यक्ति गवय को नहीं जानता उसे वनवासी द्वारा जब यह बतलाया जाता है कि गवय घर में देखी गई गौ के समान होती है, तो सादृश्य का यह अवबोध उपमान का प्रथम चरण है। इसे 'उपमान का करण' अथवा कारण कहा जाता है। इसे ही 'अतिदेशवाक्य' कहा गया है।

पुनः जब जिज्ञासु वन में जाता है और वह गौ के समान उस पशु को देखता है तो उसे इस पशु से अतिदेशक अर्थात् वनवासी, (जो अधिकारी पुरुष है) के द्वारा निर्दिष्ट अपने घर की गौ के सादृश्य का स्मरण होता है। अतिदेशक के इस कथन को 'अतिदेशवाक्य' तथा द्वितीय चरण के इस समस्त व्यापार को 'उपमान का व्यापार' कहा जाता है।

पुनः जब इन दोनों चरणों के उपरांत जिज्ञासु को वन में देखे गए पशु के विषय में यह संज्ञा-संज्ञि ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह गवय है', तो इस संज्ञा-संज्ञि ज्ञान, यथा, 'यह गवय है' को 'उपमान का फल' अथवा 'उपमीति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में 'उपमान से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे 'उपमीति' अथवा 'उपमान का फल' कहते हैं।

उपमान विषयक न्यायमत के विरुद्ध वेदान्तियों की आपत्ति

न्याय मतानुसार उपमान संज्ञा-संज्ञि संबंध का ज्ञान है। जैसे कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी से यह सुनता है कि गवय गो के आकार-प्रकार का पशु है। वह व्यक्ति जब वन में जाता है तो वहाँ गो के आकार-प्रकार के प्राणी को देखकर यह कहता है कि 'यह गवय है।'' यही उपमान है। इस प्रकार

न्याय मतानुसार उपमान शब्द के वाच्यार्थ या वस्त्वर्थ का ज्ञान है।''

नोट

वेदान्ती उपमान की इस परिभाषा का आक्षेप करते हुए कहते हैं कि संज्ञा-संज्ञि संबंध का ज्ञान या तो शब्द प्रमाण है या अनुमान। "यह गवय है'' इसका ज्ञान यदि पड़ोसी के मुख से यह सुनकर हुआ कि गवय में इस प्रकार की विशेषताएँ हैं तो ऐसी स्थिति में यह शब्द ज्ञान है। पुनः यदि 'यह गवय है' यह ज्ञान इस प्रकार हुआ कि 'सभी गो सदृश्य जीव गवय है,' यह जीव गो सदृश्य है, अतः 'यह गवय है, तो यह अनुमान है।

किन्तु नैय्यायिक विभिन्न प्रकार से इन आरोपों का खंडन करते हैं और यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि संज्ञा-संधि संबंध का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से होता है न शब्द अथवा अनुमान अनुमान से। जंगल में पशु देखकर पशु का ही प्रत्यक्ष होता है उसके नाम या संज्ञा का नही अतः संज्ञा-संज्ञि संबंध का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता। यह शब्द भी नहीं है क्योंकि सुनकर गो से गवय की समानता का पता तो चलता है किन्तु 'यह गवय है' इसका ज्ञान नहीं होता। यह अनुमान भी नहीं है, क्योंकि अनुमान में लिङ्ग और साध्य का पूर्वप्रत्यक्ष होना आवश्यक होता है जो कि उपमान की स्थिति में नहीं होता। अतः उपमान अनुमान भी नहीं है।

7.4 उपमान के प्रकार

जैसा कि हम देख आये हैं महर्षि गौतम में उपमान को साधर्म्य बोध के द्वारा परिभाषित करने की चेष्टा की है किन्तु परवर्ती नैय्यायिक उद्योतकर ने उपमान के लिए साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों की ही महत्ता स्वीकार की। इसके अतिरिक्त तार्किक वरदराजन ने अपनी पुस्तक 'तार्किक रक्षा' में उपमान की विशद विवेचना प्रस्तुत करते हुए साधर्म्य और वैधर्म्य के अतिरिक्त 'विचित्र धर्म' अथवा 'ध र्ममात्रता' को भी उपमान का आधार बतलाया। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने एक चौथे प्रकार के उपमान की भी चर्चा की। इस प्रकार न्याय मतानुसार उपमान के चार प्रकार हैं-

1) जब दो वस्तुओं में साध्यय के कारण संज्ञा-संज्ञि संबंध बोध होता है तो यह एक प्रकार का उपमान है। यथा, गौ की समानता के आधार पर जंगल में देखे गए पशु के विषय में यह ज्ञान कि 'यह गवय है।'

2) जब वैध के करण से उपमीति प्राप्त हो अथवा वैधयं के कारण संज्ञा-संज्ञि संबंध का बोध हो तो यह एक अन्य प्रकार की उपमीति है, यथा ऊपर बतलाए गए उदाहरण में अपने एक मात्र-शृंग के कारण अन्य पशुओं से अपने विभेद के आधार पर हुआ 'यह एकश्रृंग है' का ज्ञान।

3) जब किसी विचित्र गण के करण से उपमीति प्राप्त हो अथवा संज्ञा-संज्ञि संबंध का बोध हो तो यह अन्य प्रकार की उपमीति है, यथा यदि कोई व्यक्ति जो उष्ट्र को नहीं जानता हो किन्तु उसने सुन रखा हो कि वन में उष्ट्र नामक पशु होते हैं और तब यदि वह वन में एक ऐसे विचित्र पशु को देखे जिसे उसने उसके पूर्व न देखा हो तो यह संज्ञा-संज्ञि ज्ञान अन्य प्रकार का उपमान होगा।

4) विश्वनाथ ने चौथे प्रकार के उपमान की चर्चा करते हुए कहा कि यदि कोई व्यक्ति किसी से सुनकर यह जानता है कि मूंग के आकार के पौधे को 'विषहरी' कहते है तथा पुनः इस आधार पर किसी पौधे को देखकर पहचान लेता है कि यह विषहारी औषधि है, तो यह ज्ञान भी एक अन्य प्रकार की उपमीति है।

स्वतंत्र प्रमाण के रूप में उपमान

न्याय, मीमांसा तथा वेदांत के अतिरिक्त अन्य मत के पक्षधरों ने उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव अन्य प्रमाणों में करने की चेष्टा की है। उन चेष्टाओं तथा उन चेष्टाओं के निराकरण की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

क्या उपमान अनुमान है ?

कछ दार्शनिक उपमान को एक प्रकार का अनुमान कहते हैं। उनके अनुसार उपमान अनुमान है क्योंकि इसमें न्याय के तीनों अवयव आते हैं। 'मेरी गाय गवय के समान है' यह निर्णय इस प्रत्यक्ष पर आधारित है कि 'यह गवय मेरी गाय के समान है'' इसमें अनुमान का रूप इस प्रकार है–

जब कोई भी एक वस्तु दूसरी वस्तु के सामान है तो दूसरी वस्तु पहली के समान है।

यह गवय मेरी गौ के समान है।

अत: मेरी गौ इस गवय के समान है।

प्रत्युत्तर में वेदान्ती यह कहते हैं कि यह ठीक है कि यहाँ 'मेरी गौ इस गवय के समान है' को अनुमान के रूप में दर्शा दिया गया है किन्तु इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने के योग्य है कि अनुमान का आधार व्याप्ति होता है। अनुमान कभी भी बिना व्याप्ति के संभव नहीं होता किन्तु उपमान में व्याप्ति के बिना भी निर्णय प्राप्त कर लिया जाता है। जैसे, यह सर्वथा संभव है कि किसी भी व्यक्ति को इस व्याप्ति का ज्ञान न हो कि 'जब कोई एक वस्तु किसी दूसरी के समान होती है तो दूसरी वस्तु पहली के समान होती है।' इस व्याप्ति ज्ञान उपमान के अभाव में भी यह संभव है कि वह व्यक्ति जंगल में गवय देखे और पूर्वकाल में देख गयी अपनी गौ से उसकी तुलना करके कहे कि मेरी गौ गवय के समान है। इस प्रकार वेदान्त मत के अनुसार उपमान नहीं है।

क्या उपमान प्रत्यक्ष है?

सांख्य उपमान को प्रत्यक्ष का रूप मानते हैं, अत: उनके अनुसार उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। सांख्य मतानुसार दो वस्तुओं में समानता लक्षण उपस्थित हो। 'गवय' में 'मेरी' 'गौ' के समान कुछ लक्षणों का प्रत्यक्ष ही हमें यह ज्ञान प्रदान करता है कि ''मेरी गौर गवय के समान है'। इस प्रकार 'मेरी गौ इस गवय के समान है' समानता के प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान है। यह न तो अनुमान है और न ज्ञान का अन्य कोई साधन ही।

लेकिन वेदान्ती इस आरोप का खंडन करते हुए कहते हैं कि दो वस्तुओं में समान लक्षणों की उपस्थिति का अर्थ यह नहीं है कि वे लक्षण एक ही (पकमदजपबंस) हैं। 'समानता', और 'एक' में भेद है, जैसे राम और लक्ष्मण में यह समानता है कि दोनों दशरथ पुत्र हैं। दोनों धनुर्धारी है आदि, परन्तु इस आधार पर राम और लक्षमण को एक नहीं कहा जा सकता। जबकि 'राम' और 'दशरथ' के जयेष्ठ पुत्र दोनों एक ही हैं। जब प्रत्यक्षकर्ता को गवय का प्रत्यक्ष होता है तो यह प्रत्यक्ष गवय में 'गो के समान लक्षणों का प्रत्यक्ष होता है, न कि उन लक्षणों का प्रत्यक्ष जो मेरी गो में है। अत: 'मेरी गो इस गवय के समान है', यह प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान नहीं है क्योंकि वहाँ हमें अपनी गो का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा हैं।

क्या उपमान अंशत: प्रत्यक्ष और अंशत: स्मृति है?

उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने के विरूद्ध एक आपत्ति यह की जाती है कि उपमान प्रत्यक्ष और

स्मृति का मिला-जुला रूप है। इस मत के समर्थकों के अनुसार 'मेरी गो इस गवय के समान है' -इस निर्णय में 'मेरी गो' उद्देश है, तथा 'इस गवय के समान है विधेय है। इस निर्णय का उद्देश, अर्थात् 'मेरी गो', स्मृति से प्राप्त होता है, (अर्थात् हमने जो पहले अपनी गो देखी थी, उस गो की, स्मृति अभी भी मेरे पास है जो स्मृति इस गवय को देखकर जागृत हो उठती है। इस प्रकार निर्णय का उद्देश अर्थात 'मेरी गो' स्मृति से प्राप्त है।) निर्णय का विधेय अर्थात् इस गवय के समान है, गवय में गो के समान लक्षणों के प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार 'मेरी गो इस गवय के समान है - इस निर्णय का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह निर्णय अंशतः स्मृति और अंशतः प्रत्यक्ष पर आधारित है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपमान स्मृति और प्रत्यक्ष का सम्मिलित रूप है।

उपमान के समर्थक इस आपत्ति का उत्तर दो प्रकार से देते हैं-

प्रथमतः अगर यह मान भी लिया जाय कि 'मेरी गो' का ज्ञान स्मृति से एवं गवय के लक्षणों का ज्ञान प्रत्यक्ष से हो रहा है तो भी प्रश्न यह है कि मेरी गौ और इस गवय के लक्षणों के बीच संबंध कैसे स्थापित होता है? स्मृति और प्रत्यक्ष से तो निर्णय के तंतु असंबद्ध रूप में प्राप्त हुए परन्तु असंबद्ध संघटकों को निर्णय' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मेरी 'गों की स्मृति और 'गवय के प्रत्यक्ष' मात्र से यह निर्णय भिन्न है कि 'मेरी गो इस गवय के समान है। मेरी गो एवं 'इस गवय' के बीच संबंध न तो स्मृति से स्थापित किया जा सकता है न ही प्रत्यक्ष से, बल्कि उसका साधन सर्वथा पृथक है। यही साधन उपमान है।

द्वितीयः, अगर यह मान भी लिया जाय कि स्मृति से मेरी गो एवं प्रत्यक्ष से गवय के लक्षणों का ज्ञान हो रहा है और इस आधार पर यह कह दिया जाय कि उपमान प्रमा का स्वतंत्र कारण नहीं है तो, उपमान के समर्थकों के अनुसार, उपमान को भी स्वतंत्र प्रमाण की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए, क्योंकि अनुमान में भी स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों ही उपस्थित रहते हैं। एक उदाहरण लें,

'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है',

पर्वत पर धुआँ है।

अतः, पर्वत पर आग है।

अनुमान के इस निर्णय में भी दो पद है- 'पर्वत और आग'। इनमें से पर्वत का ज्ञान प्रत्यक्ष से होत है एवं अग्नि का स्मरण होता है इस प्रकार अनुमान में भी स्मृति और प्रत्यक्ष उपस्थित होते हैं। अगर स्मृते और प्रत्यक्ष की उपस्थिति के बाद भी अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण माना जा सकता है तो उपमान को क्यों नहीं?

इस प्रकार मीमांसक और वेदान्ती उपमान के स्टतं प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल होते हैं।

क्या उपमान सादृश्यानुमान है?

वेदान्ती पमान को सादृश्य ज्ञान कहते है। नैयायिक यद्दपि उपमान को 'संज्ञा संबंध क ज्ञान' कहते है। किन्तु चूंकि यह संज्ञा-संज्ञि संबंध का ज्ञान सादृश्य पर ही आधारित है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपमान सादृश्यानुमान है।

पश्चात्य तर्कशास्त्र आगमन के कई भेद बतलता है जिनमें एक सादृश्यानुमान भी है। सादृश्यानुमान में दो वस्तुओं में कुछ समानत के ज्ञान के आधार पर किन्हीं अन्य गुणों की समानता का अनुमान

किया जाता है। जैसे राम और मोहन में रह देखा गया कि दोनों एक ही गाँव के निवसी है, एक ही कक्षा और विद्यालय के विद्यार्थी है, आदि, एवं इस समानत के आधार पर अगर राम को ईमानदार देखकर यह अनुमन कर लिया जाय कि मोहन भी ईमानदार है तो इसे सादृश्यानुमान, कहेंगे।

किन्तु सादृश्यानुमान और उपनान में निम्नलिखित भेद हैं-

1. सादृश्नुमानन में कुछ समानताओं के ज्ञान के आधार पर नई समानता का अनुमान करते हैं, किन्तु उपमान में समानता के आधार पर नई वस्तुओं का ज्ञान होता है या संज्ञा-संधि संबंध का ज्ञान होता है।

2. उपमान अतिदेश वाक्य पर आधारित होता है जबकि सादृश्यानुमान में अनिदेशक अथवा अतिदेशवाक्य की कोई आवश्यक नहीं होती। सादृश्वानुमान स्वानुभव पर भी आधारित हो सकता है।

3. न्याय मतानुसर उपमान संज्ञा-संज्ञि संबंध ज्ञान है अथा, नगा में देखी गई गौ की समानता के आधार पर वन में देखे गए पशु के विषय में यह ज्ञान क 'यह गवय है।' दूसरी और सादृश्यानुमान संज्ञा-संज्ञि संबंध ज्ञान न होकर गुणों की समानता का ज्ञान है, यथा राम और श्याम में यदि 'क' 'ख' 'ग'... आदि गुणों की समानता हो तथा पुनः यदि राम में 'च' गुण है तो अनुमान किया जाता है कि श्याम में भी 'च' गुण होगा।

4. सादृश्यानुमान सदैव सादृश्य पर ही आधारित होता है, किन्तु उपमान साधर्म्य, वैधर्म्य और विचित्र-ध र्म तीनों पर आश्रित होता है।

5. सादृश्यानुमान आगमनात्मक अनुमान का एक भेद है जिसे अवैज्ञानिक आगमन के अन्तर्गत रखा जाता है किन्तु उपमान अनुमान का भेद नहीं है। इसे स्वतंत्र प्रमाण का स्थान दिया जाता है।

क्या उपमान साक्षात अनुमान का रूप है?

पाश्चात्य तर्क शास्त्र दो प्रकार के अनुमान बताता है- आगमनात्मक और निगमनात्मक। पुनः निगमनात्मक अनुमान भी दो प्रकार के हैं- साक्षात और मध्याश्रित। हम यह देख चुके है कि उपमान मध्याश्रित अनुमान नहीं है। किन्तु क्या उपमान साक्षात अनुमान है? इस गवय को देखकर इस गवय से संबंधित यह निर्णय कि ''यह गवय मेरी गो के समान है'' प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसे आधारवाक्य बनाकर साक्षात अनुमान के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'मेरी गो गवय के समान है।' दूसरो शब्दों में, 'क ख के समान है' इस आधार वाक्य से यह निष्कर्ष निकालने की अनुमति, ऐसा प्रतीत होता है कि, साक्षात अनुमान देता है कि ख, 'क' के समान हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उपमान साक्षात अनुमान है। यह साक्षात अनुमान एक प्रकार का परिवर्तन (बवदअमतेपवद) प्रतीत होता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अगर उपमान साक्षात अनुमान का रूप है तो इसे स्वतंत्र प्रमाण की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए।

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य तर्कशास्त्र की तरह आगमन-निगमन तथा साक्षात और असाक्षात अनुमान का भेद नहीं करते। भारतीय तर्कशास्त्र के अनुसार तो साक्षात ज्ञान को अनुमान की कोटि में रखा ही नहीं जा सकता क्योंकि भारतीय तर्कशास्त्र व्याप्ति को अनुमान का अपरिहार्य अवयव मानता है। साक्षात अनुमान में चूँकि न तो व्याप्ति (जिसके मध्य और वृहत पद के बीच संबंध स्थापित किया जाता है) होता है और न ही अनुमान के तीन पद (हेतु, पक्ष और साध्य) उपस्थित होते हैं। इस प्रकार भारतीय तर्कशास्त्र में साक्षात अनुमान की न तो कोई चर्चा ही मिलती है और न ही इसे

अनुमान का भेद ही उस आधार पर कहा जा सकता है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों में बेन एवं ब्रॉडले भी साक्षात अनुमान को अनुमान की कोटि में नहीं रखते हैं। साक्षात अनुमान को अनुमान की श्रेणी से बहिष्कृत करने के दो कारण ये तर्कशास्त्री बताते हैं। प्रथमतः, तथाकथित साक्षात अनुमान से प्राप्त ज्ञान में कोई नवीनता नहीं होती, जबकि अनुमान का अनिवार्य लक्ष्य एक नए निर्णय की स्थापना है, अतः तथाकथित साक्षात अनुमान, अनुमान नहीं है। द्वितीयतः अगर साक्षात अनुमान का निष्कर्ष किसी नए निर्णय की स्थापना करता हो तो फिर यह अनुमान साक्षात न होकर असाक्षात हो जाएगा।

नोट

भारतीय वेदान्त और मीमांसा मत के अनुसार उपमान कोई शाब्दिक हेर-फेर नहीं है, बल्कि इसमें नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है। वस्तुतः किसी भी प्रमाण का यह अनिवार्य लक्षण है कि वह प्रमा का साधन है। वेदान्त एवं मीमांसा मतानुसार ज्ञान प्रमा की कोट में तभी आता है, जब वह अनधि गत अर्थात् नवीन हो। इस प्रकार अनुमान को 'प्रमाण' कहने का अर्थ ही यह है कि उपमान द्व ारा प्राप्त ज्ञान नवीन होता है, मात्र शब्दों का दुहराव नहीं। ब्राडले और बेन के अनुसार तथाकथित साक्षात अनुमान अगर नवीन होगा तो यह छद्म रूप में असाक्षात मध्याश्रित अनुमान होगा। इस दृष्टि से भी उपमान को मध्याश्रित अनुमान नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह हम देख चुके हैं कि उपमान मध्याश्रित अनुमान नहीं है।

किन्तु यहाँ आपत्ति यह की जा सकती है कि इस कथन का क्या आधार है कि उपमान से प्राप्त ज्ञान नवीन या अनधिगत होता है?

यह प्रमाणित करने के लिए कि उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान नवीन या अनधिगत है, मात्र शब्दों का हेर-फेर नहीं, हमें 'क ख के समान है' एवं 'ख क के के समान है'- इप दो निर्णयों के बीच के संबंध को समझना होगा।

इन दो निर्णयों के बीच कम-से-कम चार प्रकार के संबंध संभव है-

प्रथमतः क और ख दोनों का प्रत्यक्ष हो रहा हो और इस आधार पर कहा जाय कि 'क ख के समान है' अतः 'ख क के समान है।'- (i)

द्वितीयतः क ख दोनों ही स्मृति के द्वारा प्राप्त किए जा रहे और कहा जाए कि 'क ख के समान है' अतः 'ख क के समान है।- (ii)

तृतीयतः दोनों से एक का प्रत्यक्ष हो रहा एवं दूसरे की स्मृति हो रही हो, जैसे क का प्रत्यक्ष हो रहा हो एवं ख का स्मरण' और कहा जाय कि 'क ख के समान हैं। अतः 'ख क के समान हैं- (iii)

चतुर्थतः शब्द के आधार पर या प्राक्कल्पना के आधार पर कहा जाय कि 'क ख के समान है अतः 'ख क के समान हैं'। -(iv)

अब, इस चार स्थितियों में से प्रथम और द्वितीय स्थिति में क और ख दोनों का ज्ञान एक ही प्रकार से हो रहा है अर्थात् 'क ख के समान है' कहने का जो आधार है वही आधार 'ख क के समान है' कहने का है। अतः यहाँ 'क ख के समान है' से 'ख क के समान है' की प्राप्ति किसी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं वरन् ज्ञान का आभास है। यह शाब्दिक हेर-फेर है। इसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

चौथी स्थिति में क ख के समान है' इस निर्णय से 'ख क के समान है' सिर्फ अनुमान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि यहाँ 'क ख के समान है' एक दिया हुआ आधार वाक्य है

और इससे निष्कर्ष प्राप्त किया जा रहा है कि 'ख क के समान है।' यहाँ 'क ख के समान है' पूर्ववर्ती तथा 'ख' क के समान है' अनुवर्ती है। पूर्ववर्ती और अनुवर्ती का क्रम स्वैच्छिक नहीं वरन् निर्धारित है।

नोट

ऊपर कही तीन स्थितियों में से कोई भी स्थिति उपमान की नहीं है। उपमान में न तो क ख दोनों का प्रत्यक्ष ही होता है और न तो दोनों की स्मृति ही होती है। यह ज्ञान प्राकल्पित या शब्द द्वारा प्राप्त भी नहीं होता है। उपमान में क का प्रत्यक्ष होता है एवं ख की स्मृति। यह तीसरी स्थिति है। इसमें ख का प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी ख के बारे में अभिकथन किया जाता है कि 'ख क के समान है।' अतः यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। यह शाब्दिक हेर-फेर भी नहीं है क्योंकि यहाँ 'ख क के समान है' का श्रोत वह नहीं है जो कि 'क' ख समान है' का है। इस प्रकार उपमान दूसरी और पहली स्थिति से भिन्न है। यह न तो प्रत्यक्ष है, न शाब्दिक हेर-फेर मात्र।

उपमान की यह तीसरी स्थिति चौथी स्थिति से भी भिन्न है। चौथी स्थिति में 'क ख के समान है' से 'ख क के समान है' ज्ञान अनमान के द्वारा प्राप्त किया जाता है। किन्तु तीसरी स्थिति में ऐसा नहीं होता। उपमान न्याय या हेत्वाश्रित अनुमान नहीं है - यह वेदान्तियों ने किस प्रकार प्रमाणित किया है, हम देख चुके हैं। 'क ख के समान है' एवं 'ख क के है'- इन दो निर्णयों से संबंधित जो चार स्थितियाँ हो सकती है उन्हें भी हम ऊपर देख आए हैं और हमने पाया है कि इनमें से मात्र तीसरी स्थिति ही उपमान की स्थिति है। यह तीसरी स्थिति पहली, दूसरी और चौथी स्थितियों से भिन्न है। पहली दोनों स्थितियाँ शाब्दिक हेर-फ्रेर मात्र की है क्योंकि इनमें 'क ख के समान है' का जो आधार है। (प्रत्यक्ष अथवा स्मृत्ति) वही आधार 'ख क के समान है' के लिए भी है। अतः यहाँ 'क ख के समान है' से 'ख क के समान है' प्राप्त होने पर भी अनधिगत ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः इसे प्रमा अथवा प्रमाण की संज्ञा नहीं दी जा सकती। चौथो स्थिति में 'क ख के समान है' के आधार पर 'ख क के समान है' प्राप्त किया जाता है। यहाँ दोनों निर्णयों के आधार पर पृथक-पृथक है। अतः यहाँ अनधिगत ज्ञान तो प्राप्त होता है किन्तु यह ज्ञान अनुमिति द्वारा प्राप्त हो रहा है। तीसरी स्थिति शाब्दिक हेर-फेर की भी नहीं है और यहाँ अनधिगत ज्ञान भी प्राप्त हो रहा है। साथ ही यह ज्ञान अनुमान से भी प्राप्त नहीं है। तीसरी और चौथी स्थिति में मौलिक भेद है। अतः तीसरी स्थिति न तो साक्षात अनुमान की स्थिति है न ही असाक्षात अनुमान की।

असमानता का ज्ञान

ऊपर हपने देखा है कि समानता का ज्ञान के कई साधन होते है। किन्तु असमानता का ज्ञान कैसे होता है?

परम्परागत वेदान्तियों ने इस प्रश्न को नहीं उठाया है किन्तु वेदान्त परिभाषा के समसमायिक व्याख्याकार ने इस प्रश्न को उठाया है।

दो वस्तुओं ग और घ में असमानता का ज्ञान कई प्रकार से हो सकता है। अगर ग और घ दोनों का प्रत्यक्ष हो अथवा ग का प्रत्यक्ष हो एवं घ की स्मृति हो, तब इन दो वस्तुओं के बीच असमानता का ज्ञान उपमान नहीं, अनुपलब्धि है। 'ग घ के समान नहीं है। इस निर्णय का स्वरूप यह होगा कि 'ग में घ के समान गुणों का अभाव है। इस स्थिति में 'ग घ के समान नहीं है' निर्णय का आधार प्रत्यक्ष होगा। अगर ग और घ दोनों की स्मृति हो रही है तब भी यह निर्णय कि 'ग घ

समान नहीं है' अनुमान द्वारा ही प्राप्त होगा। किन्तु अगर ग का प्रत्यक्ष हो और घ की स्मृति तब यह कहना उतना आसान नहीं है कि यह निर्णय कि 'घ ग के समान नहीं' किस प्रकार का ज्ञान है? इस ज्ञान को 'अनुपलब्धि' नहीं कहा जा सकता। यह अनुपलब्धि तब होता जब घ का प्रत्यक्ष होता और घ में ग के समान गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु यहाँ घ का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। अत: 'घ ग के समान नहीं है' यह ज्ञान उपमानजन्य है। इस संदर्भ में न्याय मत की चर्चा अपेक्षित है। नैय्यायिक उद्योतकर तथा वरदराजन ने स्पष्ट कहा है कि उपमिति का ज्ञान साधर्म्य को भी करण बना कर प्राप्त किया जाता है और वैधर्म्य को भी करण बना कर प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि नैय्यायिक साधर्म्य को उपमिति का करण मानते हैं न कि उपमिति को साधम्य और वैधर्म्य ज्ञान का करण। न्याय मतानुसार उपमान 'संज्ञा-संज्ञि संबंध का ज्ञान है' न कि 'साधर्म्य अथवा वधर्म्य ज्ञान का करण।' अतएव न्याय मत जिस प्रकार उपमिति की चर्चा करता है उस रूप में साधर्म्य अथवा वैधर्म्य का ज्ञान उपमान से प्राप्त नहीं किया जा सकता। पुन:, वेदान्त मत जिस प्रकार उपमिति की चर्चा करता है और उपमान को 'साधर्म्य बोध का करण' कहता है उस आधार पर वेदान्त मत के सम्मुख यह प्रश्न उठता है कि क्या उपमान साधर्म्य की ही भाँति वैधर्म्य का भी अवबोध है ? किन्तु वेदान्त मत इस प्रश्न को उपमान प्रकरण में नहीं उठाती।

7.5 अर्थापत्ति

मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति को प्रभा के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार करते है। प्रारंभिक काल में मीमांसकों ने प्रमा तथा प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति की जो विवेचनाएँ प्रस्तुत की वे विवेचनाएँ वेदान्तिया द्वारा प्रस्तुत अर्थापत्ति की विवेचनाओं की अपेक्षा अधिक पुष्ट और वैज्ञानिक दिखती हैं। सांख्यों के अतिरिक्त नैय्यायिको ने मीमांसकों द्वारा अर्थापत्ति के इस मण्डन का घोर खंडन प्रस्तुत किया। जयन्त ने अपने कालजयी ग्रंथ न्यायमंजरी में स्वतंत्र प्रमाण के रूप में अर्थपत्ति का प्रबल खंडन प्रस्तुत किया तथा अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करने की चेष्टा की। परवर्ती काल में वेदान्त मत के आचार्य धर्मराजध्वरीन्द्र ने अर्थापत्ति की सर्वाधिक पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की, जिसके द्वारा प्रमा और प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति ज्ञानमीमांसा में निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हुआ।

अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप

शब्दार्थ की दृष्टि से विषय की कल्पना (अर्थ + आपत्ति अर्थात् विषय + कल्पना) अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति के समस्त समर्थक-प्राभाकर, भाट्ट तथा वेदान्ती - इस रूप में अर्थापत्ति को 'कल्पना के आधार पर विषय की व्याख्या करने वाले प्रमाण' के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। तथापि, अर्थापत्ति के स्वरूप के विस्तृत विवेचन के क्रम में तीनों मतावलम्बियों में तनिक मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। इस मतभेद को समझने के लिए इन तीनों मतों की पृथक-पृथक और तुलनात्मक विवेचना अपेक्षित है जो आगे प्रस्तुत की जा रही है।

मीमांसा मत - मीमांसा शास्त्र के दोनों ख्यात सम्प्रदायों, भाट्ट मीमांसा और प्रभाकर मीमांसा, में से एक भाट्ट मीमांसा, जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि नामक छ: प्रमाण ाों को स्वीकार करते हैं, वहाँ प्राभाकर मीमांसक इनमें से मात्र प्रारम्भिक पाँच को ही प्रमाण रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। यद्यपि प्रभाकर और भाट्ट मीमांसकों की तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय गवेषण

ाओं में पर्याप्त भेद हैं तथापि मीमांसा के ये दोनों सम्प्रदाय अर्थापत्ति को समान रूप से प्रमा और*उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि* प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं।

जैमिनी प्रणीत मीमांसाशास्त्र के प्रारंभिक ग्रंथ शाबरभाष्य में अर्थापत्ति की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है। शाबरभाष्य के अनुसार अर्थापत्ति उस अर्थ अथवा विषय की कल्पना है जिसके बिना श्रुत अथवा दृष्ट विषय की उपपत्ति न हो, उदाहरणार्थ, यदि यह सुना जाता है कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता तथापि वह प्रचुर स्वास्थ है, तो दिन के भोजन-त्याग और प्रचुर स्वास्थ्य में स्पष्ट विरोध ाभास दिखता है। इन दो विरोधी तथ्यों की सहधर्मिता की व्याख्या तभी संभव है जबकि यह कल्पना कर ली जाय कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। यह स्वीकृति (अथवा कल्पना) ही अर्थापत्ति है जिससे देवदत्त के दिन में भोजन करने तथापि प्रचुर स्वस्थ्य होने की व्याख्या हो पाती है। अतः यह कल्पना 'अर्थापत्ति' है कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन ग्रहण करता है।'

नोट

मीमांसा मत के दो आचार्यो, कुमारिलभट्ट और प्रभाकर मिश्र तथा इनके अनुयायियों ने अर्थापत्ति को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किया है। ये दोनों ही सम्प्रदाय अर्थापत्ति संबंधी अपनी अवधारणा का विकास शाबरभाष्य के आधार पर ही करते हैं, तथापि कुमारिल तथा प्राभाकर सम्प्रदायों की अर्थापत्ति सम्बन्धी विवेचना में पर्याप्त भेद हैं। कुमारिल भट्ट ने अर्थापत्ति संबंधी अपने विवेचन में शाबरभाष्योक्त 'दष्ट श्रुतोवाऽन्यथानोपपद्यते' की व्याख्या करते हुए कहा है कि अर्थापत्ति वह ज्ञान है जिसमें एक कल्पना के द्वारा किसी ऐसे दृष्ट (इन्द्रियगोचर) अथवा किसी श्रुत (शब्दगम्य) विषय की व्याख्या संभव हो पाती है जिसकी व्याख्या इस कल्पना के अभाव में अन्य किसी दृष्ट अथवा श्रुत प्रमाण के द्वारा संभव न हो, तो इस कल्पना को 'अर्थापत्ति' कहते हैं। यथा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता तथापि वह मोटा दिखता है- इस दृष्ट (प्रत्यक्षगोचर अथवा श्रुत (शब्दागम्य) विषय (अर्थ) की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के अतिरिक्त अन्यथा (शेष अन्य प्रमाणे के द्वारा) संभव नहीं कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। अतः देवदत्त रात्रि में भोजन करता हैख़यह कल्पना 'अर्थापत्ति' है तथा यह 'कल्पना' 'प्रमा अथवा प्रमाण है।

सुचरित मिश्र ने श्लोकवार्तिक पर टीका करते हुए अर्थापत्ति की जो व्याख्या की है। उसके अनुसार अर्थापत्ति का आधार विषय का अन्यथा (अर्थापत्ति अथवा प्रस्तुत कल्पना के अभाव में) अव्याख्येय रह जाना है। यथा, एक उदाहरण में हम पाते हैं कि अग्नि वस्त को जला कर नष्ट कर देती है तथा दूसरे उदाहरण में हम पाते हैं कि वस्तु पर अग्निरोधक लेप चढ़ा देने से अग्नि वस्तु को जला कर नष्ट नहीं कर पाती। इन दो परस्पर विरोधी स्थितियों-अग्नि जला कर नष्ट कर देती है तथा अग्नि जला कर नष्ट नहीं कर पाती की व्याख्या इस कल्पना के अभाव में संभव नहीं (अन्यथानोपपद्यते) कि दाहक क्षमता से युक्त होने पर अग्नि जलाती है तथा दाहक क्षमता रहित अग्नि जला कर नष्ट नहीं कर पाती। सुचरित मिश्र के अनुसार विषय का यह ज्ञान अर्थापत्ति है क्योंकि अन्य प्रमाणों, यथा, प्रत्याक्षादि, से इस विषय का ज्ञान संभव नहीं क्योंकि प्रत्यक्षगम्य रूप में तो अग्नि में सदैव ही दहकता विद्यमान रहती है। प्रभाकर महर्षि शबर प्रदत्त अर्थापत्ति की व्याख्या के शब्दानुक्रम का अतिक्रमण करते हुए अर्थापत्ति की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वह व्याख्या कुमारिल भट्ट तथा सुचरित मिश्र प्रदत अर्थापत्ति की व्याख्या से तनिक भिन्न है। प्रभाकर शबर कृत 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोन्यथानोपपद्यते इत्यर्थकल्पना' के स्थान पर 'अर्थापत्तिरपि दृष्ट श्रुतो वार्थोत्यर्थकल्पना

अन्यथानोपद्यते इति' को रखते हुए अर्थापत्ति की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं उसके अनुसार अर्थापत्ति वह दृष्ट अथवा श्रुत कल्पना है जिसके द्वारा किसी एक ऐसे विषय की व्याख्या की जाती है जिस विषय की व्याख्या अन्यथा (इस कल्पना के अभाव में) संभव न हो। यथा, देवदत्त के दिन में भोजन नहीं करने तथा फिर भी पुष्ट दिखने की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के बिना संभव नहीं कि वह रात्रि में भोजन करता है। देवदत्त रात्रि में भोजन करता है-इस विषय का ज्ञान न तो दृष्ट है न श्रुत, वरन यह काल्पनिक है। अर्थापत्ति के लिए दी गई भाट्ट मीमांसकों और प्राभाकरों की व्याख्या में मूल भेद यह है कि जहाँ भाट्ट मीमांसक अर्थापत्ति को 'किसी दृष्ट अथवा श्रुत विषय की व्याख्या के लिए गई कल्पना', कहते हैं वहाँ प्राभाकार अर्थापत्ति को किसी ऐसे विषय की व्याख्या के लिए की गई एक ऐसी व्याख्या' के रूप में परिभाषित करने के इच्छुक प्रतीत होते हैं जो व्याख्या दृष्ट अथवा श्रुत न होकर कल्पना प्रसूत हो तथा जिस कल्पना प्रसुत व्याख्या के अभाव में प्रदत्त विषय की अन्य व्याख्या संभव न हो, यथा, देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी मोटा है- इस विषय की व्याख्या के लिए जब यह कल्पना की जाती है कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है, तो यह व्याख्या न तो प्रत्यक्ष से प्राप्त होती है नै शब्द से, बल्कि यह व्याख्या विशुद्ध रूप से कल्पना प्रसूत है।

वेदान्त मत- धर्मराजध्वरीन्द्र ने अपने ग्रंथ वेदान्त परिभाषा में अर्थपत्ति की वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत की है। वेदान्त परिभाषा के अनुसार उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना ही अथपत्ति है। 'देवदत्त का दिन में भोजन न करना तथा फिर भी स्वस्थ रहना' कार्य है तथा इसके ज्ञान से इसके कारण अर्थात 'देवदत्त द्वारा रात्रि में भोजन करने की कल्पना' ही अर्थापत्ति है।इस प्रकार वेदान्त परिभाषा के अनुसार अर्थापत्ति के दो अंग है- उपपाद्य (कार्य) तथा उपपादक (कारण)। जिस विषय की व्याख्या करनी होती है उसे 'उपपाद्य' कहते हैं तथा जो व्याख्या प्रस्तुत की जाती है उसे उपपादक की संज्ञा दी जाती है। वेदान्त परिभाषा के अनुसार अर्धापत्ति में उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति है। यथा, देवदत्त के दिन में भोजन न करने तथा फिर भी मोटा दिखने के ज्ञान से देवदत्त के रात्रि में भोजन करने का ज्ञान अर्थापत्ति से प्राप्त किया जाता है। अर्थापत्ति की मीमांसा प्रदत व्याख्या तथा वेदान्त प्रदत्त व्याख्या में एक मौलिक भेद दिखता है। वह भेद यह है कि मीमांसक प्रदत्त विषय की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति प्रमाण की उपादेयता को स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर वेदान्ती प्रदत्त विषय के ज्ञान के आधार पर काल्पनिक विषय के ज्ञान को अर्थापत्ति के आधार पर संपुष्टि प्रदान करते हैं। वेदान्ती 'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करने पर भी स्वस्थ दिखता है' इस उपपाद्य के आधार पर इस उपपादक कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है' की कल्पना को संपुष्टि प्रदान करते हैं। वेदान्त मत के विरोधी बहुधा अर्थापत्ति संबंधी वेदान्त मत के विरुद्ध प्राभाकर मिश्र द्वारा प्रस्तुत एक आपत्ति को उपस्थित करते हैं। प्राभाकर मिश्र ने यह आपत्ति मूलत: भाट्ट मीमांसकों की अर्थापत्ति संबंधी व्याख्या के विरुद्ध भी उपस्थित की है। प्राभाकर मिश्र ने कहा है कि यदि अर्थापत्ति के प्रतिपादन में शबरोक्त पद 'अन्यथा नोपपद्यते' का अर्थ 'विषय की व्याख्या की अनुपस्थिति' में व्याख्येयी विषय की अनुपस्थिति से लगाया जाय (जैसा कि भाट्टमीमांसक कहते हैं, यथा, देवदत्त रात्रि में भोजन ग्रहण करता है, इस कल्पना के भाव में इस तथ्य की व्याख्या संभव नहीं कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता तथापि पस्थ है) तो अर्थापत्ति और अनुमान का भेद नष्ट होगा तथा अर्थापत्ति का अन्तभवि न किया जाना संभव होगा

क्योंकि अर्थापत्ति की यह परिभाषा व्याख्या और व्याख्येय विषय के कारण-कार्य संबंध पर आधारित है। चूंकि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है तथा व्याप्ति की स्थापना हेत और साध्य के सबंध के आधार पर होती है, अत: हेतु और साध्य (व्याख्या और व्याख्येय विषय) के बीच कारणता के संबंध के कारण अर्थापत्ति भी एक प्रकार का अनुमान ही सिद्ध होगी। इस प्रकार प्रभाकर मत के अनुसार कुमारिल भट्ट प्रदत्त -अन्यथा नोपपद्यते' की व्याख्या दोषपूर्ण है क्योंकि इससे अर्थापत्ति और अनुमान का भेद नष्ट होता है।

कुमारिल भड़ प्रदत्त अपत्ति की व्याख्या के विरुद्ध प्राभाकर द्वारा उपस्थित इस आपत्ति का उल्लेख वेदान्त मत के विरोधी अर्धापत्ति संबंधी वेदान्मत मत के विरूद्ध भी करते है। वेदान्त मत के विरोधी अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि यदि 'उपपाद्यज्ञानेन उपपादक ज्ञानम् अथपित्ति:' (उपपारा के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्धापत्ति है) तो इससे अर्थपत्ति और अनुमान का भेद नष्ट होता है क्योकि अर्थापति की इस परिभाषा से कार्य के ज्ञान के आधार पर कारण के ज्ञान की बात कही गयी है जो कारणता संबंध के ज्ञान पर आधारित है। यह संबंध होत और साध्य के बीच कारण ाता का संबंध बतलाता है। हेतु और साध्य के बीच के इसी संबंध ज्ञान के आधार पर व्याप्ति की स्थापना होती है जो अनुमान का आधार है। अत: 'उपपाद्य ज्ञानेन उपपादक ज्ञानम् अर्धापत्ति:' की इराकी इस परिभाषा के आधार पर अर्धापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाना संभव है। केशव मिश्र ने अपनी तर्कभाषा में 'अर्धापत्ति प्रमाण विचार' में अर्थापति का अन्तर्भाव केवल व्यतिरेकी अनुमान में किया है। केशव मित्र की यह स्थापना इस प्रकार है।'

प्रतिज्ञा - अयं देवदत्त रात्रों भुङ्क्ते (यह देवदत्त रात्रि में भोजन करता है)।

हेतु- दिवाऽभुजानत्वे सति पिनत्वात् (दिन में भोजन न करने पर भी पुष्ट रहता है)

व्यतिरेक व्याप्ति - यस्तु न रात्रों भुङ्क्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो, यथा दिवा रात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो (जो रात्रि में भी भोजन नहीं करता एवं दिन में भी भोजन नहीं करता वह पुष्ट नहीं होता, यथा नवरात्रोपरासी)।

उपनयन - न चायं तथा (यह देवदत्त दुर्बल नहीं है)।

निगमन - तस्मात् न तथा (इसलिए देवदत्त वैसा, अर्थात् दिन और रात्रि में उपवास करने वाला नहीं है, अर्थात् भोजन ग्रहण करता है)।

किन्तु नैय्यायिकों के इस तर्क के विरुद्ध वेदान्त समर्थकों के अपने तर्क हैं। नैय्यायिक यह कहते हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति को अनुमान का आधार बनाए जाने पर ही अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाना संभव है, जबकि वेदान्ती व्याप्तिरेक व्याप्ति को व्याप्ति की कोटि से बहिष्कृत करते हैं। वेदान्तियों की इस बहिष्कार योजना की परीक्षा हम आगे के पृष्ठों में करेंगे।

7.6 अर्थापत्ति के प्रकार

कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रंथ श्लोकवार्तिक में शाबरभाष्य प्रदत्त अर्थापत्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हुए अर्थापत्ति के दो रूपों (प्रकार) की चर्चा की है

(1) दृष्टार्थापत्ति

(2) श्रुतार्थापत्ति

परवर्ती काल में वेदान्त परिभाषा के प्रणेता वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी अर्थापत्ति के इन दो रूपों को स्वीकार किया।

दृष्टार्थापत्ति - जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा दृष्ट अथवा किसी देखी गई घटना की व्याख्या हो रही हो उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं, यथा देवदत्त के मोटापे का प्रत्यक्षगम्य होना, तदुपरान्त यह व्याख्या कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।

यहाँ 'दृष्ट' शब्द का अर्थ व्यापक है। यहाँ दृष्ट का अर्थ मात्र 'दृष्टिगोचर होना' न होकर पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा एक अन्त: इन्द्रिय के द्वारा सम्मिलत अथवा पृथक-पृथक रूप से गोचर होना है। इस प्रकार विस्तृत अर्थ में किसी भी इन्द्रिय गोचर विषय की व्याख्या जब अर्धापत्ति प्रमाण से हो तो इस प्रकार अर्थापत्ति को दृष्टार्थापत्ति की संज्ञा दी जाती है।

श्रुतार्थापत्ति -जहाँ अर्धापत्ति के द्वारा किसी श्रुत विषय की व्याख्या होती है उस अर्थापत्ति को श्रुतार्थापत्ति कहते है। जैसे - 'देवदत्त जीवित है किन्तु घर में नहीं है' इस कथन की व्याख्या के लिए यदि यह कल्पना की जाय कि देवदत्त घर के बाहर है तो इसे श्रुतार्थापत्ति कहेगे।

यहाँ 'श्रुत्त' शब्द का अर्थ भी तनिक सूक्ष्म है। श्रुत का एक अर्थ तो 'सुना गया विषय' होता है तथा दूसरा अर्थ 'शब्द (प्रमाण) गम्य विषय' भी होता है। अपने गूढार्थ में श्रुतार्थापत्ति का अभिष्ट अर्थ 'शब्द (प्रमाण) गम्य विषय' या 'गूढ़ वाक्य की व्याख्या' ही है।

पुन: वेदान्ती श्रुतार्थापत्ति के दो भेद बतलाते है-

(1) अभिधानानुपपत्ति

(2) अभिहितानुपपत्ति

किसी वाक्य का एक भाग अथवा अर्थ सुनकर जब सम्पूर्ण वाक्य की कल्पना की जाती है तो यह अभिधानानुपपत्ति है, यथा 'सर्प' सुनकर जब कल्पना की जाती है कि 'सर्प निकल आया' तो यह अभिधानानुपपत्ति है।

अभिहितानुपपत्ति इससे भिन्न है। बहुधा किसी वाक्य से निकला अर्थ प्रमाण विरोधी अथवा स्वतोव्याध ाती होता है। जब प्रमाण विरोधी अथवा स्वतोव्याधाती वाक्य की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति का सहारा लिया जाता है तो इस प्रकार की अर्थापत्ति अभिहितानुपपत्ति कही जाती है, यथा, 'मोक्ष प्राप्ति से मरणधर्मा प्राणी अमृतत्त्व को प्राप्त करता है', इस वाक्य के अर्थ से एक स्वतोव्याधांत उपजता है कि "मरणधर्मा अमर हो जाता है।' प्रश्न है कि मरणधर्मा अमर कैसे हो सकता है? इस व्याघात से बचने के लिए वाक्य का एक अर्थ निकालना पड़ता है कि मरणधमिर्ता मिथ्या या भ्रम है।

भारतीय प्रामाणमीमांसा में श्रुतार्थापत्ति की समस्या

भारतीय प्रामाणमीमांसा में श्रुतार्थापत्ति की समस्या पर विशद् विवेचना हुई है। इन विवेचनाओं को हम मुख्यत: चार कोटियों में रख सकते हैं-

1. भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति प्रमाण का एक भेद मानते हैं तथा श्रुतार्थापत्ति को दृष्टार्थापत्ति से भी भिन्न बतलाते हैं।

2. प्राभाकर मीमांसक अर्थापत्ति को तो प्रमा का स्वतंत्र साधन अथवा स्वतंत्र प्रमाण के रूप में

स्वीकार करते हैं, किन्तु वे अर्थापत्ति को दो रूपों श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति के बीच विभक्त करने वाले भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों के प्रयासों की आलोचना भी करते हैं। प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार श्रुतार्थापत्ति को अलग से अर्थापत्ति का प्रकार स्वीकार करना आनावश्यक है।

नोट

3. नैयायिक मात्र चार प्रमाणों-प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द और उपमान को ही स्वीकार करते हैं। वे अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं। इस प्रकार नैयायिक भी श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते।

4. वेदान्त परिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने म मात्र श्रुतार्थापत्ति को अर्धापत्ति एक विशेष प्रकार के रूप में प्रतिष्ठित किया वरन् उन्होंने इसके और भी आगे जाकर श्रुतार्थापत्ति के भी दो प्रकार बतलाए अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। इस प्रकार धर्मराजध्वरीन्द्र ने अर्थापत्ति की विवेचना के नए आयाम भी खोले।

स्वतंत्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति

परम्परागत भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदायों में मीमांसक (भाट्ट और प्रभाकर) तथा वेदान्तियों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को स्वतंत्र ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप सर्वत्र में अस्वीकार किया गया है। अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार अथवा अस्वीकार करने वालों के अपने पृथक-पृथक तर्क हैं। इनमें से अर्थापत्ति प्रमाण के विरुद्ध सर्वाधिक सबल आक्षेप नैय्यायिकों, विशेषत: नैय्यायिक जयन्त के हैं, जिन्होंने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में करने की चेष्टा की है। दूसरी ओर अर्थापत्ति के समर्थक मीमांसक तथा वेदान्तियों ने भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत करने के लिए सबल तर्क प्रस्तुत किए हैं। यहाँ तक कि अर्थापत्ति के कुछ समर्थक तो विशेष परिस्थिति में अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में करने के पक्ष में भी दिखते हैं।

आगे उन प्रयासों के संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

अर्थापत्ति प्रत्यक्ष नहीं है - कुमारिल भट्ट के मतानुसार अर्थापत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। जब हम 'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, फिर भी मोटा दिखता है जैसे दृष्ट अथवा श्रुत विषय की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के आधार पर करते हैं कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है तो यहाँ इस विषय का ज्ञान कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है' प्रत्यक्षगम्य न होकर कल्पनागम्य है। अत: अर्थापत्ति प्रत्यक्ष से भिन्न है।

अर्थापत्ति उपमान नहीं है - भाट्ट मीमांसक उपमान प्रमाण से अर्थापत्ति का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अर्थापत्ति उपमान नहीं है, क्योंकि उपमान सादृश्यगम्य ज्ञान होता है जबकि अर्थापत्ति किसी भी भाँति सादृश्यगम्य नहीं है।

अर्थापत्ति और शब्द प्रमाण

शाबरभाष्य में अर्थापत्ति की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि अर्थापत्ति उस अर्थ के ज्ञान को कहते हैं जिस अर्थ के अभाव में दृष्ट अथवा श्रुत विषय की व्याख्या अथवा उपपत्ति न हो सके। अर्थापत्ति को इस प्रकार परिभाषित करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थापत्ति 'अर्थ' का बोध है। अर्थ का बोध शब्द प्रमाण में भी होता है, अत: ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थापत्ति और शब्द प्रमाण में साम्य है। किन्तु यह धारणा भ्रामक है। अर्थापत्ति और शब्द प्रमाण में पर्याप्त भेद हैं। प्रथमत: तो

यह कि अर्थापत्ति में 'अर्थ के बोध' के लिए कल्पना का सहारा लिया जाता है जबकि शब्द प्रमाण में 'अर्थ' के स्पष्टीकरण के लिए कल्पना की आवश्यकता नहीं होती। द्वितीयत: प्रमाण रूप में शब्द 'आप्त पुरुष के वचन' होते हैं जबकि अर्थापत्ति के लिए आप्त-अनाप्त का कोई भेद नहीं होता।

नोट

अर्थापत्ति और शब्द प्रमाण में साम्य का बोध वस्तुत: 'अर्थ' शब्द की अनेकार्थकता के कारण होता है। शब्द प्रमाण की चर्चा करते हुए जब 'अर्थ' शब्द का प्रयोग शब्दार्थ या वाक्याथ के संदर्भ में किया जाता है तो यह 'अर्थ' शब्द का प्रचलित-सामान्य अर्थ है, जबकि महर्षि शबर ने अर्थापत्ति की व्याख्या के क्रम में 'अर्थ' (अर्थ का बोध) शब्द का जो प्रयोग किया है, उसका अर्थ है 'विषय' शाबरभाष्य में 'अर्थापत्ति की जो व्याख्या दी गई है उसे इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए- ''आर्थापत्ति उस विषय के ज्ञान को कहते हैं जिस विषय के ज्ञान के अभाव में दृष्ट अथवा श्रुत विषय की व्याख्या अथवा उपपत्ति न हो सके।''

श्रुतार्थापत्ति का प्रयोग प्राय: श्रुत विषयों या शब्द प्रमाण की व्याख्या के लिए होता है। इससे ऐसी धारणा उत्पन्न कि श्रुताथपित्ति और शब्द प्रमाण में कोई भद नहीं, किन्तु यह धारणा भी भ्रामक है। श्रुतार्थापत्ति और शब्द प्रमाण के भेद है। शब्द प्रमाण की व्याख्या के लिए श्रुतार्थापत्ति का उपयोग वैसा ही है जैसा कि लकड़ी काटने के लिए आरी का प्रयोग। यद्यपि आरी लकड़ी काटने के काम में औजार (जववस) के रूप में प्रयोग होती है, तथापि लकड़ी और आरी में भेद होते है। उस भाँति श्रुतार्थापत्ति का प्रयोग शब्द प्रमाणों के अर्थ की उपपत्ति के लिए निर्मित कारण के रूप में किया जा सकता है, किन्तु इससे शब्द प्रमाण और श्रुतार्थापत्ति का भेद नष्ट नहीं होता । इस बात को एक उदाहरण से भी समझा जा सकता है। 'मोक्ष प्राप्ति से मरणधर्मा प्राणी अमृतत्व को प्राप्त करता है'- यह एक ऐसा वाक्य है जिसे शब्द प्रमाण की कोटि में रखा जाता है। ध्यान देकर देखें तो इस वाक्य से यह स्वतोव्याघात उपजता है कि 'मरणधर्मा अमर हो जाता है।' प्रश्न है कि 'मरणधर्मा अमर कैसे होगा? शब्द प्रमाण में उठ आए इस स्वतोव्याघात की व्याख्या के अभिहितानुपपत्ति (जो श्रुतार्थानुपपत्ति का एक भेद है) का आश्रय लेते हुए यह कल्पना करनी पड़ती है कि 'मरणधर्मिता मिथ्या या भ्रम है।' इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति और शब्द प्रमाण का भेद स्पष्ट होता है।

क्या अर्थापत्ति अनुमान है? - वेदान्त और भाट्ट मीमांसकों के अतिरिक्त अन्य भारतीय दार्शनिक अर्थापत्ति को प्रमाण रूप में मान्यता नहीं देते। सांख्य और न्यायमतानुसार अर्धापत्ति एक प्रकार का अनुमान है। सांख्य इसे वैकल्पिक न्याय की कोटि में रखते हैं तथा नैय्यायिक इसे व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित अनुमान कहते हैं।

अर्थापत्ति को न्याय दर्शन केवल - व्यातिरेकी अनुमान के रूप में दिखलाने की चेष्टा करता है। न्यायमतानुसार इस अनुमान का रूप निम्नलिखित हैं-

प्रतिज्ञा - देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।

हेतु - वह दिन में भोजन नहीं करता किन्तु मोटा है।

व्यातिरेक व्याप्ति - जो रात्रि में भोजन नहीं करता वह दिन में भोजन नहीं करने पर भी मोटा नहीं रहता। जैसे, दिन और रात भोजन नहीं करनेवाला नवरात्रोपवासी पुरुष।

उपनय - देवदत्त नवरात्रोपवासी के समान दुर्बल नहीं है।

निगमन - देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।

इस आपत्ति के उत्तर में वेदान्ती इस अनुमान को दोषपूर्ण बतलाते हैं। वेदान्त मतानुसार व्याप्ति अन्वय (हेतु और साध्य के बीच भावात्मक संबंध, जैसे जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है) तथा व्यतिरेक (हेतु और साध्य के बीच अभावात्मक संबंध, जैसे जहाँ-जहाँ आग नहीं है, वहाँ-वहाँ धुआँ नही है) दोनों के संयोग से प्राप्त होता है। अतएव, वेदान्त मतानुसार केवल - व्यातिरेकी अनुमान दोषपूर्ण है। वेदान्त मतानुसार, अर्थापत्ति को अनुमान रूप में प्रतिष्ठित करने में कठिनाई यह है कि यहाँ व्याप्ति का आधार अन्वय नहीं। अतएव अर्थापत्ति अनुमान नहीं है।

नोट

सांख्य अथपित्ति का अन्तर्भाव व्यतिरेकी अनुमान में करते है। सांख्य मतानुसार इस अनुमान का रूप निम्नलिखित है-

जीवित देवदत्त या तो घर में है या घर के बाहर है।

देवदत्त घर में नहीं है।

इसलिए देवदत्त घर के बाहर है।

वेदान्ती सांख्य मत का भी खंडन करते हैं तथा विविध प्रकार से यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि अर्थापत्ति अनुमान नहीं है।

डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त ने सांख्यों की इस आपत्ति में आत्माश्रय दोष बतलाया है। डॉ. दत्त के अनुसार सांख्यों द्वारा बतलाए गए अनुमान का वृहत वाक्या-''जीवित देवदत्त या तो घर है या घर के बाहर हैं'' कैसे प्राप्त हुआ? सुनकर तो हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि देवदत्त जीवित है और घर में नहीं है। 'देवदत्त घर से बाहर है' यह ज्ञान तो निष्कर्ष से प्राप्त होता है। अत: आधार वाक्य के रूप में 'देवदत्त घर से बाहर है' का प्रयोग अवैध है।

अर्थापत्ति को अनुमान के रूप में स्वीकार करने में अन्य कठिनाइयाँ भी हैं जो इस प्रकार है-

1) वेदान्त परिभाषा में कहा गया है कि अर्थापत्ति के प्रत्येक उदाहरण में ज्ञाता स्वयं यह जानता है कि वह मात्र कलना कर रहा है न कि अनुमान। वहाँ ज्ञाता की भावना 'कल्पयामि' या 'अर्थापयामि' की होती है न कि 'अनुमानोमि' की। इस प्रकार वेदान्त परिभाषा अर्धापत्ति के अनुमानरूप होने का खंडन करती है। न मात्र इतना ही वरन् वेदान्त परिभाषा के अनुसार केवलख्रव्यतिरेकी अनुमान को भी अर्थापत्ति नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि मात्र व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति संभव नहीं और व्याप्ति के अभाव में अनुमान संभव नहीं, अतएव, जिसे नैय्यायिक केवल व्यतिरेकी अनुमान' कहते हैं वह अर्थापत्ति है।

2) शास्त्र दीपिका के अनुसार अर्थापत्ति की आवश्यकता तभी होती है जब किसी विरोधी या संदेहास्पद स्थिति की व्याख्या करनी हो।।7 उदाहरणार्थ दिन में उपवास करने और मोटे होने में विरोध ाभास देखकर ही अर्थापत्ति की जाती है कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। किन्तु इस प्रकार की संदेहास्पद या विरोधी बात को अनुमान के लिङ्ग के तौर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योकि लिङ्ग सदैव निश्चित और विरोध रहित होना चाहिए। अतएव अर्थापत्ति अनुमान नहीं है।

3) अनुमान के लिए लिङ्ग अनिवार्य है किन्तु अर्थापत्ति में लिंग का सर्वथा अभाव है। वस्तुत: अर्थापत्ति की व्याख्या अनुमान की तरह करने में सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि इसमें लिङ्ग कौन-सा है? उदाहरणार्थ ''दिन में भोजन नहीं करने वाला मोटा है' की व्याख्या हम देवदत्त द्वारा

रात्रि में भोजन ग्रहण करने से करते हैं, तो प्रश्न है कि इसमें लिङ्ग कौन-सा है? दिन में भोजन करने को लिङ्ग माने तो इससे रात्रि में भोजन ग्रहण करना सिद्ध नहीं क्योंकि इससे देवदत्त का अलौकिक होना भी सिद्ध हो सकता है। इसी भाँति देवदत्त के मोटा होने की भी लिङ्ग नहीं माना जा सकता क्योंकि तब उसका दिन में भोजन करना भी इससे सिद्ध हो सकता है। यहाँ सम्मिलित रूप से देवदत्त का दिन में भोजन न करना और देवदत्त के मोटा होने को लिङ्ग माना जा सकता है किन्तु इससे अन्योन्याश्रय दोष होता है। क्योंकि जब तक हम देवदत्त के रात्रि में भोजन की बात नहीं मान लेते तब तक यह। कथन परस्पर विरोधी है कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी मोटा है। यहाँ ध्यातव्य है कि लिङ्ग को निश्चित और स्पष्ट होना चाहिए न कि परस्पर विरोधी या संदिग्ध।

4) अनुमान में लिंग और साध्य के बीच परस्पर संबंध रहता है। लिङ्ग का ज्ञान पहले होता है तथा साध्य का बाद में। ऊपर हम देख चुके हैं कि अर्थापत्ति को अनुमान मानन पर लिङ्ग और साध्य का यह संबंध स्थापित नहीं होता क्योंकि वहाँ बिना साध्य को स्वीकार किए लिङ्ग. की स्वीकृति संभव नहीं।

5) अनुमान के लिए व्याप्ति आवश्यक है किन्तु अगर अर्थापत्ति अनुमान का रूप है तो प्रश्न यह है कि यहाँ व्याप्ति की स्थापना कैसे होती है? यह व्याप्ति अन्वय के द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती। जैसे देवदत्त का दिन में उपवास करते हुए भी मोटा होने को देखकर उसके रात्रिभोज होने की कल्पना की जाती है किन्तु इसमें कोई भी अन्वय नहीं है क्योंकि ऐसा नहीं कहा जा सकता है जहाँ-जहाँ मोटा होन। पाया जाता है वहाँ-वहाँ रात्रि भोजी होना पाया जाता है।'' नैय्यायिक इस व्याप्ति की स्थापना व्यतिरेक के आधार पर करने की बात करते हैं। उसके अनुसार यहाँ व्याप्ति का स्वरूप है- ''जो रात में भोजन नहीं करता वह दिन में उपवास रह कर मोटा नहीं होता।''

किन्तु यहाँ ध्यान देने पर दोष दिखता है वास्तविक व्याप्ति की स्थापना अन्वय या व्यतिरेक के कुछ विशेष दृष्टांतों के आधार पर होती है जैसे "जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धुआँ है' (अन्वय) या "जहाँ-जहाँ धुआँ नहीं है वहाँ-वहाँ अग्नि नहीं है'' (व्यतिरेक) की स्थापना अग्नि और धुएँ की के कुछ दृष्टातो के आधार पर की जाती है। किन्तु ''जो रात में भोजन नहीं करता वह दिन में उपवास रहकर मोटा नहीं होता'' की स्थापाना किसी दृष्टांत के प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं की जाती। यहाँ दृष्टांत ''खाने और मोटे होने'' के होते हैं या ''नहीं खाने और नहीं मोटे होने के'' होते हैं। अत: जिसे नैय्यायिक व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण कहते हैं वह मात्र अनुभव विरोधी घटना (देवदत्त दिन में उपवास करता है फिर भी मोटा है) की व्याख्या के लिए की गई कल्पना है।

6) अनुमान और अर्थापत्ति एक दूसरे के विपरीत हैं। अनुमान में आधारवाक्य (आधार) से फल या परिणाम की ओर आते हैं, जबकि अर्थापत्ति में फल देखकर उसके कारण या आधार का ज्ञान होता है।

क्या अर्थापत्ति में अनुमान का अन्तर्भाव संभव है ?

वेदान्त मतानुसार केवल व्यतिरेकी अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में संभव है किन्तु यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या सभी प्रकार के अनुमानों का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में संभव है ? जैसे, अनुमान के इस उदाहरण का कि 'पर्वत पर धुआँ है इसलिए पर्वत पर आग है। इसका अन्तर्भाव निम्नलिखित रूप में अपत्ति में किया जा सकता है-

‘पर्वत पर धुआँ है और पर्वत पर धुआँ की व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि पर्वत पर अग्नि की कल्पना नहीं की जाए। अतएव पर्वत पर अग्नि है।’

किन्तु अगर इस भाँति प्रत्येक अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में कर दिया जाए तो अनुमान की स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत करने की आवश्यकता नहीं।

नोट

शास्रदीपिका में इसका उत्तर यह कह कर दिया गया है कि अनुमान और अर्थापत्ति में भेद है तथा दोनों ही स्वतंत्र और पृथक प्रमाण है। वेदान्त मतानुसार ऊपर के तर्क के द्वारा अनुमान को अथोपत्ति द्वारा सिद्ध दिखलाने की चेष्टा के रूप में ही स्वीकृत किया जाना चाहिए न कि अनुमान का अर्थापत्ति के अन्तर्भाव के रूप में, क्योंकि ऊपर की अथपित्ति मात्र तभी वैद्य है जबकि यह मान लिया जाए कि जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। किन्तु यह एक व्याप्ति है और व्याप्ति पर आधारित प्रमाण अनुमान ही हो सकता है न कि अर्थापत्ति अतएव अनुमान और अर्थापत्ति को एक नहीं समझा जाना चाहिए।

प्राक्कल्पना और अर्थापत्ति-पाश्चात्य तर्कशास्त्र में प्राक्कल्पना की अवधारणा पाई जाती है। डॉ0 डी0 एम0 दत्त ने अर्थापत्ति को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में वर्णित प्राक्कल्पना के समकक्ष किन्तु उससे भिन्न बतलाया है। इन दोनों में समानता यह है कि किसी दृश्य या श्रुत समस्या के समाधान के लिए प्राक्कल्पना भी की जाती है और अर्थापत्ति भी। किन्तु दोनों में निम्नलिखित भेद हैं-

1) प्राक्कल्पना को निश्चित नहीं माना जाता। इसे एक संभाव्य अटकल के तौर पर ही स्वीकार किया जाता है जिसके प्रमाणीकरण की आवश्यकता अनुभव की जाती है, किन्तु अर्धापत्ति को एक निश्चित ज्ञान अथवा प्रमाण की तरह स्वीकार किया जाता है तथा इसके किसी अन्य प्रमाणीकरण की आवश्यकता नहीं अनुभव की जाती।

2) अर्थापत्ति सदैव किसी विरोधाभास की स्थिति में की जाती है यथा दिन में उपवास रहने और मोटे होने में विरोधाभास दिखता है जिसकी व्याख्या के लिए अर्थापत्ति का सहारा लिया जाता है। किन्तु प्राक्कल्पना के लिए यह आवश्यक नहीं। जैसे बालू पर पड़े पैरों के निशान की व्याख्या के लिए यह प्राक्कल्पना की जाती है कि यहाँ से कोई गया है।

3) वेदान्ती और भाट्ट मीमांसक अर्थापत्ति को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु पाश्चात्य दार्शनिक प्राक्कल्पना को कहीं भी प्रमाण के रूप में स्वीकृत नहीं करते।

अर्थापत्ति की उपयोगिता।

1) मीमांसक वेद की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति का प्रयोग करते हैं। वहाँ दिए गए शब्दों की व्याख्या के लिए कुछ कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ता है। मीमांसक इसके लिए अर्थापत्ति का उपयोग करते हैं। उदाहरणार्थ वेदों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जगत ब्रह्म का रूपान्तरण है पुनः, वहाँ यह भी उल्लेख मिलता है कि ब्रह्म शाश्वत, चिरंतन तथा ऐसी सत्ता है जिसका परिवर्तित रूप यह जगत है। चूंकि यहाँ एक ही साथ ब्रह्म को चिरंतन तथा परिवर्तनशीलता कह दिया गया, इसलिए यहाँ एक विरोधाभास उपजता है। इन दो विरोधी शब्दों की व्याख्या के लिए इस अर्थापत्ति का सहारा लिया जाता है कि ब्रह्म का जगत में परिवर्तन विर्वत है।

2) वेदान्ती दृश्य और आभासिक जगत के तथ्यों की व्याख्या के लिए भी अर्थापत्ति का सहारा लेते हैं, जैसे कोई यह कहे कि ‘मेरा घर सड़क पर है’ तो यहाँ यह विरोधाभास दिखता है कि सड़क

के बीच किसी का घर कैसे हो सकता है ? इस विरोधाभास से बचन के लिए यह कल्पना की जाती है कि मेरा घर सड़क के किनारे है।' इस प्रकार अर्थापत्ति का प्रयोग तत्वमीमांसीय और दैनिक जीवन की घटनाओं की व्याख्या के लिए किया जा सकता है।

नोट

7.7 अनुपलब्धि

भारतीय दर्शन के प्रमुख नौ सम्प्रदायों (तीन नास्तिक और छः आस्तिक) में से मात्र भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती ही अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। वेदान्त और भाट्ट मीमांसा के मतानुसार अभाव का साक्षात ज्ञान अनुपलब्धि है। दूसरी ओर अन्य भारतीय दार्शनिक अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष अथवा अनुमानजन्य प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

वेदान्त मतानुसार अभाव के ज्ञान के कई साधन हो सकते हैं, जैसे 'इस समय देवदत्त वन में है' इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'इस समय देवदत्त घर में नहीं है। इस प्रकार कभी-कभी एक वस्तु को अन्यत्र उपस्थित जानकर किसी अन्य स्थान विशेष में इसके अभाव का ज्ञान होता है। अभाव का यह ज्ञान अनुमानजन्य है। दूसरी ओर कुछ स्थितियों में अभाव का ज्ञान शब्दों के माध्यम से भी होता है, यथा मेरे इस कथन से कि 'इस समय मेरे सिर में दर्द नहीं है आपको मेरे सिर में दर्द के अभाव का ज्ञान होता है। यह ज्ञान मेरे लिए भले अनुभूतिजन्य हो, आपके लिए शब्दजन्य ही है। इनके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में एक भिन्न प्रकार से भी अभाव का ज्ञान होता है, यथा इस समय इस कमरे में वक्ष की अनुपस्थिति (अभाव) का ज्ञान। वेदान्त मतानुसार यह ज्ञान न तो प्रत्यक्षजन्य है, न अनुमान अथवा शब्दजन्य। इसे ही वेदान्ती 'अनुपलब्धि' प्रमाण कहते हैं।

वेदान्त मतानुसार अनुपलब्धि अभाव का साक्षात ज्ञान है। उदाहरणार्थ 'यहाँ वृक्ष नहीं है', यहाँ वृक्ष के अभाव का ज्ञान एक साक्षात ज्ञान है।

तथापि अनुपलब्धि 'प्रत्यक्ष ज्ञान' से भिन्न है। वेदान्त मतानुसार घट के अभाव का ज्ञान घट के अदर्शन (अन् + उपलब्धि) के कारण होता है। अत: घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। वेदान्त परिभाषा में अनुपलब्धि की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ज्ञानरूप करण से उत्पन्न न होने वाले अभाव के अनुभव का जो असाधारण करण हो वही अनुपलब्धि कहलाता है। इसी अर्थ में वेदान्ती अनुपलब्धि को प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भिन्न मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण या प्रमा किसी-न-किसी विषय-रूप-करण से (यथा घटादि से) उत्पन्न होते हैं जबकि अनुपलब्धि का करण असाधारण (यथा 'घट का अभाव') होता है।

भाट्ट मीमांसक भी छठे प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं। इनमें से भाव का ज्ञान प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों से तथा अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है।

वेदान्तियों तथा भाट्ट मीमांसकों का यह अनुपलब्धि विषयक मत भारतीय दार्शनिक परम्परा में विवाद का विषय है। प्राभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति नामक पाँच प्रमाणों को ही स्वीकार करते हैं तथा अनुपलब्धि का खंडन करते हैं। प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार 'अभाव' की कोई सत्ता नहीं अतएव अभाव के ज्ञान के साधन के रूप में अनुपलब्धि प्रमा का वैध साधन नहीं है। न्याय मत, यद्यपि अभाव की वस्तुपरक सत्ता को स्वीकार करता है तथापि, अनुपलब्धि

प्रमाण को स्वीकार नहीं करता। इस मत के अनुसार अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। सांख्य मत भी प्राभाकरों की ही भाँति अभाव की वस्तुपरक सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इस मत के अनुसार अभाव (यथा घटाभाव) किसी अधिष्ठान की विशेषता है तथा अधिष्ठान की अन्य विशेषताओं की भाँति अभाव का ज्ञान भी अधिष्ठान के ज्ञान के साथ ही हो जाता है। योग मत भी 'अभाव' की वस्तुपरक सत्ता को अस्वीकार करते हैं तथा कहते हैं कि वस्तु का नहीं दिखना (अन् + उपलब्धि = अनुपलब्ध होना) वस्तु के 'अभाव' का द्योतक नहीं। वस्तुएँ तो कुछ अन्य कारणों से, यथा प्रकाश आदि की अनुपलब्धता अथवा इन्द्रिय दोष के कारण अनुपलब्ध हो जाती हैं। इस अनुपलब्धि से वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता। बौद्ध और वैशेषिक मात्र प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं। किन्तु बौद्ध और वैशेषिक मत में भेद है। वैशेषिक ज्ञात पदार्थों में 'अभाव' की भी गणना करते हैं। इस प्रकार वैशेषिक मत में अभाव की तत्त्वमीमांसीय स्थिति है। दूसरी ओर, अभाव विषयक बौद्धों का मत सर्वथा विलक्षण है। इस मत में अभाव अथवा प्रतिषेध की तत्त्वमीमांसीय सत्ता नहीं, किन्तु ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से प्रतिषेध तथा अनुपलब्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बौद्ध न्याय की समस्त अवध ारणा हेतु के त्रैरूप्य पर आधारित है। इस त्रैरूप्य हेतु के निर्धारण के लिए बौद्ध आचार्य स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि की चर्चा करते हैं। शब्दान्तर से हेतु के त्रैरूप्य के निर्धारण के निमित्त-रूप अनुपलब्धि बौद्ध न्याय में अनुपेक्षणीय है। अभाव की चर्चा करते हुए बौद्ध मत एक विलक्षण अवध ारणा-'अपोह' की चर्चा करते हैं। अपोहवाद के अनुसार किसी भी वस्तु का नामकरण वस्तु के विरोधी के प्रतिषेध की अभिव्यक्ति होती है, उदाहरणार्थ 'गो' शब्द 'अ-गौ-नहीं' को सूचित करता है।

नोट

भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'असत्', 'अलिक', 'तुच्छ', 'निरूपाख्येय', 'प्रतिषेध तथा 'नि:स्वभाव' जैसे पद 'अभाव' के पयार्यवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। प्राय: समस्त भारतीय दार्शनिक इस विषय में यह कहते हैं कि 'असत्' की व्याख्या 'सत्' के पदों में नहीं की जा सकती। इसे 'सत्' अथवा 'सत्ता' का विरोधी समझा जाना चाहिए। मध्वाचार्य के अनुसार 'असत्' कोई पदार्थ या तत्त्व नहीं बल्कि यह सत्ता का विरोधी है।

'अभाव' को 'असत्' के रूप में परिभाषित करने पर एक समस्या सामने आती है। 'असत्' एक संप्रत्यय है। प्रश्न है कि यदि 'असत्' सत्ता का विरोधी है तो इससे 'संप्रत्यय' कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि 'सत्ता' तो अपने विशुद्ध प्रत्ययवादी अर्थ में विचारमूलक या प्रत्ययात्मक ही है। दूसरी ओर 'असत्' को 'संप्रत्यय शुन्य' भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यदि 'असत्' संप्रत्यय शुन्य है तो इस पर विचार कैसे संभव है? इस समस्या का समाधान करते हुए 'असत्' को 'अज्ञेय' कहा गया है। वस्तुत: 'असत्' एक विरोधाभासपूर्ण शब्द है। इस शब्द के अर्थ का विरोधाभास यह है कि यह उसे ही संदर्भित करता है, जो नहीं है। इस अर्थ में असत् को एक छद्म संप्रत्यय (चेमनकव.पकमं) कहा जा सकता है।

भारतीय परम्परा में दार्शनिकों का एक बड़ा वर्ग 'अभाव' को 'असत्' के रूप में स्वीकार करना चाहता है। इस मत के अनुसार 'अभाव' की वस्तुपरक सत्ता नहीं। परन्तु 'असत्' के संप्रत्यय में निहित विरोधाभास को देखते हुए यह वर्ग अभाव की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या की चेष्टा करता है। दूसरी ओर भारतीय दार्शनिकों का एक बड़ा वर्ग 'अभाव' को 'असत्' से भिन्न मानता है। यह वर्ग अभाव की वस्तुसत्तामूलक व्याख्या करता है।

'असत्' पद की व्याख्या के इसी आलोक में हम आगे 'अभाव' पद की विवेचना करेंगे तथा यह देखने की चेष्टा करेंगे कि क्या 'अभाव' और 'असत्' पर्यायवाची पद हैं? तथा यदि ये पद पयार्यवाची नहीं है तो दोनों में क्या भेद हैं? तथा, यदि ये पद पयार्यवाची हैं तो ज्ञानमीमांसीय परम्परा में 'अभाव' का क्या स्थान है।

अभाव विषयक न्याय-वैशेषिक की अवधारणा

वैशेषिक दर्शन के अधिष्ठाता कणाद ऋषि ने जिन छः पदार्थों की चर्चा की है उनमें 'अभाव' पदार्थ की चर्चा नहीं है। इस संदर्भ में कुछ विद्वानों का यह मत है कि वैशेषिक सुत्र में कणाद ने 'असत्' को 'अभाव' के पयार्यवाची रूप में स्वीकार किया है। असत् की परिभाषा करते हुए कणाद ने कहा है कि जो सत् का विरोधी है वहीं अस्त् है।

वैशेषिक के परवर्ती आचार्यो, यथा प्रशस्तपाद आदि, ने कणाद के मूल छः पदार्थों में सातवें पदार्थ 'अभाव' की वृद्धि की। वैशेषिक अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ' की कोटि में रखते हैं। अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ' कहने का अर्थ यह है कि अभाव की धारणा अन्य पदार्थों के संदर्भ में ही बन पाती है। 'निरपेक्ष अभाव' एक छद्म संप्रत्यय है। इस अर्थ में 'अभाव' न तो सत् है न असत्। यद्यपि, वेदान्तियों की भाँति अभाव को 'सत्' और 'असत्' की कोटि से परे रखने के उपरान्त भी वैशेषिक 'अभाव' को 'अनिर्वचनीय' नहीं कहते।

वैशेषिक एक विशेष अर्थ में अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ' की संज्ञा देते हैं। वस्तुत: वैशेषिक एक यथार्थवादी दर्शन है। वैशेषिक का यह यथार्थवाद उनकी ज्ञानमीमांसा में भी स्थायी भाव से उपस्थित होता है। वैशेषिक ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद के अनुसार ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों ही यथार्थ और स्वतंत्र हैं। भावात्मक वस्तु, यथा घट के ज्ञान में 'घट' भी उपस्थित होता है तथा वस्तु का ज्ञान' (घट का ज्ञान) भी उपस्थित होता है, जबकि दूसरी ओर 'अभाव यथा 'घट-नहीं' के ज्ञान में 'घट-नहीं' का ज्ञान तो उपस्थित होता किन्तु 'घट-नहीं' स्वयं उपस्थित नहीं होता। वस्तुत:, वैशेषिक मतानुसार 'घट-नहीं या 'घट के अभाव' का ज्ञान 'घट' के संदर्भ में ही संभव है, अत: 'अभाव' न तो पूर्णत: सत् है न असत्। इसी अर्थ में वैशेषिक अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ कहते हैं।

इस प्रकार वैशेषिक अभाव को भाव के संदर्भ में समझने की चेष्टा करते हैं। कुछ नैय्यायिक भी 'अभाव' को इसी अर्थ में स्वीकृत करते हैं। वर्धमान उपाध्याय और शशधर आचार्य के अनुसार वैशेषिक के छः पदार्थों की अनुपस्थिति 'अभाव' है।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या अभाव छः पदार्थों की अनुपस्थिति मात्र है? यदि 'अभाव' को इस प्रकार के भाव पदार्थों के संदर्भ में समझने की चेष्टा की जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि अभाव 'भाव' को संदर्भित करता है। किन्तु तब यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होगा कि यदि 'अभाव' भाव को संदर्भित करता है तो अभाव और भाव में क्या भेद होगा ? यदि 'घट' भी घट (वस्तु) के सूचित (वस्तु) को ही सूचित करता तथा 'अ-घट' या 'घट का अभाव' की 'घट' (वस्तु) को ही सूचित करता है तो 'घट के भाव' तथा 'घट के अभाव' में क्या भेद होगा?

इस प्रश्न का सर्वाधिक सटीक और महत्वपूर्ण उत्तर वात्स्यायन ने दिया है। वात्स्यायन में मतानुसार 'घट का भाव' भावात्मक बोध की विषय-वस्तु है तथा 'घट का अभाव' अभावात्मक बोध की विषय-वस्तु है।

वात्स्यायन के इस विचार में चाहे जितनी भी असंगतियाँ हो, किन्तु वात्स्यायन का यह उत्तर ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि यहीं से न्याय वैशेषिकों का अभाव-विषयक तत्त्वमीमांसीय विवेचन ज्ञानमीमांसीय विवेचन की ओर प्रवृत्त होता है। यद्यपि वात्स्यायन ने अपनी दार्शनिक प्रतिस्थापनाओं में भावात्मक बोध और अभावात्मक बोध के अंतर को स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की है किन्तु परवर्ती उद्योतकर ने इस समस्या को गंभीर रूप से उठाया है तथा इसकी विवेचना की है। उद्योतकर ने भावात्मक और अभावात्मक ज्ञान की चर्चा करते हुए कहा है कि भावात्मक ज्ञान (कथन) स्वीकृतिमूलत होता है जबकि अभावात्मक ज्ञान (कथन) अस्वीकृतिमूलक होता है। इस संदर्भ में उद्योतकर ने वैशेषिकों तथा पूर्ववर्ती न्याय आचार्यों का पृष्टपोषण करते हुए कहा कि भावात्मक ज्ञान अभावात्मक ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता जबकि अभावात्मक ज्ञान या बोध भावात्मक ज्ञान अथवा अभावात्मक बोध के सापेक्ष होता है। 'घट के अभाव' को 'घट' के भाव के संदर्भ में ही समझा जा सकता है जबकि 'घट के भाव' को समझने के लिए 'घट के अभाव' को समझना आवश्यक नहीं। इस प्रकार नैय्यायिक उद्योतकर के मतानुसार 'अभाव' की निरपेक्ष वस्तुपरक सत्ता नहीं है।

नोट

यह मत न्याय दर्शन में सर्वस्वीकृत है कि अभाव की वस्तुपरक सत्ता है, किन्तु यह सत्ता 'निरपेक्ष' नहीं है। न्याय मतानुसार अभाव अधिष्ठान का विशेषण (विधेय या गुण) मात्र हैं। 'पृथ्वी में गंध है' -यह भावात्मक कथन न्याय मतानुसार पृथ्वी में 'गंध' की विशेषता अथवा गुण का कथन करता है। इसी भाँति 'जल में गंध नहीं है-यह कथन 'जल' में 'गंध के अभाव' के विशेषण अथवा गुण को बतलाता है।

7.8 अभाव के प्रकार

न्याय सूत्र 2/2/12 की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने 'उत्पत्ति के पूर्व वस्तु के अभाव' और 'नाश के अनन्तर वस्तु के अभाव', दो प्रकार के अभावों की चर्चा की है। न्याय दर्शन में चार प्रकार के अभाव बतलाए गए - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव घट की उत्पत्ति के पूर्व मृतिका मंर जो घट का अभाव होता है, वह 'प्रागभाव' है। घट के भग्न हो जाने के पश्चात् उसके भग्नावशेषों (घड़े के टुकड़ो में) जो घट का अभाव होता है वह 'प्रध्वंसाभाव' कहलाता है। वायु में 'रूप का अभाव' 'अत्यंताभाव' है तथा 'पट' का 'घट' न होना 'अन्योन्याभाव' है। नव्य-न्याय की पदाविल में कहें तो जिसकी उत्पत्ति न हो किन्तु जिसका नाश संभव हो वह प्रागभाव है। जिसकी उत्पत्ति हो । किन्तु जिसका नाश संभव न हो वह प्रध्वंसाभाव है। जिसकी उत्पत्ति भी न हो और नाश भी न हो और उसकी प्रतियोगिता संयोग, समवाय आदि किसी संबंध से अवछिन्न हो तो। वह अत्यंताभाव है तथा जिसकी प्रतियोगिता तदात्म्य नामक संबंध से अविछिन्न हो वह अन्योन्याभाव है। अन्नमभट्ट ने तर्कसंग्रह में प्रागभाव का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि प्रागभाव अनादि किन्तु सान्त होता है। यह कार्य की उत्पत्ति के पूर्व का अभाव है। प्रध्वंसाभाव का लक्षण बतलाते हुए यहाँ कहा गया है कि यह सादि किन्तु अनन्त है। कार्य की उत्पति के अनन्तर कारण का अभाव प्रध्वंसाभाव है। अत्यंताभाव त्रैकालिक अभाव है. 8 जैसे, अग्नि में शीतलता। का अभाव। यहाँ अग्नि में शीतलता न तो संयोग से संबद्ध हो पाती है न 'समवाय' के द्वारा अत: यह अभाव त्रयकालिक है। अन्नम्भट्ट

भूतल पर धट के अभाव को भी अत्यंताभाव ही कहते है क्योंकि 'भूतल पर' 'घट का अभाव' मात्र 'घट का अभाव' नहीं बतलाता वरन् 'भूतल पर' (अधिष्ठान विशेष पर) 'घट का अभाव' (वस्तु विशेष के अभाव) को बतलाता है। यह अभाव यह बतलाता है कि अधिष्ठान विशेष तथा वस्तु-विशेष में न तो संयोग का संबंध है न समवाय का। इस प्रकार अन्नम्भट्ट के अनुसार अत्यंताभाव दो वस्तुओं (यथा, अधिष्ठान और अधिष्ठेय) के बीच संयोग तथा समवाय संबंधों के अभाव की त्रिकालाबाधित अभिव्यक्ति है। अन्नभट्ट के अनुसार अन्योन्याभाव दो वस्तुओं के बीच तादातम्य का अभाव है, जैसे 'घट' 'पट' नहीं है।

अभाव विषयक अपने इस मत के आलोक में नैयायिक 'अभाव' के ज्ञान की भी चर्चा करते हैं। न्याय मतानुसार चूँकि अभाव की स्वयं निरपेक्ष वस्तुपरक सत्ता नहीं है तथा यह अधिष्ठान का विशेषण मात्र है अत: अधिष्ठान के ज्ञान के साथ ही 'अभाव' या 'अधिष्ठान पर वस्तु के अभाव' का ज्ञान होता है। 'इस भूमि पर घट नहीं है'- 'घट' के अभाव का यह ज्ञान' भूमि के ज्ञान से संयुक्त है। जैसे ही और जिस प्रकार से 'भूमि' का ज्ञान होता है वैसे ही और उसी प्रकार से भूमि पर 'घट के अभाव' का ज्ञान भी हो जाता है।

इस प्रकार नैय्यायिक अभाव के ज्ञान को भी प्रत्यक्षजन्य ज्ञान ही कहते हैं। न्याय मतानुसार जिस प्रकार भूमि के प्रत्यक्ष से उसकी लम्बाई, चौड़ाई आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार भूमि के प्रत्यक्ष से उस पर घट के 'अभाव' जैसे अभावात्मक गुणों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है।

परम्परागत न्यायमत प्रत्यक्ष को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञानम्' के रूप में परिभाषित करता है। प्रश्न है कि अभाव (जो अनुपस्थित है) उसका इन्द्रिय सन्निकर्ष कैसे संभव होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नैय्यायिक कहते हैं कि यह एक विशेष प्रकार का सन्निकर्ष है। न्याय मतानुसार वस्तु के विशेषण का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से ही संभव होता है तथा विशेषण का इन्द्रिय सन्निकर्ष एक विशेष प्रकार से होता है। न्याय-वैशेषिक के अभाव विषयक इस विवेचन में अनेक दोष और विसंगतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जो निम्नलिखित हैं-

प्रथमत: एक ओर तो न्याय का यथार्थवाद अभाव की वस्तुपरक सत्ता को स्वीकार करने को उत्सुक प्रतीत होता है, तथा वैशेषिक भी अभाव को सातवें पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, किन्तु दूसरी ओर यह न्याय-वैशेषिक 'अभाव' को अन्य पदार्थों की भाँति स्वतंत्र और निरपेक्ष पदार्थ का स्थान देने से भी परहेज करते हैं। न्याय वैशेषिक यहाँ स्पष्टत: यह स्वीकार करते हैं कि 'अभाव' एक 'सापेक्ष पदार्थ' है जिसकी धारणा अन्य भावात्मक पदार्थों के संदर्भ में ही बन पाती है। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या कोई भी ऐसी वस्तु, जो स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं है या जिसका होना, न-होना अन्य पदार्थों पर निर्भर करता है, 'पदार्थ' की सज्ञा पा सकता है ? तब, यदि 'अभाव' ठीक-ठीक अर्थों में 'पदार्थ' की संज्ञा नहीं पा सकता। उसे वैशेषिकों द्वारा पदार्थ की कोटि में रखे जाने का क्या औचित्य है? या, यदि 'अभाव' निरपेक्षत: पदार्थ है ही नहीं, तो नैय्यायिक इसकी वस्तुपरक सत्ताा को कैसे स्वीकार करते है? स्पष्टत: न्याय वैशेषिक की अभाव की अवधारणा की संगति उनकी तत्त्वमीमांसा से नहीं बैठ पाती।

यही नहीं, नैयायिक अभाव की जो ज्ञानमीमांसीय व्याख्या करते हैं, उस व्याख्या की संगति भी नैय्यायिकों के ज्ञानमीमांसा से नहीं बैठ पाती। नैय्यायिक एक ओर तो अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्षजन्य

कहते हैं तथा दूसरी ओर प्रत्यक्ष को 'इन्द्रियाथसान्नकषजन्य ज्ञान' की संज्ञा देते है। इस संदर्भ में प्रश्न यह है कि जो है उस अर्थ या विषय का तो इन्दिय्र संपर्क संभव होगा, किन्तु जो नहीं है (अभाव) उसका इन्दिय से सन्निकर्ष कैसे संभव होगा? ऐसी स्थिति में नैयायिक या तो यह स्वीकार करें कि अभाव का ज्ञान किसी प्रत्यक्षेत्तर साधन से होता है अथवा प्रत्यक्ष विषयक अपनी परिभाषा को परिवर्तित करें। स्पष्टत: अभाव का ज्ञानमीमांसीय विवेचन भी न्याय की ज्ञानमीमांसा में असंगति उत्पन्न करता है।

नोट

इस आक्षेप के उत्तर में नैय्यायिक यह कहते हैं कि अभाव के प्रत्यक्ष की स्थिति में इन्द्रिय से विषय का सम्पर्क 'असाधारण होता है। तब, यहाँ प्रश्न यह है कि यह 'असाधारण संपर्क' कैसा है ? न्याय इसकी कोई उचित विवेचना नहीं देते।

नैयायिक इस मत के समर्थक हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। न्याय मतानुसार अभाव एक प्रकार का सापेक्ष पदार्थ है, तथा इसका ज्ञान अधिष्ठान की विशेषता के रूप में होता है। जैसे, भूमि के प्रत्यक्ष से जिस प्रकार भूमि की अन्य विशेषताओं, यथा लम्बाई, चौड़ाई आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार भूमि के प्रत्यक्ष से ही भूमि पर घट के 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार न्याय मतानुसार, अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है, इसके लिए 'अनुपलब्धि' को प्रमाण स्वरूप स्वीकार करना अनावश्यक या अनुचित है।

नैयायिकों के इस मत के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की गई हैं।

भाट्ट मीमांसकों ने अनुपलब्धि को स्वतंत्र ज्ञान की कोटि में रखते हुए विविध तर्को से यह प्रमाणि ात करने की चेष्टा की है कि अनुपलब्धि और प्रत्यक्ष में भेद है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्यक्ष मात्र उन्हीं वस्तुओं का संभव है जिनमें रंग, रूप, गंध आदि भौतिक गुण होते हैं। अभाव का रंग, रूप, गंध आदि नहीं होता। अत: इसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी संभव नहीं है।

द्वितीयत: प्रत्यक्ष मात्र उन्हीं वस्तुओं का हो सकता है जो अस्तित्त्ववान हों और इन्द्रिय सम्पर्क के योग्य हों। चूँकि 'अभाव' में वस्तु उपस्थित नहीं होती अत: इसका इन्द्रिय संपर्क भी संभव नहीं। इस प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष संभव नहीं।

तृतीयत: नैय्यायिकों का यह कहना उचित नहीं कि अभाव अधिष्ठान का विशेषण है। 'क' को 'ख' का विशेषण तब तक नहीं कहा जा सकता है जब तक 'क' और 'ख' में विशेष्य-विशेषण संबंध न हो। चूँकि संबंध सदैव उभयपदीय ही होता है अत: अभाव और अधिष्ठान में विशेष्य-विशेषण संबंध संभव नहीं होगा क्योंकि यहाँ विशेष्य (अधिष्ठान) तो उपस्थित होता है किन्तु संबंध का दूसरा पद विशेषण या 'अभाव' अनुपस्थित होता है। इस दूसरे पद के अभाव में यहाँ विशेष्य-विशेषण संबंध ही संभव नहीं होता, अत: यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अभाव प्रत्यक्षगम्य है।

बौद्ध मत

प्रत्ययवादी बौद्धों का अभाव विषयक मत यथार्थवादी नैय्यायिकों के मत से सर्वथा भिन्न है। न्याय-वैशेषिक अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ' कहते हैं। यथार्थवादी नैय्यायिकों के अनुसार निषेध की यथार्थ वस्तुपरक सत्ता है, यद्यपि यह सत्ता स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं है।

इसके ठीक विपरीत बौद्ध 'अभाव' की वस्तुपरक सत्ता का खंडन करते हैं। बौद्ध मतानुसार अभाव

'तत्त्व' है ही नहीं। 'अभाव' की समस्या तत्त्वमीमांसीय न होकर ज्ञानमीमांसाय समस्या है। अभाव विषयक प्रश्न यह नहीं है कि 'अभाव' क्या है ? अपितु अभाव-विषयक प्रश्न यह है कि अभाव (यथा घटाभाव) का ज्ञान कैसे होता है ? बौद्ध मतानुसार अभाव की समस्या एक भाषागत समस्या है जो शब्दों के भ्रामक स्वरूप के कारण या अभिव्यक्ति दोष के कारण उत्पन्न होती है।

नोट

बौद्ध तार्किकों के मतानुसार 'अभाव' कोई वस्तु या तत्व नहीं है। यह एक आत्मनिष्ठ प्रत्यय हैं जो किसी देशकाल विशेष में किसी वस्तु विशेष की अनुपस्थिति से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ कोई ज्ञाता जब किसी वस्तु, यथा घट, को किसी स्थान विशेष में देखना (पाना) चाहता है, किंतु उसे देख नहीं पाता (घट का अदर्शन) तो उसे वह 'वस्तु के अभाव' (घटाभाव) की संज्ञा दे देता है। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार अभाव का विचार एक ऐसी अनुभूति से उत्पन्न होता है जो अनुभूति ज्ञाता की चेतना में संपन्न नहीं हो पाती। अपने विवेचन को आगे बढ़ाते हुए बौद्ध विज्ञानवादी यह कहता है कि 'घट का अदर्शन' 'घट के अभाव' का घोतक नहीं है वस्तुत: इस स्थान पर घाट का अदर्शन होने पर भी अन्यत्र यह घट उपस्थित है अत: 'घट का अभाव' वस्तुत: असंभव है। इसी रूप में 'अभाव' शब्दबोधगम्य होने के बावजूद असंभव है आचार्य धर्मकीर्ति ने न्यायबिंदु तथा प्रमाण ावार्तिक में 'अनुपलब्धि' की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। न्यायबिंदु के अनुसार सम्यक् ज्ञान से ही समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। इस सम्यक् ज्ञान के दो रूप हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान। इनमें कल्पनारहित निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। जिसका विषय स्वलक्षण है। अनुमान, पुन: दो प्रकार के है- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। इनमें त्रिरूपलिंग से प्राप्त अनुमेय के ज्ञान को स्वार्थानुमान तथा त्रिरूपलिंग का कथन परार्थानुमान है। त्रिरूपलिंग का ग्रहण तीन प्रकार से अथवा तीन रूपों में होता है-स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि।

इस प्रकार बौद्ध मत में अनुपलब्धि को त्रैरूप्य लिग का एक रूप कहा गया है। अनुपलब्धि की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त वस्तु का किसी स्थान विशेष में अनुपलब्ध होना अनुपलब्धि है। जैसे 'घट' नामक वस्तु में उपलब्धि लक्षण है (अर्थात् यह दृश्यमान अथवा स्पृश्यमान है) किन्तु इस स्थान पर 'घट' वस्तु का नहीं दिखना 'घट' की अनुपलब्धि है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार अनुपलब्धि 'अभाव' अथवा 'असत्' को नहीं बतलाता वरन् अनुपलब्धि 'सत्' को ही संदर्भित करती है। अनुपलब्धि का अर्थ 'योग्यानुपलब्धि' है, अर्थात् जिस वस्तु में उपलब्ध होने की योग्यता हो (भाव-रूप घट) उसका न होना (ज्ञान न होना) अनुपलब्धि है।

स्पष्टत: धर्मकीर्ति के अनुसार 'अभाव' कोई तत्त्वमीमांसीय समस्या नहीं वरन् यह एक ज्ञानमीमांसीय तथ्य है। बौद्ध क्षणभंगवाद के अनुसार 'सत्' स्थायी नहीं। यह एक निरन्तर परिवर्तनशील अस्थायी प्रवाह मात्र है, जो उत्पन्न होने के साथ नष्ट होता है और नष्ट होने के साथ उत्पन्न होता है। वस्तुत: यह 'सत्' इस प्रकार क्षणिक और विलक्षण है कि इसे 'क्षणिक' का नाम भी नहीं दिया जा सकता तथा न ही 'उत्पाद' तथा 'विनाश' शब्द इसे सदर्भित कर पाते हैं। यह सत् इतना क्षणिक और नि:स्वभाव है कि इसे 'सत्-असत्' अथवा 'भाव-अभाव' की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। यह सत् 'अविछिन्न' है अतएव इसे 'भाव-अभाव' में बाँटा भी नहीं जा सकता। 'भाव' और 'अभाव' तो वस्तुत: एक ही वस्तु की अभिक्यक्ति के दो रूप मात्र है। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार 'अभाव' अथवा निषेध की कोई वस्तुपरक सत्ता नहीं। तथापि इसे बांध्या-माता' की तरह 'असत्' भी नहीं कहा जा

सकता। 'अभाव' से हमारी व्यावहारिक अपेक्षाओं की पूर्ति होती है, अतएव अभाव अर्थक्रियाकारित्व सम्पन्न है। अर्थक्रियाकारित्व सम्पन्न होने के कारण ही अभाव को 'असत्' नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह 'असत्य' भी नही। वस्तुतः अभाव की ज्ञानमीमांसीय स्थिति है। 'अभाव' एक अवध ारणा है जो अवधारणा मानसिक निर्मिति (डमदजंस बवदेजतनबज) अथवा 'कल्पना की उत्पत्ति' है। बौद्ध मत में ज्ञान कभी भी अनुभव की सीमा नहीं लाँघता। यहाँ सत्ता अथवा 'स्वलक्षण' ज्ञाता के अनुभवों में साक्षात् प्रदत्त है जिस स्वलक्षण को आधार बनाकर कल्पना ज्ञान के समस्त प्रसाद का निर्माण करती है। निषेध का अवबोध भी भाव की भाँति अनुभूति की सीमाओं से बंधा है। तथापि 'भाव के अवबोध' और 'अभाव के 'अवबोध' में एक भेद होता। है। वह भेद इस प्रकार है कि भाव का अवबोध स्वलक्षण प्रसूत होता है जबकि अभाव का अवबोध कल्पना-प्रसूत है। यहाँ घट है तथा यहाँ घट नहीं है' ये दोनों ही ज्ञान नाम-रूपात्मक होने के कारण यथार्थ और कल्पना का सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं किन्तु, इन दोनों कथनों में भेद यह है कि यहाँ घट है' में 'यहाँ' (स्थान अथवा अधिष्ठान) का बोध भी स्वलक्षण प्रसूत है तथा 'घट' (वस्तु) का बोध भी स्वलक्षण प्रसूत है किन्तु 'यहाँ घट नहीं है' में 'यहाँ' का बोध स्वलक्षण प्रसूत है तथा 'घट नहीं' (वस्तु के अभाव) का बोध स्मृति-प्रसूत हैं।

नोट

इस प्रकार बौद्ध मतानुसार भाव और अभाव के बोध का भेद प्रकारमूलक न होकर मात्रामूलक होता है। इन दोनों प्रकार के अवबोधो में 'सत्' और 'कल्पना' के सम्मिश्रण में मात्रा भेद होता है, प्रकार भेद नहीं। बौद्ध मत स्पष्ट कहता है कि भाव और अभाव में कोई तात्त्विक भेद नहीं। निषेधात्मक और भावात्मक अभिकथन एक ही वस्तु की दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ है। स्पष्टतः चूँकि भाव और अभाव में कोई तात्त्विक भेद नहीं, अतः बौद्ध मतानुसार जिस प्रमाण से वस्तु की उपस्थिति को जाना जाता है उसी प्रमाण से वस्तु की अनुपस्थिति को भी जान लिया जाता है। इस प्रकार बौद्ध अनुपलब्धि प्रमाण का खंडन करते हैं।

तर्कशास्त्र एवं ज्ञानमीमांसा में 'अभाव' और अभाव को व्यक्त करने वाले निषेधात्मक कथनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र में भाव और निषेध (अभाव) को परस्पर बहिष्कारक अथवा व्याघातक समझा जाता है। यहाँ निषेध किसी भी प्रतिज्ञप्ति अथवा तर्कवाक्य के गुणात्मक परिवर्तन के लिए उपयोगी है। पुनः किसी तर्कवाक्य में निषेधात्मक चिह्नों के प्रयोग से भावात्मक कथन का सत्यता मूल्य भी बदल जाता है, उदाहरणार्थ 'प' में निषेधात्मक चिह्न '-' जोड़ देने से 'प' का सत्यतामूल्य बदल जाता है। वस्तुत द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र व्याघात नियम पर आधारित है जिसके अनुसार भाव और निषेध का संबंध परस्पर व्याघातक हैं तथा भाव और निषेध (अभाव) में गुणात्मक भेद हैं।

बौद्ध ज्ञानमीमांसा, इससे भिन्न, भाव और निषेध (अभाव अथवा प्रतिषेध) के बीच इस प्रकार के संबंध को नकारती है। बौद्ध मत न तो भाव और निषेध को परस्पर व्याघातक मानता है और न ही इनके बीच किसी प्रकार का गुणात्मक भेद मानता है। बौद्ध मत के अनुसार भाव और निषेध एक ही सत्ता के दो प्रकार के कथन हैं अतएव भाव और निषेध परस्पर बहिष्कारक (व्याघातक) न होकर परस्पर-परिपूरक है। साथ ही, बौद्ध मत के अनुसार भाव और निषेध का अंतर गुणात्मक न होकर मात्रात्मक है।

भाव और निषेध के बीच इस प्रकार का भेद और संबंध न मानने से द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र का आधार, व्याघात का नियम, खंडित होता है।

अनुपलब्धि के प्रकार – धर्मकीर्ति ने दो प्रकार के प्रतिषेध अथवा अनुपलब्धि की चर्चा न्यायबिंदु में की है–

- विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि
- स्वभावानुपलब्धि

विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि – वैसे विषय, जिनमें उपलब्धि की योग्यता का अभाव की हो, उनकी अनुपलब्धि 'विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि' कहते हैं। काल्पनिक विषय, यथा स्वर्णमेरु (सोने का पहाड़) की अनुपलब्धि विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि है क्योंकि स्वर्णमेरु में उपलब्धि की योग्यता का अभाव है। विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि का कोई तार्किक अथवा ज्ञज्ञनमीमांसीय महत्त्व नहीं होता। अलौकिक वस्तुएँ, यथा भूत प्रेतादि प्रत्यक्षगम्य नहीं अतएव इनकी अनुपलब्धि का कोई तार्किक अथवा तात्विक आध ार नहीं। इस प्रकार की अनुपलब्धि को 'विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि' कहा जाता है।

स्वभावानुपलब्धि – अनुपलब्धि का अर्थ है, योग्यानुपलब्धि, अर्थात वैसी वस्तुएँ जो प्रत्यक्षगम्य हो अथवा उपलब्धि की योग्यता से युक्त हो, उनकी अनुपलब्धि का ही तार्किक एक तात्त्विक महत्त्व होता है। ऐसी वस्तुएँ, जो उपलब्धि की योग्यता से युक्त होते हुए भी अनुपलब्ध हों, उनकी अनुपलब्धि को 'स्वभावानुपलब्धि कहते हैं। धर्मकीर्ति ग्याहर प्रकार की स्वभावनुपलब्धियों की चर्चा करते हैं

- स्वाभावानुपलब्धि (प्रतिषेध्य के स्वभाव की अनुपलब्धि) जैसे, 'यहाँ धूम्र नहीं है।'' यहाँ धूम्र (प्रतिषेध्य विषय) उपलब्धि लक्षण से युक्त होने पर भी यहाँ उपलब्ध नहीं है।
- कार्यानुपलब्धि (प्रतिषेध्य के कार्य की अनुपलब्धि) जैसे, है, यहाँ धूम्र नहीं है क्योंकि यहाँ धूम्र द्वारा उत्पन्न कालिमा (प्रतिषेध्य विषय 'धूम्र' का कार्य)अनुपलब्ध है।
- व्यापकानूपलब्धि (प्रतिषेध्य व्याप्य के व्यापक धर्म की अनुपलब्धि) जैसे यहाँ शिशपा (प्रतिषेध्य व्याप्य) नहीं है क्योंकि यहाँ वृक्ष (व्यापक) अनुपलब्ध हैं।
- स्वभावविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्य के स्वभाव विरुद्ध की उपलब्धि), जैसे यहाँ शीत (प्रतिषेध्य विषय) नहीं है क्योंकि यहाँ अग्नि (शीत का स्वभावविरुद्ध विषय) उपलब्ध है।
- विरुद्धकायपलब्धि (प्रतिषेध्य के विरुद्ध कार्य की उपलब्धि), यथा, यहाँ शीत (प्रतिषेध्य विषय) नहीं है क्योंकि यहाँ धूम्र (प्रतिषेध्य के विरोधी विषय अग्नि का कार्य) उपलब्ध हैं।
- विरुद्धव्याप्तोपलब्धि (प्रतिषेध्य के विरुद्ध से व्याप्त धर्मातर की उपलब्धि) यथा, उत्पन्न हुई वस्तु का नाश भी अवश्यम्भावी है क्योंकि वह हेत्वातंर की अपेक्षा रखता है।
- कार्यविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्य के कार्य के विरुद्ध की उपलब्धि) यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले शीत का कारण नहीं है क्योंकि यहाँ अग्नि (प्रतिषेध्य के कार्य का विरोधी) उपलब्ध हैं।
- व्यापकविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्य के व्यापक के विरुद्ध की उपलब्धि) यहाँ शीत-स्पर्श नहीं है क्योंकि यहाँ अग्नि है।
- कारणानुपलब्धि (प्रतिषेध्य के कारण की अनुपलब्धि) जैसे, यहाँ पर धूम्र (प्रतिषेध्य विषय)

नहीं है क्योंकि यहाँ अग्नि (धूम का कारण) अनुपलब्ध है।

- कारणविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्य के कारण के विरुद्ध की उपलब्धि) जैसे, इस पुरुष को रोमहर्ष आदि नहीं हो रहे हैं, क्योंकि उसके पास अग्नि-विशेष
- कारणविरुद्धकार्योपलब्धि (प्रतिषेध्य कारण के विरुद्ध कार्य की उपलब्धि) जैसे, इस प्रदेश में रोमहर्ष आदि से युक्त पुरुष नहीं है क्योंकि यहाँ धूम्र है।

नोट

प्रभाकर मत

अभाव के विषय में प्रभाकर मीमांसकों का मत बौद्ध प्रत्ययवादियों के मत के समकक्ष हैं। प्राभाकर भी अभाव की वस्तुपरक सत्ता को अस्वीकार करते हैं। प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार अभाव 'गो' 'घट' आदि वस्तुओं की भाँति यथार्थ नहीं हैं। किसी प्राक्कलित वस्तु के अदर्शन से अभाव की धारणा उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, यदि इस कमरे में हम घट का दर्शन करना चाहते तथा घट का दर्शन न कर पाए तो 'घट के अभाव' की धारणा का जन्म होता है। इस प्रकार 'अभाव' और रिक्ताधिष्ठान (खाली स्थान) दोनों एक ही हैं। यह कहना कि 'यहाँ पर घट का अभाव है' यह कहने के समान है कि यह अधिष्ठान घट से रिक्त है।'

स्पष्टत: प्रभाकर मीमांसक भी नैय्यायिकों की ही भाँति 'अभाव' को 'अधिष्ठान' के संदर्भ में ही व्याख्यायित करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ नैय्यायिकों और प्राभाकरों के बीच भेद मात्र इतना है कि नैय्यायिक अभाव को 'अधिष्ठान का विशेषण या गुण' कहते हैं जबकि प्राभाकर अभाव को 'अधिष्ठान की रिक्तता' के द्वारा परिभाषित करते हैं।

प्रभाकर मतानुसार अधिष्ठान का ज्ञान चूँकि प्रत्यक्ष द्वारा होता है और चूँकि अभाव 'रिक्ताधिष्ठान' है अत: अभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्षजन्य ही है। अभाव का ज्ञान किसी 'निषेधात्मक सत्ता का भावात्मक ज्ञान न होकर 'भावात्मक सत्ता का निषेधात्मक ज्ञान' है। यहाँ 'निषेधात्मक ज्ञान के विषय में भी प्रभाकर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि निषेधात्मक ज्ञान भी एक प्रकार का शब्द जाल है। वस्तुत: ज्ञान तो सदैव भावात्मक ही होता है। जिसे हम 'निषेधात्मक ज्ञान' कहते हैं, वह भी वस्तुत: भावात्मक ही है।

ध्यातव्य है कि प्रभाकर मीमांसक यद्यपि अभाव या निषेध की वस्तुपरक सत्ता नहीं मानते और स्वीकार करते हैं कि अभावात्मक कथन किसी भी 'यथार्थ तथ्य' को सूचित नहीं करते, तथापि प्राभाकर मतानुसार निषेधात्मक कथन भी वैध हो सकते हैं। इन निषेधात्मक कथनों की वैधता इसमें निहित नहीं होती कि ये कथन किसी निषेधात्मक या अभावात्मक तथ्य' को सूचित करते हैं, बल्कि इन कथनों की वैधता इसलिए स्वीकार्य है कि ये कथन 'सत्ता' को सूचित करते हैं, जो सत्ता सदैव भावात्मक है।

वेदान्तियों और भाट्ट मीमांसकों ने अभाव विषयक प्राभाकरों के इस मत पर निम्नलिखित आक्षेप किए हैं–

- रिक्त आधार या रिक्त अधिष्ठान मात्र के प्रत्यक्ष से अभाव का ज्ञान सम्पन्न मानने में कठिनाई है। 'रिक्त आधार' का अर्थ है "वह आधार जिसमें प्रत्येक वस्तु का अभाव होगा।' ऐसी स्थिति में रिक्त आधार के प्रत्यक्ष से 'यहाँ घट नहीं है' का ही ज्ञान क्यों होता है ?
- यदि भूतल पर कोई भी वस्तु (यथा घट) उपस्थित है तो इसे 'रिक्ताधार' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वैसी भूमि, जिस पर 'पट' तो उपस्थित है किन्तु 'घट' नहीं उसे देखकर

'यहाँ घट नहीं है' का बोध किस प्रकार होता है?

नोट

- प्रभाकर मत से ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'रिक्त आधार' और 'वस्तु के अभाव' को एक ही मानते हैं, किन्तु वेदान्त मतानुसार रिक्ताधार' और 'वस्तु के अभाव में भेद है। 'रिक्ताध ार' का अर्थ है 'वह अधिार जिस पर सभी वस्तुओं का अभाव हो, अर्थात वस्तुओं के अभाव का आधार।' 'वस्तु के अभाव' तथा वस्तुओं के अभाव का अधार'– इन दोनों में भेद है।
- वेदान्त मतानसार 'रिक्ताधार' का अर्थ है 'वस्तुओं के अभाव का आधार।' प्रभाकर यह समझते हैं कि 'रिक्ताधार' का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है जबकि वस्तुत: आधार अथवा धिष्ठान का ज्ञान तो प्रत्यक्ष से संभव है किन्तु 'आधार के रिक्त होने का ज्ञान वस्तुत: 'अभाव' का ज्ञान है, न कि यह 'आधार' का ज्ञान है। वेदान्त के अनुसार अभाव' का यह ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा होता है। जब तक 'आधार में अभाव' का ज्ञान न हो तब तक रिक्ताध ार का ज्ञान भी संभव नहीं। इस प्रकार रिक्ताधार का ज्ञान ही अनुपलब्धि के बिना संभव नहीं।

भाट्ट मत

मीमांसक होने के बावजूद कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायियों का अभाव विषयक मत प्रभाकर मीमासंक की अपेक्षा न्याय-वैशेषिक मत के अधिक निकट प्रतीत होता है। जहाँ एक ओर प्रभाकर अभाव की तत्त्वमीमांसीय सत्ता को नकारते हैं तथा ज्ञानमीमांसीय रूप ने 'अभाव' के ज्ञान का साधन 'प्रत्यक्ष' को बतलाते हैं वहीं दूसरी ओर न्याय-वैशेषिक 'अभाव' की वस्तुपरक (तत्त्वमीमांसीय) सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा ज्ञानमीमांसीय रूप से अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष अथवा अनुमानजन्य बतलाते हैं। इन दो मतों के बीच कुमारिल भट्ट तथा उनके समर्थक नैय्यायिकों की ही भाँति अभाव की वस्तुपरक सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किंतु दूसरी तरफ नैय्यायिकों से भिन्न वेदान्तियों की भाँति अभाव के ज्ञान के प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि को स्वीकार करते हैं। भाट्ट मीमांसक बलपूर्वक नैय्यायिकों, प्रभाकरों, सांख्यों तथा बौद्धों के इस मत का विरोध करते हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमानजन्य है।

मीमांसा शास्त्र के प्रारंभिक ग्रंथों में अभाव की समस्या का विधिवत निरूपण नहीं मिलता है। जैमिनीसूत्र में दो प्रकार के निषेध की चर्चा मिलती हैख्रपर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध। इस समस्या का सर्वप्रथम ज्ञानमीमांसीय विवेचन शाबरभाष्य में पाया जाता है। परवर्ती कुमारिल भट्ट नै अभाव के तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया है।

भाट्ट मीमांसा के मतानुसार भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं। इस प्रकार जितना सत्य 'भाव' है उतना ही सत्य 'अभाव' भी है। 'अभाव' का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य पाँच प्रमाणों से नहीं होता। अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। कुमारिल न्याय वैशेषिकों के इस मत का खंडन करते हैं कि 'अभाव' अधिष्ठान की विशेषता है। दूसरी और भाट्ट मीमांसक सांख्यों और प्राभाकरों के इस मत का भी खंडन करते है कि अभाव 'रिक्ताधिष्ठान' है। भाट्ट मीमांसक अभाव को 'अधिष्ठानातिरिक्त तत्त्व' (अधिष्ठान के अतिरिक्त स्वतंत्र वस्तु) कहते है

भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है। अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्षादि अन्य पाँच प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति से भिन्न है। इन पाँच प्रमाणों से जहाँ

'भाव' का या सत्ता के भाव-पक्ष का ज्ञान होता है वहाँ अनुपलब्धि से सत्ता के अभाव पक्ष का ज्ञान होता है।

प्राभाकर और भाट्ट दोनों ही मूलतः मीमांसक है। स्वभावतः ऐसी अपेक्षाएँ बनती है कि दोनों की तत्त्वमीमांसीय गवेषणाओं में दार्शनिक समानताएँ होंगी। अभाव विषयक भाट्ट और प्रभाकर मीमांसकों की तत्त्वमीमांसीय गवेषणा में प्रारंभिक समानताएँ दृष्टिगोचर भी होती है, किन्तु बहुत जल्दी ही दोनों मतों का अंतर भी सामने आ जाता है।

जहाँ तक 'सत्ता' के स्वरूप का प्रश्न है- कुमारिल और प्रभाकर दोनों ही 'सत्ता' को 'यथार्थ' के पदों में समझने की चेष्टा करते हैं। इन दोनों के अनुसार 'सत्ता' यथार्थ है। साथ ही प्रभाकर और भाट्ट दोनों ही यह मानते हैं कि भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों का मतभेद भाव और अभाव के सबंध को लेकर प्रारंभ होता है। प्रभाकर मीमांसक जहाँ यह मानते हैं कि 'भाव' ही सत्य है तथा अभाव या निषेध का अन्तर्भाव अन्ततः 'भाव' में होता है, वहाँ कुमारिल तथा उनके समर्थक यह मानने है कि सत्य मात्र 'सत्ता' है और उस सत्ता के संदर्भ में 'भाव' भी उतना ही सत्य है जितना कि अभाव'। साथ ही कुमारिल यह भी स्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि भाव का अभाव में तथा अभाव का भाव में अन्तर्भाव संभव नहीं। सत्ता के संदर्भ में वे भाव और अभाव दोनों को ही अपरिहार्य मानते हैं क्योंकि भाव और अभाव दोनों ही सत्ता को दो विविध पक्षों या रूपों में अभिव्यक्ति करते हैं।

प्राभाकर और कुमारिल मत का दूसरा भेद यह है कि प्राभाकर जहाँ अभाव को 'रिक्त अधिष्ठान के रूप में परिभाषित करते हैं वहाँ कुमारिल अभाव को 'अधिष्ठानातिरिक्त तत्त्वम्' कहते हैं।

इन दोनों मतों में तीसरा और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि जहाँ प्राभाकर अभाव को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं वहाँ कुमारिल अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ज्ञात स्वीकार करते हैं। इस संबंध में दोनों आचार्यों और उनके अनुयायियों के अलग-अलग तर्क हैं।

वेदान्त मत

अभाव विषयक वेदान्त मत भाट्ट मीमांसकों के मत के अधिक निकट प्रतीत होता है। अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य ने अभाव का तत्त्वमीमांसीय विवेचन तो नहीं किया है किन्तु अभाव विषयक अपने ज्ञानमीमांसीय विवेचन में 'अभाव' के भाव से पृथक बोध को स्वीकार किया है। शंकराचार्य की तत्त्वमीमांसा के आधार पर विद्वज्जन यह अनुमान करते हैं कि शंकराचार्य निषेध या अभाव की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि 'शंकर के अद्वैतवेदान्त के अनुसार एकमात्र पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म ही है जो 'सच्चिदानन्द' है। स्पष्टतः शंकराचार्य का निषेध विषयक मंतव्य निषेध को एक ज्ञानमीमांसीय व्यवाहारिक तथ्य मात्र स्वीकार करने तक सीमित है।

धर्मराजध्वरीन्द्र ने भी अपने ग्रंथ वेदान्त परिभाषा में 'अभाव' का ज्ञानमीमांसीय विवेचन प्रस्तुत किया है। वे 'अभाव' की अपेक्षा अनुपलब्धि' के स्वरूप निरूपण की ओर अधिक सजग प्रतीत होते हैं। यहाँ 'अभाव' के भेदों का भी निरूपण भी तत्त्वमीमांसीय की अपेक्षा ज्ञानमीमांसीय ही अधिक है।

अभाव के प्रकार है- वेदान्त परिभाषा के अनुसार अनुपलब्धि की विषय-वस्तु अभाव है। अभाव चार प्रकार के है- (क) प्रागाभाव, (ख) प्रध्वंसाभाव, (ग) अन्योन्याभाव, तथा (घ) अत्यंताभाव। प्रागाभाव - प्राक् + अभाव अर्थात् पूर्व का अभाव। किसी भी कार्य का अस्तित्व में आने के पूर्व

अपने कारण में अभाव प्रागाभाव कहलाता है। जैसे घट के अस्तित्व में आने के पूर्व मृतिका में घट का अभाव प्रागाभाव है।

नोट

इस अभाव के ज्ञान से भविष्यवाणी की जा सकती है जैसे मृतिका में घट के अभाव के ज्ञान से यह निर्णय दिया जा सकता है कि 'घट अस्तित्व में आएगा। 'घट का अभाव' - इस प्रकार का निर्णय चारों प्रकार में से किसी भी अभाव की सूचना दे सकता है जबकि 'घट अस्तित्व में आएगा' - यह निर्णय प्रागाभाव की सूचना देता है।

नैय्यायिकों के अनुसार प्रागाभाव अनादि किन्तु सान्त है। किसी भी वस्तु का अस्तित्त्व में आने के पूर्व जो अभाव होता है वह किसी काल विशेष में प्रारंभ नहीं होता किन्तु अस्तित्त्व ग्रहण करने के बाद इस अभाव का अन्त हो जाता है।

प्रध्वंसाभाव - इसे 'ध्वंसाभाव' भी कहते हैं। वस्तु के नष्ट होने से वस्तु का जो अभाव होता है उसे 'ध्वंसाभाव' या प्रध्वंसाभाव' कहते हैं। जैसे नष्ट हो जाने के बाद घट का जो अभाव होता है उसे ध्वंसाभाव कहेंगे। ध्वंसाभाव उसी का हो सकता है जिसका पूर्व में भाव रहा हो। जो उत्पन्न ही नहीं हुआ वह नष्ट कैसे हो सकता है? अतएव ध्वंसाभाव पूर्व के किसी क्षण में वस्तु की उपस्थिति या भाव की घोषणा करता है। यह अभाव सादि है किन्तु अनन्त है अर्थात् यह बतलाया जा सकता है कि वस्तु किस काल में नष्ट हुई, किन्तु 'कब तक नष्ट रहेगी ?' या 'इस विनाश का अन्त कब होगा? - यह नहीं बतलाया जा सकता।

ध्वंसाभाव न्याय और वेदान्त मतानुसार सादि है किन्तु यह अनन्त है या नहीं, इस पर वेदान्तियों और नैय्यायिकों में मतभेद है। न्याय मतानुसार ध्वंसाभाव सादि और अनन्त है। क्योंकि यह बतलाया जा सकता है कि वस्तु किस काल में नष्ट हुई तथा जिसका अभाव एक बार हो गया वह पुनः भाव नहीं ग्रहण कर सकता अतएव यह अभाव अनन्त भी है।

किन्तु वेदान्ती ध्वंसाभाव को सादि तो बतलाते है किन्तु सदैव अनन्त नहीं क्योंकि किसी वस्तु का भाव और अभाव मात्र उसके अधिष्ठान के संदर्भ में होता है। यदि अधिष्ठान सान्त है तो अधिष्ठान के अन्त के साथ ही अभाव का भी अन्त होगा। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ विनाशवान हैं सान्त हैं, अतएव समस्त अभाव, जिनका अधिष्ठान ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ हैं, सान्त हैं।

यहा एक आपत्ति यह की जा सकती है कि अगर यह माना जाय कि जिस अभाव का अधिष्ठान ब्रह्म नहीं है उनके अतिरिक्त सभी अभाव सान्त हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह अभाव जिसका अधिष्ठान ब्रह्म है, अनन्त है। तब यहाँ यह तर्क दोष होगा कि ब्रह्म के अतिरिक्त एक और सत्ता अभाव' की भी प्रतिष्ठा होगी। वेदान्ती इसका उत्तर देते हुए कहते है कि वस्तुतः ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी सत्ता परमार्थ और अनन्त नहीं है, अतएव सभी अभाव सान्त ही हैं। इस प्रकार वेदान्त मतानुसार ध्वंसाभाव सादि और सान्त है।

नैय्यायिक यहाँ आक्षेप करते हुए कहते हैं कि अगर ध्वंसाभाव को सान्त माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि अभाव का अभाव भी होता है। किन्तु अभाव का अभाव तो भाव है। तो अर्थ यह समझना चाहिए कि भग्न घट पुनः भग्न कर दिए जाने पर पुनः अस्तित्त्ववान हो सकता है?

वेदान्ती इसका उत्तर देते हैं कि भग्न घट के अवशेषों को देखकर यह निर्णय दिया जा सकता है कि 'इन अवशेषों में घट का अभाव है।' अगर पुनः इन अवशेषों को और भग्न किया जाय (ध्वंसाभाव

का ध्वंसाभाव) तो भी यह निर्णय दिया जा सकता है कि 'इन अवशेषों में घट का अभाव है।' किन्तु नैय्यायिक यहाँ पुन: यह तर्क करते हैं कि घट के भग्नावशेषों को पुन: भग्न करने पर भी घट की प्राप्ति नहीं होगी। इसका अर्थ यह है कि ध्वंसाभाव अनन्त है।

यहाँ वेदान्त समर्थक प्रत्युत्तर में कहते हैं कि घट के भग्नावशेषों को पुन: भग्न करने पर घट की अप्राप्ति ध्वंसाभाव को अनन्त नहीं प्रमाणित करती है क्योंकि प्रथम बार जब घट भग्न हुआ तो वह अवशेष 'घट' के थे किन्तु दूसरी बार जब भग्न घट के अवशेष भग्न किए गए तो वह अवशेष 'भग्न घट' के थे। दूसरे शब्दों में, पहली बार 'घट' का ध्वंसाभावे हुआ (घट का भग्न होना) तथा दूसरी बार 'भग्न घट' का ध्वंसाभाव हुआ। इस प्रकार इन दोनों ही प्रक्रियाओं के क्रम में जो ध्वंसाभाव हुआ वह ध्वंसाभाव परिणाम के रूप में एक नहीं वरन् दो है तथा इनमें कोई एकत्व या तारत्म्य भी नहीं। अतएव इस आधार पर ध्वंसाभाव परिणाम के रूप में एक नहीं वरन् दी है तथा इनमें कोई एकत्व या तारतम्य नहीं, अतएव इस आधार पर ध्वंसाभाव को अनन्त नहीं स्वीकार किया जा सकता।

वेदान्त परिभाषा के लेखक ने यह दिखलाया है कि निषेध का निषेध सदैव भाव का ही द्योतक नहीं होता। वेदान्त परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु के ध्वंस से जो अभाव उत्पन्न होता है उस अभाव के ध्वंस से पुन: वह वस्तु पैदा नहीं होती, यथा घट के ध्वंस से जो घट के भग्नावशेष उत्पन्न हुए उन भग्नावशेषों को पुन: भग्न करने से घट की उत्पत्ति संभव नहीं। अत: वेदान्त परिभाषा के अनुसार यह मानने में दोष है कि 'अभाव का अभाव सदैव भाव होता है।

इसी प्रकार की एक अन्य समस्या अद्वैत वेदान्तियों के समक्ष 'ब्रह्म सत्यं जगन्नमिथ्या' के क्रम में आती है और उसका समाधान भी वेदान्ती इसी प्रकार करते हैं। वेदान्त के प्रतिपक्षी वेदान्तियों से यह प्रश्न करते हैं कि 'जगन्नमिथ्या निर्णय सत्य है या असत्य? अगर यह निर्णय सत्य है तो मानना पड़ेगा कि ब्रह्म के अतिरिक्त एक सत्य और है, किन्तु वेदान्ती इसे स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि उनके मत में एकमात्र सत्य ब्रह्म ही है। पुन: अगर वे 'जगतमिथ्या' को असत्य कहते हैं तो इसका अर्थ है कि जगत सत्य है। वह भी वेदान्त के मत का विरोधी होगा।

वेदान्ती इसका उत्तर यह कह कर देते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ परमार्थत: असत्य है, चाहे वह 'जगत' हो या 'जगन्नमिथ्या निर्णय। अगर 'जगन्नमिथ्या निर्णय की असत्यता से जगत की सत्यता तर्कत: प्रमाणित होती हो तब भी जगत और यह तर्क भी असत्य ही है। वेदान्त मतानुसार निषेध का निषेध सदैव भाव ही नहीं होता। जिस आधार पर 'क' का निषेध किया गया है उसी आधार पर पुन: 'क' के निषेध किया जाय तो 'यहाँ निषेध का निषेध' भाव का द्योतक नहीं होता। निषेध का निषेध भाव तब होता है जबकि दोनों बार निषेध के आधार भिन्न-भिन्न हों।

इसी भाँति, पाश्चात्य दर्शन के अध्येयताओं को भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'ईश्वर अ-काला नहीं है' का अर्थ यह नहीं है कि 'ईश्वर काला है।

अत्यंताभाव-जब किसी अधिष्ठान विशेष में किसी वस्तु या गुण का सदैव अभाव रहता है तो इसे अत्यंताभाव कहते हैं, जैसे वायु में रूप का अभाव।

न्याय मतानुसार अत्यंताभाव शाश्वत है, अर्थात् यह अनादि है, अनन्त है। किन्तु वेदान्त मतानुसार ब्रह्म के अतिरिक्त शाश्वत कुछ नहीं अतएव अत्यंताभाव भी शाश्वत नहीं है। वेदान्त मतानुसार अभाव सदैव अधिष्ठान के संदर्भ में ही ज्ञेय होता है। अगर अधिष्ठान ही शाश्वत नहीं तो अभाव कैसे शाश्वत

होगा? अतएव सभी अत्यंताभाव जिनका अधिष्ठान ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ हैं, नश्वर हैं।

अन्योन्याभाव - वह अभाव जिसके कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग पहचानी जाती है अन्योन्याभाव कहलाता है जैसे क 'ख' नहीं है। उन स्थितियों में जहाँ उसके अधिष्ठान सादि और शान्त हैं अन्योन्याभाव को सादि और सान्त कहा जा सकता है जैसे 'घट पट नहीं है' उस स्थिति में अन्योन्याभाव सादि है क्योंकि अन्योन्याभाव की उत्पत्ति घट की उत्पत्ति के साथ होती है तथा घट के नष्ट होने के साथ ही अन्योन्याभाव का अन्त भी हो जाता है। इस रूप में यह सान्त भी है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि जीव ब्रह्म नहीं है या ब्रह्म जीव नहीं है तो चूँकि यहाँ ब्रह्म या अधिष्ठान शाश्वत है अतः अन्योन्याभाव को भी अनन्त होना चाहिए। लेकिन चूंकि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी परमार्थ नहीं (ब्रह्म ही एकमात्र शाश्वत है) अतएव अन्योन्याभाव भी शाश्वत नहीं।

यहाँ ध्यातव्य है कि न्याय मत के अनुसार अभाव मूलतः दो हैं- अन्योन्याभाव एवं संसर्गाभाव। पुनः संसर्गाभाव तीन प्रकार के हैं- प्रागाभाव, ध्वंसाभाव तथा अत्यंताभाव। वेदान्त दर्शन और भाट्ट मीमांसा के अनुसार अनुपलब्धि की विषय-वस्तु इनमें से कोई भी अभाव हो सकता है।

7.9 अनुपलब्धि का स्वरूप

भाट्ट और वेदान्त मतानुसार अनुपलब्धि ज्ञान का एक स्वतंत्र साधन है। उनके अनुसार किसी भी प्रमाण की अनुपस्थिति स्वयं ही अभाव का एक प्रमाण या अनुपलब्धि है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कुमारिल भट्ट कहते हैं कि अगर कोई वस्तु अस्तित्ववान है तो उसके अस्तित्व का प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति-इन पाँचों में से किसा-न-किसी प्रमाण से मिल जाता है। अगर इन पाँच प्रमाणों से किसी वस्तु का भाव सिद्ध न हो तो स्वयं इसका अभाव सिद्ध हो जाता है। यही अनुपलब्धि है।

पार्थसारथी मिश्र अनुपलब्धि के संबंध में कहते हैं कि किसी भी वस्तु के दो पक्ष हैं-भाव और अभाव। अगर किसी वस्तु का किसी काल विशेष में किसी स्थान विशेष पर भाव है तो यह भाव प्रत्यक्षादि अन्य पाँच प्रमाणों द्वारा किसी-न-किसी प्रकार सिद्ध होता है, किन्तु अगर योग्य उपाधियों की उपस्थित में भी वस्तु का ज्ञान न हो रहा हो तो उसका अभाव स्वतः सिद्ध होता है। यही अनुपलब्धि है।

इस संदर्भ में नैयायिक एक महत्तवपूर्ण तर्क प्रस्तुत करते है। न्यायसूत्र के अनुसार 'विषय की अनुपलब्धि' मात्र 'विषय के ज्ञान अथवा बोध के अभाव' को बतलाती है। इससे कही भी 'विषय की वस्तुगत सत्ता का अभाव' सिद्ध नहीं होता। ('अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धे।'' - न्यायसूत्र 5/1/30 पर वात्स्यायन भाष्य) नैयायिकों के इस तर्क में दम दिखता है। बर्कले ने 'दृ'यते' के आधार पर 'वर्तते' को सिद्ध करने की चेष्टा की। बर्कले के इस तर्कदोष से दर्शनशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी परिचीत है। वस्तुतः 'वस्तु का होना अथवा न होना' (भावाभाव) का प्रश्न एक तत्त्वमीमांसीय प्रश्न है जबकि 'वस्तु के बोध अथवा बोध-रहितत्व' का प्रश्न ज्ञानमीमांसीय प्रश्न है। यह ठीक है कि तत्त्वमीमांसा की सिद्धि अधिकांशतः ज्ञानमीमांसा से ही होती है किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं कि 'जो बोधगम्य नहीं है उसका अस्तित्व नहीं है।' बोधगम्यता का अभाव हमें भले संशयवाद अथवा अज्ञेयवाद की ओर ले जाता है किन्तु 'बोधगम्यता के अभाव' का निरसन उच्छेवाद में कदापि संभव

नहीं। यही कारण है कि नैयायिक अनुपलब्धि को 'अभाव का प्रमाण' अथवा 'अभाव के ज्ञान का*उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि* साधन' नहीं मानते।

नोट

अस्तु! वेदान्त मतानुसार सभी प्रकार की अनुपलब्धि को ज्ञान का साधन या प्रमाण नहीं माना जा सकता। अगर कक्ष में पर्याप्त प्रकाश न होने के कारण ज्ञाता को भूमि पर रखे घट का प्रत्यक्ष न हो रहा हो तो इसे अनुपलब्धि नहीं कहेंगे। वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण या प्रमाणों की कुछ उपाधियाँ उपस्थित हों तथा वस्तु के भाव के पक्ष में कोई प्रमाण न मिले तभी वस्तु का अभाव माना जाना चाहिए और तभी उस प्रमाण को 'अनुपलब्धि' की संज्ञा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, जिस परिस्थिति में जिस वस्तु की उपलब्धि होनी चाहिए उन परिस्थितियों में अगर उस वस्तु की उपलब्धि न हो तभी इसे अनुपलब्धि की संज्ञा दी जा सकती है। अतएव 'योग्यानुपलब्धि' ही प्रमाण है।

वेदान्त परिभाषा में अनुपलब्धी के संबंध में तीन महतृत्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं- (क) अनुपलब्धि की विषय-वस्तु अभाव है, (ख) अनुपलब्धि साक्षात ज्ञान है, उसमें स्मृति का अंश नहीं होता, तथा (ग) अनुपलब्धि ज्ञान का स्वतंत्र साधन है।

अज्ञान का ज्ञान

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? अज्ञान चूंकि ज्ञान का अभाव है अतएव इसका ज्ञान भी अनुपलब्धि के द्वारा ही होना चाहिए।

किन्तु विवरणप्रमेयसंग्रह इस प्रश्न का उत्तर अन्य प्रकार से देता है। विवरणप्रमेय-संग्रह के अनुसार अज्ञान दो प्रकार का होता है- (क) किसी विशेष वस्तु के ज्ञान का अभाव (ज्ञान-विशेषाभाव), तथा (ख) ज्ञान का सामान्य अभाव (ज्ञानमात्राभाव)। इनमें से ज्ञान-विशेषाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है तथा ज्ञानामात्राभाव का ज्ञान साक्षी भाव से होता है। शब्दान्तर से ज्ञान के सामान्य अभाव का बोध ज्ञाता को अन्तःकरण के साक्षी भाव से होता है।

वेदान्त मतानुसार आत्मा अपने चरम और पारमार्थिक रूप में असीम तथा अनन्त है। पारमार्थिक रूप में सत्ता एक ही है जिसे अद्वैत वेदान्ती 'अद्वैत' की संज्ञा देते हैं। किन्तु अपने सामान्य जीवन में हम आत्मा को सीमाबद्ध पाते हैं। अज्ञान के बंधन के कारण दैनिक जीवन में 'इदम्' और 'अहम्' का भेद दिखता है जबकि परमार्थतः इनमें कोई भेद नहीं। इस अज्ञान के कारण ही अन्तःकरण 'अहम्' का रूप लेता है। ज्ञान-मात्राभाव में यह 'अहम्' ज्ञाता रूप में प्रतिष्ठित होता है। यह 'अहम्' भाव ही 'इदम्' का सृजन करता है अर्थात 'अहम्' दूसरी वस्तुओं से अपने आप को पृथक कर लेता है तथा पुनः इन्हें ज्ञेय समझकर इन्हें जानने की ओर प्रवृत्त होता है। इसी अर्थ में वेदान्ती कहते हैं कि अज्ञान में ज्ञान के बीज विद्यमान होते हैं। यह 'अहम् भाव' ही ज्ञान-मात्राभाव है तथा अन्तःकरण साक्षी रूप से इसे जानता है।

प्रभा के स्वतंत्र साधन के रूप में अनुपलब्धि

अनुपलब्धि विषयक तीन प्रकार के मत भारतीय ज्ञानमीमांसा में पाए जाते हैं। प्रथम श्रेणी में वे ज्ञानमीमांसक हैं जिनके अनुसार अनुपलब्धि स्वतंत्र प्रमाण है। इस कोटि में भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती आते हैं। द्वितीय श्रेणी में वे दार्शनिक हैं जो अभाव के ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकृत करते हैं। वे अनुपलब्धि को ज्ञान का स्वतंत्र साधन स्वीकृत नहीं करते। इस मत के समर्थकों के रूप में मुख्यतः नैय्यायिक तथा प्रभाकर मीमांसकों का उल्लेख किया जा सकता

है। तृतीय श्रेणी में वे ज्ञानमीमांसक हैं जो अभाव का ज्ञान अनुमानजन्य मानते हैं तथा अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानने से इनकार करते है। वैशेषिक तथा बौद्ध इस कोटि के प्रमुख ज्ञानमीमांसकों में से हैं। अपने-अपने मतों के समर्थन में इन समस्त दार्शनिकों के अपने-अपने तर्क हैं। इस संदर्भ में यह प्रश्न समीचीन है कि क्या 'अभाव' विषय के प्रमाण रूप में अनुपलब्धि प्रमा का स्वतंत्र साधन है? अथवा क्या 'अभाव' विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से होता है ? शब्दान्तर से क्या अनुपलब्धि एक विशेष प्रकार का प्रत्यक्ष है? अथवा क्या यह अनुमान है ?

क्या अनुपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं है?: नैयायिकों ने अनुपलब्धि को 'अनावश्यक' कहा है। उनके अनुसार अनुपलब्धि को मात्र 'अभाव' का प्रमाण माना जाता है। किन्तु वे मानते हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार अनुपलब्धि प्रत्यक्ष से भिन्न है। इस मत के अनुसार अभाव कोई वस्तु नहीं है, अतः इसका इन्द्रिय के साथ सम्पर्क संभव नहीं, फलतः इसका प्रत्यक्ष नही हो सकता है।

इसके उत्तर में नैयायिक कहते हैं कि अभाव एक प्रकार का पदार्थ हैं और अभाव के ज्ञान के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष एक विशेष प्रकार से होता है जिसे वे 'विशेषणता' कहते हैं। न्याय मत के अनुसार विशेष्य-विशेषण रूप में अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। इसे स्पष्ट करते हुए नैयायिक कहते हैं कि अभाव का ज्ञान अधिष्ठान के विशेषण के रूप में होता है। जैसे इस स्थल पर घट का अभाव है।' यहाँ इन्द्रिय से इस स्थल का सम्पर्क होता है और 'घट के अभाव' का ज्ञान उसके विशेषण के रूप में होता है। न्याय के इस तर्क के उत्तर में प्रतिपक्षी कहते हैं कि सम्पर्क इन्द्रिय से विशेष्य का यथा 'इस स्थल का होता है। अतः प्रत्यक्ष से जो ज्ञात होता है वह ज्ञान विशेष्य का है. विशेषण का नहीं, क्योंकि यहाँ इन्द्रियों से विशेषण का सम्पर्क नहीं होता। अतः विशेषण अर्थात् अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है।

भाट्ट मीमांसक अभाव को 'अधिष्ठानातिरिक्तम् तत्त्व' कहते हैं। इस मत के अनुसार अधिष्ठान का ज्ञान तो हमें प्रत्यक्ष से होता है किन्तु 'अतिरिक्त तत्त्व' का ज्ञान अनुपलब्धि से ही होता है। अतः अनपलब्धि को प्रत्यक्ष कहना उचित नहीं है।

क्या अनुपलब्धि अनुमान है ?: वैशेषिकों में प्रशस्तपाद ने सातवे पदार्थ के रूप में अभाव की चर्चा की है। परन्तु उनके अनुसार अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने भी 'अभाव' के ज्ञान का साधन अनुमान' को ही बतलाया है। धर्मकीर्ति के अनुसार अभाव ज्ञान का निम्नलिखित अनुमान से होता है- जहाँ जो वस्तु होती है, उचित परिस्थितियों में उसका प्रत्यक्ष होता है।

7.10 सारांश

भारतीय दर्शन में ज्ञान के जो छः साधन सर्वाधिक खंडन-मंडन युक्त है उनमें से एक उपमान भी है। व्युत्पत्ति के आधार पर उपमा अथवा 'सादृश्य' के द्वारा प्राप्त ज्ञान को उपमान कहा जाता है। दो वस्तुओं में जब सादृश्य का संबंध हो तो उस सादृश्य बोध से भी कुछ ज्ञान प्राप्त किए जाते हैं। उसी सादृश्य-बोध से प्राप्त एक विशेष प्रकार के ज्ञान को 'उपमान' कहते हैं। यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि सादृश्य के आधार पर प्राप्त ज्ञान अनेक प्रकार के होते हैं। सादृश्य का बोध बहुधा प्रत्यक्ष के द्वारा भी होता है, जैसे कोई व्यक्ति 'क' देवदत्त नामक किसी व्यक्ति को जानता

है, तथा देवदत्त को देखकर उसके विषय में भी जानता है कि वह गोरे रंग का, लम्बा, पच्चीस वर्ष का युवक है, उसकी कृति ऐसी-ऐसी है आदि। पुनः वही व्यवित 'क' जब किसी अन्य स्थान पर देवदत्त को देखता है और पहचान लेता है कि यह वहीं देवदत्त है तो 'क' का यह ज्ञान कि 'यह वही देवदत्त है प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है, यद्यपि यह भी एक प्रकार का सादृश्य बोध ही है। अतएव, सादृश्य-बोध उपमान के अतिरिक्त अन्य साधनों, यथा प्रत्यक्षादि से भी होता है। दूसरे शब्दों में, सादृश्य के आधार पर प्राप्त प्रत्येक ज्ञान को उपमान नहीं कहते हैं। उपमान एक विशेष प्रकार का सादृश्य-बोध है, जैसे मान लें कि किसी व्यक्ति 'क' ने 'गवय' कभी नहीं देखी किन्तु दूसरे लोगों से उसने सुन रखा है कि 'गवय' गौ के समान होती है। अब, यदि 'क' जंगल में जाता है और वहाँ उसे गौ के समान कोई प्राणी दिखता है तब इस गौ के समान प्राणी को देखकर पहले से कभी नहीं देखे गये गवय को यदि वह पूर्वकाल में देखी गई गौ से समानता के आधार पर पहचान लेता है अथवा उसे यदि यह बोध होता है कि मेरी गौ इस गवय के समान है तो इस प्रकार का सादृश्य-बोध उपमान की कोटि में आता है। इस प्रकार 'उपमान' सादृश्य के ज्ञान का एक साधन है, यद्यपि सादृश्य-बोध उपमान के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी संभव है। अर्थापत्ति के समस्त समर्थक-प्राभाकर, भाट्ट तथा वेदान्ती - इस रूप में अर्थापत्ति को 'कल्पना के आधार पर विषय की व्याख्या करने वाले प्रमाण' के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। तथापि, अर्थापत्ति के स्वरूप के विस्तृत विवेचन के क्रम में तीनों मतावलम्बियों में तनिक मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। इस मतभेद को समझने के लिए इन तीनों मतों की पृथक-पृथक और तुलनात्मक विवेचना अपेक्षित है जो आगे प्रस्तुत की जा रही है। वेदान्त मतानुसार अभाव के ज्ञान के कई साधन हो सकते हैं, जैसे 'इस समय देवदत्त वन में है' इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'इस समय देवदत्त घर में नहीं है। इस प्रकार कभी-कभी एक वस्तु को अन्यत्र उपस्थित जानकर किसी अन्य स्थान विशेष में इसके अभाव का ज्ञान होता है। अभाव का यह ज्ञान अनुमानजन्य है। दूसरी ओर कुछ स्थितियों में अभाव का ज्ञान शब्दों के माध्यम से भी होता है, यथा मेरे इस कथन से कि 'इस समय मेरे सिर में दर्द नहीं है आपको मेरे सिर में दर्द के अभाव का ज्ञान होता है। यह ज्ञान मेरे लिए भले अनुभूतिजन्य हो, आपके लिए शब्दजन्य ही है। इनके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में एक भिन्न प्रकार से भी अभाव का ज्ञान होता है, यथा इस समय इस कमरे में वक्ष की अनुपस्थिति (अभाव) का ज्ञान। वेदान्त मतानुसार यह ज्ञान न तो प्रत्यक्षजन्य है, न अनुमान अथवा शब्दजन्य। इसे ही वेदान्ती 'अनुपलब्धि' प्रमाण कहते हैं।

नोट

वेदान्त मतानुसार अनुपलब्धि अभाव का साक्षात ज्ञान है। उदाहरणार्थ 'यहाँ वृक्ष नहीं है', यहाँ वृक्ष के अभाव का ज्ञान एक साक्षात ज्ञान है।

तथापि अनुपलब्धि 'प्रत्यक्ष ज्ञान' से भिन्न है। वेदान्त मतानुसार घट के अभाव का ज्ञान घट के अदर्शन (अन् + उपलब्धि) के कारण होता है। अतः घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। वेदान्त परिभाषा में अनुपलब्धि की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ज्ञानरूप करण से उत्पन्न न होने वाले अभाव के अनुभव का जो असाधारण करण हो वही अनुपलब्धि कहलाता है। इसी अर्थ में वेदान्ती अनुपलब्धि को प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भिन्न मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण या प्रमा किसी-न-किसी विषय-रूप-करण से (यथा घटादि से) उत्पन्न होते हैं जबकि अनुपलब्धि का करण असाधारण (यथा 'घट का अभाव') होता है।

7.11 अभ्यास प्रश्न

नोट

1. उपमान का स्वरूप क्या है?
2. उपमान के प्रकार क्या होते हैं?
3. अर्थापत्ति के प्रकार की चर्चा करें।
4. अनुपलब्धि का स्वरूप क्या है?
5. अभाव के प्रकार पर चर्चा करें।
6. अर्थापत्ति क्या होती है?

7.12 संदर्भ ग्रंथ

- ज्ञान का सिद्धांत, सतीशचंद्र चटर्जी, कलकत्ता, 1965
- ज्ञान के छह तरीके, डी. एम. दत्ता, कलकत्ता, 1960
- भारतीय ज्ञानमीमांसा, नीलिमा सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
- ज्ञान की अवधारणा, देवव्रत सेन, कलकत्ता